परम पूज्य तपश्चर्या–चक्रवर्ती पट्टाधीशाचार्यश्री

सुविधिसागर जी महाराज

के

50 वें जन्मदिवस के पावन अवसर पर

सुविधि–परिवार के द्वारा आयोजित

जिनवाणी-महोत्सव

सहस्रग्रन्थसंग्रह

❊ जन्मदिवस 19–03–1971 ❊ मुनिदीक्षा–11–05–1989 ❊ आचार्यपद– 20–06–2004

पट्टाधीशपद– 24–12–2010 (20–06–2004 को की गई उद्घोषणा के अनुसार)

परम पूज्य आचार्यश्री सन्मतिसागर जी महाराज के द्वारा की गई उद्घोषणाः–

हमारी समाधि के पश्चात् आपको इस संघ के संचालकपद पर नियुक्त करते हैं।

(अंकलीकर वाणी–जुलाई 2004) (अक्षयज्योति–अक्तूबर 2004)

लेश्या और मनोविज्ञान

लेखक
मुमुक्षु डॉक्टर शान्ता जैन

प्रकाशक
जैन विश्वभारती
लाडनूं (राजस्थान)

(परम्परानायक)

परम पूज्य चारित्र-चक्रवर्ती,
आचार्यश्री आदिसागर जी महाराज
(अंकलीकर)

(द्वितीय पट्टाधीश)

परम पूज्य तीर्थभक्त-शिरोमणि,
आचार्यश्री महावीरकीर्ति जी महाराज

(तृतीय पट्टाधीश)

परम पूज्य सिद्धान्त-चक्रवर्ती,
आचार्यश्री सन्मतिसागर जी महाराज

(चतुर्थ पट्टाधीश)

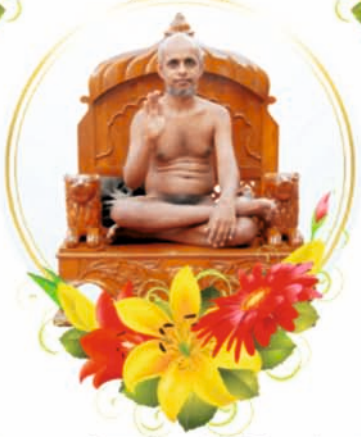

परम पूज्य तपश्चर्या-चक्रवर्ती, आचार्यश्री सुविधिसागर जी महाराज

दिगम्बर साधु निरन्तर पगविहार करते रहते हैं। ग्रन्थभण्डार को साथ में रख कर विहार करना अशक्यप्रायः होता है। फलतः उनको ग्रन्थों के सन्दर्भ देखने में असुविधा होती है। उनकी सुविधा के लिये इस कोश का निर्माण किया गया है। इस कोश के निर्माण में किसी भी प्रकार का व्यापारिक हेतु नहीं है।

आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न श्रावकबन्धुओं से निवेदन है कि वे ग्रन्थ का विक्रय कर अध्ययन करने की परम्परा को कायम रखें।

मुखपृष्ठ पर हमने ग्रन्थकर्त्ता, अनुवादक, सम्पादक, प्रकाशक आदि के नाम दिये हैं। किसी संस्थान का कर्तृत्व हमने लुप्त नहीं किया है।

इस कोश के लिये आवश्यक ग्रन्थ हमें अनेक स्रोतों से प्राप्त हुये हैं। हम उन सभी का आभार मानते हैं।

सुविधि-परिवार

लेश्या और मनोविज्ञान

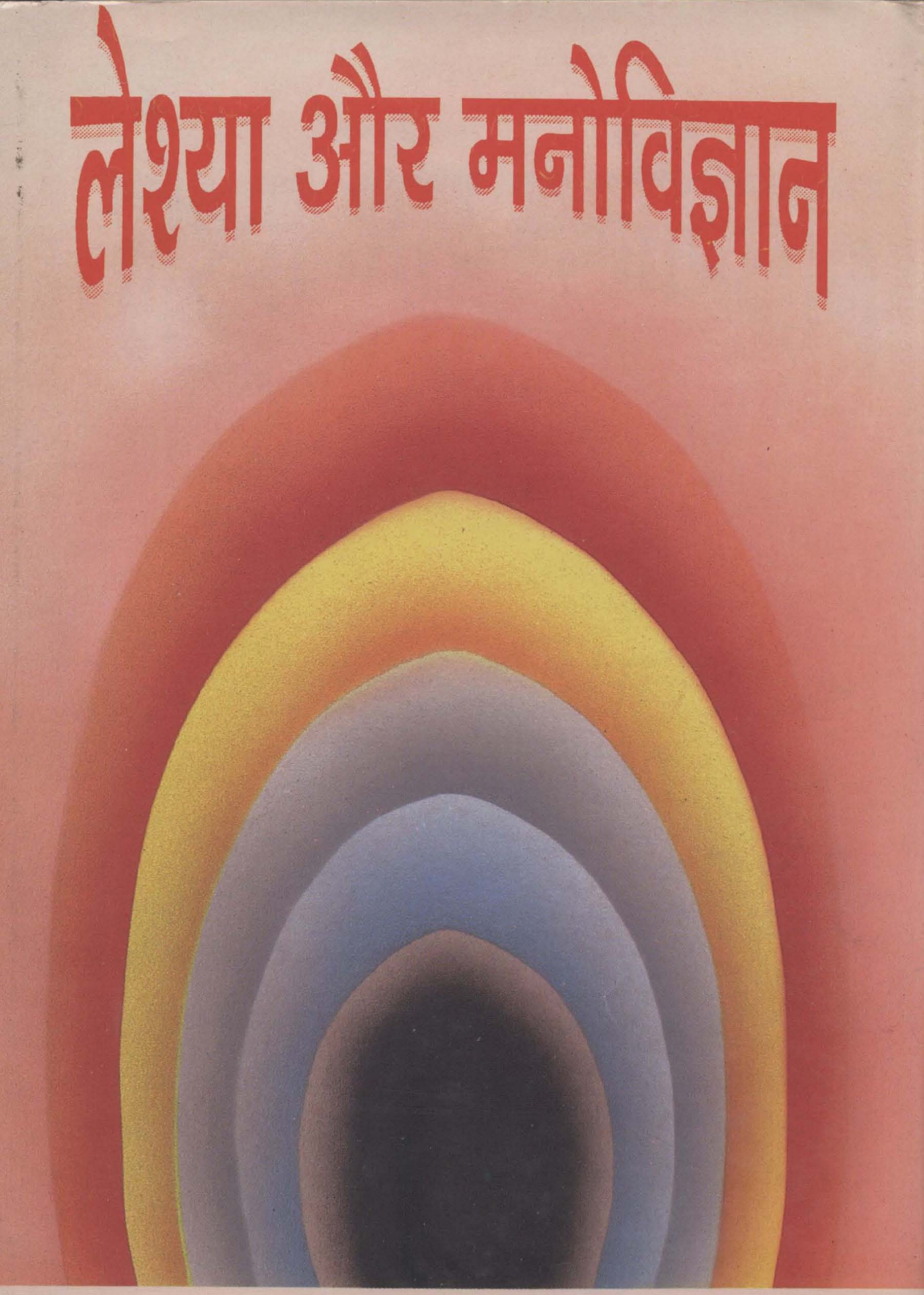

मुमुक्षु डॉ. शान्ता जैन

''छह मित्रों ने फलों से लदे वृक्ष को देखा और सभी ने फल खाने की इच्छा व्यक्त की। वे वृक्ष के पास पहुंचे और सोचने लगे कि फल कैसे खाएं ? सभी ने अपने विचार प्रस्तुत किए।

प्रथम ने कहा – हमें जड़ सहित सम्पूर्ण वृक्ष काट देना चाहिए। दूसरे ने कहा – नहीं, वृक्ष की टहनियां काटनी चाहिए। तीसरे ने कहा – नहीं, वृक्ष की शाखा-प्रशाखाएं काटनी चाहिए। चौथे ने कहा – नहीं, फलों से लदी शाखाएं काटनी चाहिए। पांचवें ने कहा – नहीं, सिर्फ पके हुए फलों को ही तोड़ना चाहिए। छट्ठे ने अन्तिम समाधान दिया – क्या जरूरत है कि हम वृक्ष को किसी प्रकार का नुकसान पहुंचाएं। खाने के लिए पर्याप्त फल जमीन पर बिखरे पड़े हैं, इन्हें खाना ही उचित रहेगा।''

चिन्तन यात्रा के ये छह पड़ाव लेश्या की मनोवैज्ञानिक व्याख्या करते हैं। आगम प्रथम व्यक्ति को कृष्णलेशी मानता है, क्योंकि उसमें क्रूरता, हिंसा व स्वार्थ के साथ विनाश की भावना निहित है। ऐसा व्यक्ति औरों के अस्तित्व को मिटा कर चलता है। दूसरा, तीसरा, चौथा, पांचवां और छट्ठा व्यक्ति क्रमशः नीललेशी, कापोतलेशी, तेजोलेशी, पद्मलेशी व शुक्ललेशी है। इनमें क्रमशः वृक्ष के अस्तित्व को मिटाने की भावना का अन्त और सहज-सुलभ सामग्री का सन्तोषजनक उपयोग प्रकट होता है। लेश्या के भावों को अभिव्यक्ति देने वाला यह दृष्टान्त मनुष्य को मन, भाषा और कर्म को विधायक बनाने की प्रेरणा देता है।

लेश्या और मनोविज्ञान

मुमुक्षु डॉ. शान्ता जैन

प्रकाशक :

जैन विश्व भारती

लाडनूं (राजस्थान) 341 306

भाव परिवर्तन

प्रकाशक :
जैन विश्व भारती
लाडनूं (राजस्थान) 341 306

प्रथम संस्करण : जनवरी, 1996

मूल्य : रु. 150.00

आर्थिक सौजन्य :
भंवरलाल डागा, गंगाशहर
मूलचन्द डागा, कलकत्ता

मुद्रक :
जयपुर प्रिन्टर्स प्रा. लि.
एम. आई. रोड, जयपुर

आशीर्वचन

व्यक्तित्व की व्याख्या का महत्वपूर्ण सूत्र है लेश्या, भावधारा, आभामण्डल। जो बाहर से दीख रहा है, उसकी भीतर के साथ संवादिता है अथवा नहीं, उसकी कसौटी है लेश्या। प्रेक्षाध्यान की पद्धति में लेश्या का प्रायोगिक रूप लेश्या-ध्यान के रूप में उपलब्ध है। यह ध्यान मानसिक और भावात्मक समस्या सुलझाने के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण है, शारीरिक समस्या को सुलझाने के लिए भी कम मूल्यवान नहीं है। लेश्या के बिना मनोविज्ञान का और मनोविज्ञान के बिना लेश्या का अध्ययन परिपूर्ण नहीं होता। इन दोनों का समन्वित अध्ययन कर डॉ. शान्ता जैन ने शोधपूर्ण महाप्रबंध लिखकर अनुसंधित्सु वर्ग के सम्मुख एक नया विषय प्रस्तुत किया है।

आचार्य महाप्रज्ञ

प्रकाशकीय

जैन विश्व भारती, जैन विद्या के विकास एवं मानवीय मूल्यों के अभ्युत्थान को समर्पित संस्थान है। व्यक्ति के रूपान्तरण और स्वस्थ मानव समाज के निर्माण हेतु श्रद्धेय गुरुदेव श्री तुलसी और आचार्यश्री महाप्रज्ञ के दूरदर्शी चिन्तन और युगानुकूल मार्गदर्शन में शिक्षण-प्रशिक्षण का सतत सिलसिला उत्तरोत्तर वर्द्धमान है।

शिक्षा एवं शोध के क्षेत्र में जैन विश्व भारती का एक लम्बा योगदान है। अनेक विद्वानों ने यहां प्रकृष्ठ शोध कार्य किया है और कर रहे हैं। इस दृष्टि से संस्थान का गौरवशाली इतिहास है, जिसमें प्रस्तुत प्रकाशन से एक और अध्याय जुड़ रहा है।

मुमुक्षु डॉ. शान्ता ने लेश्या और मनोविज्ञान जैसे गूढ़, गहन और गम्भीर विषय पर शोध की है। यद्यपि मनोविज्ञान का मनोविज्ञान भी बड़े-बड़े वैज्ञानिकों की पकड़ में नहीं आ रहा है, फिर दर्शन के साथ जुड़े लेश्या के मनोविज्ञान की सूक्ष्मता पर शोध करना निस्संदेह कठिन कार्य है। डॉ. शान्ता लम्बे समय से अध्ययन और शोध कर रही हैं। अपनी लग्न और साधना से इस क्षेत्र में कड़ी जमीन तोड़कर उन्होंने प्रवेश किया है। सम्पूर्ण जैन दर्शन, रंग विज्ञान, कर्मवाद और विभिन्न साधना पद्धतियों के अध्ययन के बिना यह कार्य संभव नहीं था। श्रद्धेय आचार्य महाप्रज्ञ की दर्शन-दृष्टि मुख्य रूप से उनके लिए शोध का आधार बनी। प्रेरणा से अधिक श्रम भी ऐसे कार्य में अपेक्षित होता है जो इस ग्रंथ के हर पृष्ठ पर परिलक्षित है।

कहते हैं, जब बच्चा पैदा होता है तभी 'मां' का भी जन्म होता है। ठीक इसी प्रकार जब 'रचना' का निर्माण होता है तभी रचनाकार (लेखक/लेखिका) भी पैदा होते हैं। डॉ. शान्ता, किन्तु बचपन से ही लेखनपटु है और वे सम्प्रति सुप्रसिद्ध मासिक पत्र ''जैन भारती'' की सम्पादिका हैं। इसीलिए उन्होंने इस दुरूह विषय को भी रोचक और सहज बनाकर प्रस्तुत किया है।

जैन विश्व भारती की प्रथम शोध छात्रा मुमुक्षु डॉ. शान्ता जैन की इस महत्वपूर्ण कृति को प्रकाशित करके हमें संतोष मिला है। विश्वास है कि व्यक्तित्व निर्माण के क्षेत्र में यह ग्रन्थ उपयोगी सिद्ध होगा।

धरमचन्द चोपड़ा
अध्यक्ष
जैन विश्व भारती

आभार प्रस्तुति

जीवन का महत्त्वपूर्ण उद्देश्य है – स्वस्थ, सन्तुलित और गतिशील जीवनशैली। इसके लिए जरूरी है व्यक्तित्व निर्माण की प्रक्रिया में निमित्त और उपादान कारकों के प्रति सावधानी। बीसवीं सदी की तनावभरी भीड़ में मनुष्य के पास यदि हृदय की संवेदना, मस्तिष्क का विवेक-बोध और सन्तुलित कर्मजा शक्ति नहीं है तो वह प्रतिकूल परिस्थितियों के बीच सन्तुलन नहीं रख सकता और न सही समय पर सही समाधान खोज सकता है।

जैन दर्शन व्यक्तित्व की प्रतिक्षण बदलती पर्यायों/भावधाराओं का प्रेरक तत्त्व लेश्या को मानता है। लेश्या हमारे जीवन के बाहरी और भीतरी दोनों पक्षों से जुड़ी है। इसी के आधार पर विधेयात्मक और निषेधात्मक व्यक्तित्व की संरचना होती है। यद्यपि आगमिक आधार पर लेश्या-सम्प्रत्यय का ज्ञान दुरूहता लिए है किन्तु जब मनोवैज्ञानिक व्याख्या इसकी सैद्धान्तिक भूमिका पर की जाती है तब लगता है कि लेश्या व्यक्तित्व-निर्माण का मुख्य उत्तरदायी घटक भी है। इसका प्रायोगिक रूप मनोविज्ञान, शरीर-विज्ञान, रसायन-विज्ञान तथा अध्यात्म-विज्ञान से सीधा जुड़ा है। लेश्या के द्वारा जीवन की दिशा को नया मोड़ दिया जा सकता है।

लेश्या को शोध का विषय बनाना मेरे लिए मात्र एक संयोग था। कई वर्ष पहले की घटना है। होली का त्योहार था। जैन विश्व भारती के ध्यानकक्ष में ध्यान-संगोष्ठी का आयोजन हुआ। अनेक भाई-बहिनों ने होली खेली। पर, उनका होली खेलने का तरीका विचित्र था। किसी के पास भौतिक रंग नहीं थे, मानसिक रंगों की संकल्पात्मक अवधारणा मात्र थी। कोई साथी साथ में नहीं था, स्वयं को स्वयं के साथ होली खेलनी थी। संगोष्ठी के निर्देशक थे – आचार्य श्री महाप्रज्ञ। आचार्य प्रवर ने सर्वप्रथम चैतन्य केन्द्रों की प्रेक्षा करायी। साथ ही प्रत्येक केन्द्र की विशेषता एवं प्रभावकता पर प्रकाश डाला।

मन में जिज्ञासा उभरी – क्या रंगों का मन पर गहरा प्रभाव पड़ता है ? क्या रंग-ध्यान के द्वारा हम भाव, विचार और कर्म को बदलाव दे सकते हैं ? कौन-से हो सकते हैं निमित्त और उपादान कारण इस निर्माण की प्रक्रिया में ? इन्हीं जिज्ञासाओं के समाधान हेतु 'लेश्या का मनोवैज्ञानिक अध्ययन' करने का भाव जागा और सौभाग्य से राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर ने मुझे इस विषय पर शोधकार्य की स्वीकृति दी।

काम छोटा हो या बड़ा, अपनी पूर्णता में समय, शक्ति तथा श्रम का सातत्य मांगता है। मुझे प्रसन्नता है कि मेरा लघु प्रयास जब पुरुषार्थ के साथ चला तो सफल परिणाम तक पहुंच गया। यद्यपि प्रस्तुत कार्य में विषय की स्पष्टता एवं विश्लेषणात्मक अध्ययन के लिए

आधुनिक मनोविज्ञान, रंग-मनोविज्ञान, आभामण्डल तथा व्यक्तित्व सबधी नवीनतम संदर्भों को एकत्र करने में अनेक कठिनाइयां आईं, फिर भी मेरी यह ज्ञानार्जन-यात्रा अनेक स्नेही-सहयोगी जनों के आशीर्वाद, अनुग्रह, प्रेरणा और प्रोत्साहन का सम्बल पाकर सुगम बन गयी। मैं सबके प्रति हार्दिक आभार ज्ञापित करती हूँ।

मैं श्रद्धाप्रणत हूँ कल्याणी आगम वाणी के प्रति, जहां से मुझे निरन्तर ज्ञान का प्रकाश मिलता रहा। नतमस्तक हूँ उन सभी पूज्य आचार्यों, उपाध्यायों और मुनियों के प्रति जिनके ग्रंथ, टीका, भाष्य, चूर्णि आदि ने विषय के प्रतिपादन में पाथेय का काम किया। कृतज्ञता ज्ञापित करती हूँ उन विद्वानों और विचारकों के प्रति जिन्होंने शोधकार्य के लिए संदर्भ तथा सामग्री के संकलन में उल्लेखनीय योगदान दिया।

अविस्मरणीय है मेरे लिए श्रद्धेय गुरुदेव श्री तुलसी का आशीर्वाद तथा आचार्य श्री महाप्रज्ञ की अपरिमेय ज्ञान-सम्पदा का आलोक जिसने मुझे गतिशील बनाया ही नहीं, अपितु विषयवस्तु के प्रतिपादन का अवबोध भी दिया। साध्वीप्रमुखा श्री कनकप्रभाजी की सतत प्रेरणा और प्रोत्साहन मेरे साथ रहे। मुनि श्री दुलहराजजी, मुनि श्री महेन्द्रकुमारजी, साध्वी श्री राजीमतीजी एवं साध्वी श्री निर्वाणश्री का कुशल निर्देशन मेरे कार्य सम्पादन में निरन्तर सक्रियता लाता रहा।

ग्रन्थ की पूर्णता में अहम भूमिका रही शोध निदेशक आदरणीय डॉ. नथमलजी टाटिया की जो अन्तर्राष्ट्रीय ख्यातिप्राप्त जैन व बौद्ध दर्शन के प्रकाण्ड विद्वान् हैं। उनके कुशल मार्गदर्शन में ही यह दुरूह कार्य संभव हुआ।

प्रस्तुत शोध कार्य में डॉ. सागरमल जैन, निदेशक – पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी के समय-समय पर अमूल्य सुझाव मिलते रहे हैं, मैं उनके प्रति भी आभार ज्ञापन करती हूँ। सुश्री वीणा जैन तथा सुश्री सुधा सोनी द्वारा दिया गया आत्मीय सहयोग हमेशा अविस्मरणीय रहेगा। एल. डी. इंस्टीट्यूट – अहमदाबाद, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान – वाराणसी तथा वर्धमान ग्रंथागार, जैन विश्व भारती – लाडनूं ने मुझे पुस्तक संग्रहण में उदारता के साथ उल्लेखनीय सहयोग दिया।

अपने लक्ष्य तक पहुंचने में जैन विश्व भारती, लाडनूं तथा जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा के पदाधिकारी महानुभावों का अनुग्रह भरा वात्सल्य भी मुझे सदा प्रेरित करता रहा है। उन सभी के प्रति मैं हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करती हूँ।

मैं ज्ञात-अज्ञात उन सभी के प्रति प्रणत हूँ, जिनका योगदान मेरी ज्ञान यात्रा का पड़ाव बना है।

सादर प्रणाम !

मुमुक्षु डॉ. शान्ता जैन

विषय-सूची

प्राथमिकी 1 – 18

प्रथम अध्याय : **लेश्या का सैद्धान्तिक पक्ष** 19 – 52

* जैन-दर्शन का द्वैतवाद और लेश्या का प्रत्यय
* लेश्या : परिभाषा के आलोक में
* लेश्या और योग के सन्दर्भ में विमर्श
* लेश्या विवेचन के विविध कोण
* द्रव्यलेश्या और भावलेश्या
* लेश्या और गुणस्थान
* लेश्या और भाव
* गति और लेश्या
* लेश्या की शुभ-अशुभ अवधारणा

द्वितीय अध्याय : **मनोवैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य में लेश्या** 53 – 80

* चेतना के विविध स्तर
* मूलप्रवृत्तियां और संज्ञाएं
* मनोवृत्तियों की प्रशस्तता/अप्रशस्तता
* कषाय (संवेग) की विविध परिणतियां
* लेश्या : स्थूल और सूक्ष्म चेतना का सम्पर्क-सूत्र
* अचेतन मन के स्तर पर कर्मबन्ध
* बिना भाव बदले मन नहीं बदलता
* अध्यवसाय, लेश्या और परिणाम

तृतीय अध्याय : **रंगों की मनोवैज्ञानिक प्रस्तुति** 81 – 110

* रंग का भौतिक पक्ष
* मानसिक भूमिका पर रंग-प्रभाव
* रंग के विविध आयाम
* रंग की गुणात्मकता और प्रभावकता
* विविध उपमाओं के साथ लेश्या-रंग
* लेश्या : समय, लम्बाई एवं वजन
* लेश्या और ऐन्द्रियक विषय
* रंगों का प्रतीकवाद
* रंग चिकित्सा

चतुर्थ अध्याय : **लेश्या और आभामण्डल** 111 – 124

* तैजस शरीर, तैजस समुद्घात और तेजोलब्धि
* सूक्ष्म चेतना के स्तर
* रंगों की अनेक छवियां
* भावों के साथ जुड़ा आभामण्डल

* वर्ण : व्यक्तित्व की गुणात्मक पहचान
* क्या आभामण्डल दृश्य है ?

पंचम अध्याय : **व्यक्तित्व और लेश्या** 125 – 144
* व्यक्तित्व की परिभाषा
* व्यक्तित्व निर्माण के घटक : निमित्त और उपादान
  ° वंशानुक्रम
  ° वातावरण/परिवेश
  ° शरीर रचना – संहनन, संस्थान
  ° नाड़ी ग्रन्थि संस्थान
  ° शरीर रसायन
* व्यक्तित्व प्रकार

षष्ठम अध्याय : **संभव है व्यक्तित्व बदलाव** 145 – 161
* उत्तरदायी कौन ?
* परिपक्व व्यक्तित्व
* लेश्याविशुद्धि : व्यक्तित्व बदलाव
* मूर्च्छा का आवर्त्त टूटे
* आत्मना युद्धस्व
* त्रिसूत्री अभ्यास
* धर्मध्यान में प्रवेश
* दमन नहीं : शोधन

सप्तम अध्याय : **जैन साधना पद्धति में ध्यान** 163 – 194
* ध्यान क्या ?
* ध्यान के भेद-प्रभेद
* ध्यान की पूर्व तैयारी
* प्रेक्षाध्यान : देखने और जानने की प्रक्रिया
  कायोत्सर्ग , अन्तर्यात्रा, श्वासप्रेक्षा
  शरीर प्रेक्षा, चैतन्यकेन्द्र प्रेक्षा, अनुप्रेक्षा

अष्टम अध्याय : **रंगध्यान और लेश्या** 195 – 207
* आवरणशुद्धि और करणशुद्धि
* बुराइयां कहाँ पैदा होती हैं ?
* मस्तिष्क के श्रेष्ठ रंग
* रंगध्यान का मुख्य उद्देश्य
* निषेधात्मक भावों का निषेधक : रंगध्यान
* शुभलेश्या का ध्यान

उपसंहार 209 – 221

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची 223 – 228

प्राथमिकी

हर युग अपने समय की चिन्तनधारा से जुड़ा रहता है। वह उस समय के साहित्य, दर्शन, धर्म, कला और संस्कृति के ह्रास-विकास का प्रतिनिधित्व करता है। महावीर का युग दार्शनिक चिन्तन का युग था। धर्म-दर्शन पर दार्शनिक विचार-विमर्श अधिक होता था। उस समय व्यक्तित्व निर्धारण की एक परम्परा चली, जिसमें अच्छे-बुरे विचारों और परिणामों को रंगों के माध्यम से व्यक्त किया गया। मनुष्य की श्रेष्ठता और निकृष्टता वर्णों की शुभता और अशुभता के आधार पर व्याख्यायित की गई। अच्छे विचार, व्यवहार, संस्कार के लिए शुभ वर्ण - लाल, पीत और शुक्ल शब्दों का प्रयोग हुआ। इसी तरह बुरे विचार, व्यवहार, संस्कार और आचरण के लिए कालिमामय वर्ण - कृष्ण, नील, कापोत शब्दों का प्रयोग हुआ।

जैन साहित्य में 'लेश्या' का मनोवैज्ञानिक वर्णन प्रकीर्ण रूप में विशद एवं सुव्यवस्थित मिलता है। लेश्या मनुष्य की वैचारिक तथा मानसिक परिणामों की अभिव्यक्ति है। लेश्या का नामकरण रंगों के आधार पर किया गया है, क्योंकि इसकी संरचना में मानसिक परिणामों के साथ पौद्गलिक पर्यावरण भी जिम्मेदार है। अतः पुद्गल के स्वाभाविक गुण, वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श से वह वियुक्त नहीं हो सकती। चूंकि वर्ण का प्रभाव हमारी पकड़ में जल्दी आता है, इसलिए लगता है लेश्या सिद्धान्त में वर्ण को व्यक्तित्व का प्रतिनिधि मानकर मनुष्य के चरित्र को वर्गीकृत किया गया।

रंगों के आधार पर किया गया मनुष्यवर्ग का वर्गीकरण और व्यक्तित्व का मापन न केवल जैन साहित्य में अपितु जैनेतर साहित्य में भी उपलब्ध होता है। जैन साहित्य इस वर्णवाद को लेश्या द्वारा, आजीवक तथा बौद्ध साहित्य इसे अभिजाति द्वारा, उपनिषद्, महाभारत, गीता आदि अन्य ग्रन्थ कृष्ण-शुक्ल जैसे महत्त्वपूर्ण वर्णों द्वारा मनुज-मन की व्याख्या करते हैं।

विभिन्न दर्शनों में वर्णवाद

लेश्या से मिलती-जुलती मान्यताओं का वर्णन हमें प्राचीन श्रमण परम्पराओं में 'अभिजाति' नाम से मिलता है। बौद्ध धर्म के प्रसिद्ध ग्रंथ दीघनिकाय में छह तीर्थंकरों का उल्लेख है। उनमें पूरणकश्यप भी एक रंग है। रंगों के आधार पर उन्होंने छह अभिजातियां निश्चित कीं। वे इस प्रकार हैं[1] :

1. कृष्णाभिजाति - क्रूर कर्म करने वाले सौकरिक, शाकुनिक प्रभृति जीवों का समूह।
2. नीलाभिजाति - बौद्ध श्रमण और कुछ अन्य कर्मवादी-क्रियावादी भिक्षुओं का समूह।
3. लोहिताभिजाति - एक शाटक निर्ग्रन्थों का समूह।

---

1. अंगुत्तर निकाय 6/6/3, भाग 3, पृ. 35-94

4. हारिद्राभिजाति - श्वेत वस्त्रधारी या निर्वस्त्र।
5. शुक्लाभिजाति - आजीवक श्रमण-श्रमणियों का समूह।
6. परम शुक्लाभिजाति - आजीवक आचार्य, नन्द, वत्स, कृष, सांस्कृत्य, मस्करी, गोशालक प्रभृति का समूह।

अभिजाति संबंधी जितने भी प्रकरण त्रिपिटकों में हैं, उनमें सबसे अधिक प्रामाणिक सामञ्जफल सुत्त को माना गया है।[1] इससे स्पष्ट है कि अभिजातियों का संबंध मूलत: गोशालक से है और यही कारण है कि अभिजातियों में सर्वोपरि स्थान आजीवकों और उनमें प्रवर्त्तकों का रहा है।

इस वर्गीकरण में आजीवकों द्वारा निर्णीत मानव की छह अभिजातियां तथा जैन-दर्शन में छह लेश्याओं का वर्णन कितना पारस्परिक सादृश्य रखता है, यह चिन्तन का विषय है। पाश्चात्य विद्वानों में प्रो. ल्यूमेन ने गोशालक के इस वर्गीकरण का घनिष्ठ सादृश्य जैनों के लेश्या सिद्धान्त से निरूपित किया है। पर डॉ. जेकोबी का कहना है कि उनका ऐसा विश्वास है कि जैनों ने यह सिद्धान्त आजीवकों से लिया और आवश्यक परिवर्तन के साथ अपने सिद्धान्तों में समाविष्ट कर लिया है।[2] उनका तात्पर्य है कि जैन सिद्धान्त में लेश्या सिद्धान्त एक आगन्तुक विषय है, जिसे अपने कर्म सिद्धान्त में जैन दार्शनिकों ने स्थान दिया।

डॉ. हर्नले और डॉ. बाशम जैसे विद्वान् अभिजाति और लेश्या की मान्यताओं में पारस्परिक प्रभाव नहीं मानते हैं जबकि जेकोबी, सुब्रीग आदि विद्वानों की मान्यता है कि लेश्या की मान्यता अभिजाति की मान्यता है। प्रो. ल्यूमेन और डॉ. जेकोबी ने मनुष्यों को छह वर्गों में विभक्त करने वाली अभिजातियों को गोशालक द्वारा प्रतिपादित माना है पर अंगुत्तर निकाय[3] में इसे पूरणकाश्यप द्वारा किया गया वर्गीकरण माना है जबकि दीघनिकाय के सामञ्जफल सुत्त में, संयुक्तनिकाय के खन्धवग्ग में और मज्झिमनिकाय के सन्दकसुत्त में इन्हें गोशालक द्वारा निरूपित बताया गया है। केवल अंगुत्तर निकाय के सिवाय पूरणकाश्यप का नाम कहीं भी उल्लेख नहीं है। त्रिपिटकों के व्याख्याता आचार्य बुद्धघोष[4] ने भी अनेक स्थलों पर अभिजातियों का संबंध केवल गोशालक से जोड़ा है।

गौतम बुद्ध ने भी आनन्द के समक्ष छह अभिजातियों की प्रज्ञापना की।[5]

---

1. That in the Digha Nikaya A Completenes and Consistency Lacking in the rest, and perhaps represents the original source of the other sources.
   A.L. Basham, History and Doctrines of Ajivikas, p. 23
2. Sacred Books of the East, Vol. XLV, Introduction, p XXX
3. अंगुत्तरनिकाय 6/6/57
4. सुमंगलविलासिनी, खण्ड 1, पृ. 162
5. अंगुत्तरनिकाय 6/6/3, भाग 3, पृ. 35, 93-94

1. कोई पुरुष कृष्णाभिजातिक हो (नीच कुल में उत्पन्न) - कृष्ण धर्म (पाप धर्म) करता है।
2. कोई पुरुष कृष्णाभिजातिक हो - शुक्ल धर्म करता है।
3. कोई पुरुष कृष्णाभिजातिक हो - अशुक्ल-अकृष्ण निर्वाण को प्राप्त होता है।
4. कोई पुरुष शुक्लाभिजातिक हो - ऊंचे कुल में उत्पन्न शुक्ल धर्म (पुण्य धर्म) करता है।
5. कोई पुरुष शुक्लाभिजातिक हो - कृष्ण धर्म करता है।
6. कोई पुरुष शुक्लाभिजातिक हो - अकृष्ण-अशुक्ल निर्वाण को प्राप्त होता है।

यह वर्गीकरण जन्म और कर्म के आधार पर किया गया है। कायिक, वाचिक और मानसिक दुश्चरण को कृष्णधर्म और उनके सुचरण को शुक्लधर्म कहा गया है। निर्वाण न कृष्ण होता है, न शुक्ल।

बुद्ध जन्मना अभिजाति में विश्वास नहीं करते थे। उन्होंने कर्मणा अभिजाति पर विश्वास किया, क्योंकि कर्म ही व्यक्तित्व की सही व्याख्या है। उच्चता और नीचता की रेखा मनुष्य जन्म से नहीं खींचता, कर्म के सहारे खींचता है।

अभिजातियों के वर्गीकरण का मुख्य आधार वर्ण था। जैन-दर्शन में लेश्या का वर्गीकरण भी वर्ण के आधार पर हुआ है। आगमों में स्थान-स्थान पर लेश्या की परिभाषा वर्ण के आधार पर दी गई है। भगवती की टीका में[1] कहा है - "द्रव्यत: कृष्ण लेश्या औदारिकादि शरीर वर्ण:"। ठाणं सूत्र की टीका में[2] लिखा है - "श्लेष इव वर्णबन्धस्य कर्मबन्धस्थितिविधात्र्य:"। तत्त्वार्थराजवार्तिक में[3] लेश्या की परिभाषा दी गई है - "शरीरनामकर्मोदयोपादिताद्रव्यलेश्या"। लेश्या एक पौद्गलिक परिणाम है इसलिए पुद्गल के सारे गुण इसमें समाहित हैं।

गुणात्मक आरोह-अवरोह की दृष्टि से भी अभिजातियों तथा लेश्याओं के वर्गीकरण में अर्थ सामीप्य स्पष्ट झलकता है। डॉ. बाशम के अनुसार आजीवकों का विश्वास था कि संसार मुक्ति से पूर्व आत्मा को इन अभिजातियों में नियमित रूप से परिभ्रमण करना पड़ता है। जैन-दर्शन भी यही मानता है कि प्रत्येक संसारी जीव सलेशी है। आत्म-विकास के आरोहण में लेश्या के परिणामों से गुजरता हुआ वह अलेशी बनता है फिर मुक्त होता है।

रंगों के आधार पर निर्धारित कृष्णाभिजाति आदि श्रेणियां एक वर्ग विशेष का प्रतिनिधित्व करती हैं। लेश्या का संबंध व्यक्ति विशेष से संबंधित होते हुए भी वर्गणा के आधार पर कृष्णलेश्या वाले जीव सभी कृष्णलेशी कहलायेंगे। यह संज्ञा वर्ग या समूह का सूचक है। ठाणं[4] में वर्गणा के आधार पर जीवों का वर्गीकरण प्रस्तुत किया है। वर्गणा शब्द

---

1. भगवती टीका 1/9;
2. ठाणं टीका 1/15
3. तत्त्वार्थराजवार्तिक 9/7;
4. ठाणं 1/51

समान गुण व जाति वाले समुदाय को कहते हैं। जैन आगमों में भी अभिजाति शब्द का प्रयोग इन छह अभिजातियों के वर्गीकरण की छाया-सी प्रतीत होती है। भगवती सूत्र में लिखा है - "श्रमणोपासक शुक्ल (पवित्र) शुक्लाभिजाति होकर काल के समय मरकर किसी एक देवलोक में देवरूप से उत्पन्न होते हैं।" भगवती के चौदहवें शतक में लिखा है कि वाणव्यन्तर देवों से लेकर अनुत्तरोपपातिक देवों की तेजोलेश्या भी ज्यादा प्रभा वाली होती है, इसी प्रसंग में कहा गया है कि श्रमण निर्ग्रन्थ शुक्ल एवं शुक्लाभिजात होकर अन्त में सिद्ध, बुद्ध, परिनिवृत्त एवं सर्वदुःखों का अन्त करने वाले होते हैं।[1]

गोशालक द्वारा महावीर को कहे गए कथन में शुक्लाभिजात शब्द का प्रयोग हुआ है। गोशालक ने कहा - आयुष्मान् काश्यप! जो मंखलीपुत्र गोशालक आपका धर्मान्तेवासी था, वह तो शुक्ल (पवित्र) और शुक्लाभिजात (पवित्र आचरण) होकर काल के समय मरकर किसी देवलोक में उत्पन्न हुआ है। मैं तो कोन्डायिन गोत्रिय उदायी हूँ।[2]

इसी तरह जाति और कर्म के आधार पर निर्णीत बुद्ध की छह अभिजातियों का सिद्धान्त भी लेश्या सिद्धान्त के नजदीक इसलिए लगता है कि जैन-धर्म जातिवाद को अस्वीकार करता है। नीच कुल में जन्मा व्यक्ति भी कर्म के आधार पर उच्च बन सकता है। लेश्या के सन्दर्भ में भी यह कहा जा सकता है कि लेश्या का परिणाम व्यक्तित्व रूपान्तरण का संकेत है। यद्यपि जन्म से लेकर मृत्यु तक एक जीव के एक ही द्रव्य लेश्या रहती है, क्योंकि द्रव्य लेश्या शरीरवर्णनामकर्म की प्रकृति है। औदयिक शरीर का वर्ण है, औदयिक भाव है पर भावनात्मक स्तर पर प्रत्येक व्यक्ति में प्रतिक्षण भावधारा बदलती रहती है। भावलेश्याएं बदलती रहती हैं। यह बदलाव ऊंच-नीच, अच्छे-बुरे भावों की सीमाओं के पार की बात है। द्रव्यतः नारकी में कृष्णलेश्या आदि अशुभ लेश्या होती है पर सम्यक्त्वी जीव के नारकी में भी शुभलेश्या पाई जाती है, क्योंकि भावलेश्या अन्तर्मुहूर्त्त में बदलती रहती है। द्रव्यलेश्या और भावलेश्या से यह सिद्ध होता है कि नीच कुल में जन्मा व्यक्ति कृष्णाभिजाति का होकर भी कर्म के आधार पर वह शुक्लाभिजाति तक पहुंच सकता है।

जैन चिन्तकों ने अभिजातियों की व्याख्या अपने ढंग से की। ऐसा करना उनके लिए स्वाभाविक था। जैन कर्म सिद्धान्त में कर्म की व्याख्या पौद्गलिक परिणमन के आधार पर की गई है। अतः अभिजाति को पौद्गलिक कर्मलेश्या के रूप में स्वीकार करना उनके लिए सहज ही था। परन्तु अभिजाति या लेश्या की जन्म-सम्बद्धता के निराकरण के लिए जैनों ने भावलेश्या को अधिक महत्व दिया। यही कारण है कि जैन साहित्य में द्रव्यलेश्या की अपेक्षा भावलेश्या पर विस्तृत साहित्य उपलब्ध है। अभिजाति का सिद्धान्त सिर्फ मानव जाति तक सीमित रहा जबकि जैनों का लेश्या सिद्धान्त मानवेतर प्राणी जगत तक पहुंचा। उसने सभी प्राणियों के जीवनक्रम का विश्लेषण इस आधार पर किया।

अभिजाति और लेश्या की मान्यताएं परस्पर में एक-दूसरे से कितनी प्रभावित थीं, यह कहना तो बहुत कठिन है। डॉ. बाशम के अनुसार आजीवकों का अभिजाति सिद्धान्त एवं

1. भगवती 14/8; 2. वही, 15/136

निर्ग्रन्थों का लेश्या सिद्धान्त एक किसी प्राचीनतर मान्यता के आधार पर उत्पन्न हुए हैं। यद्यपि आजीवकों की मान्यता सहज और सरल है जबकि लेश्या की मान्यता काफी विकसित भूमिका की ओर निर्देश करती है। गोशालक के सिद्धान्तों का विशेष वर्णन कहीं उपलब्ध न होने के कारण अभिजाति की मान्यता को विशेष रूप से अध्ययन करने का कोई साधन उपलब्ध नहीं है, इसके विपरीत लेश्या विषयक जैनों की मान्यता को जैन-कर्मग्रंथों के आधार पर हम विशेष रूप से जान सकते हैं।

अभिजाति और लेश्या के परस्पर प्रभावित होने के संदर्भ में कहा जा सकता है कि वर्ण-विभाजन की दोनों ही पद्धतियां किसी ऐसे प्राचीनतर विचार पद्धति से ली गई हैं जो उस काल में संन्यासी वर्ग में अधिक प्रचलित रही हो, क्योंकि प्राचीन साहित्य इस बात की सूचना देते हैं कि उस समय जीवन के अच्छे-बुरे विचारों व परिणामों को वर्णों में वर्गीकृत किया जाता था। वर्ण के आधार पर मनुष्य के गुणों की श्रेणियों का यह निर्धारण न केवल श्रमण (जैन, बौद्ध आदि के) ग्रंथों में अपितु अन्य ग्रंथों में भी द्रष्टव्य है।

महाभारत में उपलब्ध एक संवाद में सनत्कुमार दानवेन्द्र वृत्रासुर से कहते हैं - प्राणियों के छह प्रकार के वर्ण हैं - कृष्ण, धूम्र, नील, रक्त, हारिद्र और शुक्ल। कृष्ण, धूम्र और नील वर्ण का सुख मध्यम होता है। रक्त वर्ण अधिक सहन करने योग्य होता है। हारिद्र वर्ण सुखकर होता है और शुक्लवर्ण उससे भी अधिक सुखकर होता है।[1] इतना ही नहीं, महाभारतकार ने ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र को भी वर्णों से परिभाषित किया है।[2]

उच्च-नीच गति की व्याख्या करते हुए कृष्ण वर्ण वाले की गति नीच बताई गई है। जिन निकृष्ट कर्मों से जीव नरक में जाता है वह उन कर्मों में सतत आसक्त रहता है। जो जीव नरक से निकलते हैं उनका वर्ण धूम्र होता है। मानव जाति का रंग नीला है। देवों का रंग रक्त है, वे दूसरों पर अनुग्रह करते हैं। जो विशिष्ट देव होते हैं उनका रंग हारिद्र है। जो महान् साधक है उनका वर्ण शुक्ल है।[3] व्यासदेव ने यह भी लिखा है कि दुष्कर्म करने वाला मानव वर्ण से परिभ्रष्ट हो जाता है और पुण्य कर्म करने वाला मानव वर्ण के उत्कर्ष को प्राप्त होता है।[4]

लेश्या और महाभारत का वर्ण-निरूपण में बहुत साम्य है। गीता में भी श्रीकृष्ण ने गति के कृष्ण और शुक्ल दो विभाग किए। कृष्ण गति वाला पुनः-पुनः जन्म-मरण करता है, शुक्ल गति वाला जन्म और मरण से मुक्त हो जाता है।[5]

धम्मपद में धर्म के दो विभाग किये हैं - कृष्ण और शुक्ल। पंडित मानव को कृष्ण धर्म का परित्याग कर शुक्लधर्म का पालन करना चाहिए।[6] महर्षि पतंजलि ने योगसूत्र में

---

1. महाभारत, शांतिपर्व 280/33;
2. वही, 12/186/5
3. वही, 280/34-47;
4. वही, 291/4-5
5. गीता 8/26;
6. धम्मपद, पंडितवग्ग, 19

कर्म की दृष्टि से चार जातियां प्रतिपादित कीं - 1. कृष्ण, 2. शुक्ल-कृष्ण, 3. शुक्ल, 4. अशुक्ल-अकृष्ण, जो क्रमशः अशुद्धतर, अशुद्ध, शुद्ध और शुद्धतर हैं। तीन कर्म जातियां सभी में होती हैं पर चौथी अशुक्ल-अकृष्ण जाति योगी में होती है।[1] प्रस्तुत सूत्र पर भाष्य करते हुए व्यासदेव ने लिखा है कि उनका कर्म कृष्ण होता है, जिनका चित्त दोष-कलुषित या क्रूर होता है। पीड़ा और अनुग्रह दोनों विधाओं से मिश्रित कर्म 'शुक्ल-कृष्ण' कहलाता है। ये बाह्य साधनों द्वारा साध्य होते हैं। तप, स्वाध्याय और ध्यान में निरत व्यक्तियों के कर्म केवल मन के अधीन होते हैं। उनमें बाह्य साधनों की किसी भी प्रकार की अपेक्षा नहीं होती और न किसी को पीड़ा दी जाती है। एतदर्थ यह कर्म शुक्ल कहा जाता है। जो पुण्य के फल की आशंका नहीं करते, उन क्षीणक्लेश चरमदेह योगियों के 'अशुक्ल-अकृष्ण' कर्म होता है।

लेश्या सिद्धान्त की ऐतिहासिकता आज भी विमर्शनीय है। प्राचीन जितने भी प्रामाणिक स्रोत हैं, ग्रंथ और साहित्य हैं, उनके आधार पर लेश्या सिद्धान्त को जैन-दर्शन की मौलिक मान्यता माना जा सकता है।

डॉ. ल्यूमेन और डॉ. हरमन जेकोबी ने अपने अनुसन्धान के आधार पर जो यह मान लिया था कि लेश्या का सिद्धान्त आजीवकों से लिया हुआ है, इस संदर्भ में लगता है कि इन विद्वानों के सामने लेश्या सिद्धान्त की परम्परा नहीं थी। उनमें प्रतिभा थी, अनुसन्धान की पैनी नजर थी, तर्क एवं कसौटियां थीं पर बिना पूरे स्रोत को जाने किसी भी विद्वान् के लिए सही और अन्तिम निर्णय संभव नहीं हो सकता। संभवतः इन विद्वानों के सामने भी यही कठिनाई रही हो। लेश्या सिद्धान्त ढाई हजार वर्ष से भी ज्यादा पुराना है। यह निश्चित है कि यह महावीर के समय था और इसका प्रमाण है अति प्राचीन आचारांग सूत्र का यह वाक्य - 'अबहिलेस्से'[2] - जिसकी लेश्या यानि मनोवृत्ति संयम से बाहर न जाये, उसे अबहिर्लेश्य कहा जाता है।

लेश्या सिद्धान्त भगवान पार्श्व की परम्परा से, पूर्वज्ञान की परम्परा से चला आ रहा है जिसे भगवान महावीर ने अपनाया। वस्तुतः चौदह पूर्वों के ज्ञान की अक्षयराशि में सभी विषय समाहित होते हैं। निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि लेश्या का सिद्धान्त पार्श्व परम्परा से चला आ रहा था और पार्श्व के ज्ञान की सारी विरासत महावीर की परम्परा को मिली, यह कहने में कोई कठिनाई नहीं है। लेश्या सिद्धान्त के संदर्भ में यह कहना औचित्यपूर्ण होगा कि यह जैन-दर्शन का मौलिक संप्रत्यय है।

सम्पूर्ण जैन वाङ्मय में लेश्या के सैद्धान्तिक पक्ष पर विपुल जानकारी उपलब्ध है। परन्तु इन्हें आधुनिक भाषा में प्रस्तुति नहीं मिलने के कारण लेश्या सिद्धान्त सिर्फ तात्त्विक ज्ञान का एक पक्ष बनकर रह गया। कोई भी सिद्धान्त जब तक प्रायोगिक भूमिका पर नहीं

1. पातञ्जल योगसूत्र, 4/7
2. आचारांग 6/106, (आगम शब्दकोश, पृ. 68)

उतरता, तब तक वह न तो जीवन से सीधा जुड़ सकता है और न ही उसकी उपयोगिता सिद्ध हो सकती है।

वर्तमान में लेश्या-सिद्धान्त के गूढ़तम रहस्यों में छिपे मनोवैज्ञानिक तथ्यों को उजागर करने का सक्रिय प्रयत्न शुरू हुआ है। प्रस्तुत ग्रन्थ इसी शृंखला में एक छोटा-सा प्रयत्न है जिसका मुख्य उद्देश्य है लेश्या का मनोवैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत करना।

इस ग्रन्थ में निम्न सन्दर्भों के आलोक में लेश्या का अध्ययन किया गया है -

- लेश्या का सैद्धान्तिक पक्ष
- मनोवैज्ञानिक परिपेक्ष्य में लेश्या
- लेश्या और रंग मनोविज्ञान
- लेश्या से जुड़ा आभामण्डल
- लेश्या और व्यक्तित्व निर्माण
- ध्यान द्वारा लेश्या परिवर्तन

लेश्या का सैद्धान्तिक पक्ष

जैन-दर्शन ने लेश्या का जीव के साथ अनादि संबंध माना है। जीव जब तक कर्ममुक्त नहीं होता, आत्मा में लेश्याओं का परिणमन होता रहता है। लेश्या को कर्मबन्ध का सहायक तत्त्व कहा है। सम्पूर्ण सृष्टि का चक्र जन्म-मरण, सुख-दुःख, वैयक्तिक भिन्नतायें - सभी कर्म-तत्त्व से जुड़ी हैं पर कर्म भी आत्मा के साथ बिना लेश्या के नहीं जुड़ता। जीव और पुद्गल के संयोग में लेश्या सेतुबन्ध का काम करती है।

षट्खण्डागम में लिखा है - जो आत्मा और कर्म का संबंध कराने वाली है, वह लेश्या है। पंचसंग्रह में जिसके द्वारा जीव पुण्य-पाप से अपने को लिप्त करता है, उसे लेश्या कहा है। प्रज्ञापना की टीका में लेश्या की परिभाषा दी गई है कि जिसके सहयोग से आत्मा कर्मों में लिप्त होती है वह लेश्या है।

आठ कर्मों में सबसे अधिक प्रभावशाली कर्म है - मोहनीय कर्म। ज्ञानवरणीय कर्म के कारण हम सही जान नहीं पाते, दर्शनावरणीय कर्म के कारण हम सही देख नहीं पाते, अन्तराय कर्म के कारण शक्ति का सही उपयोग नहीं कर पाते, परन्तु मोहनीय कर्म के कारण जानते हुए, देखते हुए, सामर्थ्य रखते हुए भी सही-सही आचरण नहीं कर पाते, आगमों में मोहनीय कर्म को राजा कहा गया है। मोहनीय कर्म ही लेश्या का पूरा विश्लेषण करता है। इसके कारण से ही लेश्या अशुभ होती है, क्योंकि राग-द्वेष को कर्मबन्ध का मुख्य हेतु बताया गया है अथवा कर्म बन्ध के ये पांच आस्रव हैं - मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग। कषाय के बिना तीव्र कर्मबन्ध नहीं होता। कषाय की मन्दता और तीव्रता पर शुभलेश्या और अशुभलेश्या बनती है, क्योंकि लेश्या भावधारा पर निर्भर करती है।

लेश्या एक प्रकार का पौद्गलिक पर्यावरण है। जीव से पुद्गल और पुद्गल से जीव प्रभावित होते हैं। जीव को प्रभावित करने वाले अनेक पुद्गलों के समूह हैं उनमें एक समूह वर्गणा का नाम लेश्या है।

जैन आगम साहित्य में लेश्या की कई अर्थों में प्रस्तुति दी गई है। आत्मा का परिणाम, अध्यवसाय, अन्तःकरण वृत्ति, तेज, दीप्ति, ज्योति, किरण, देह-सौन्दर्य, ज्वाला, सुख, वर्ण आदि विविध अर्थों में प्रयुक्त लेश्या जीवन के बाहरी और भीतरी दोनों पक्षों की व्याख्या करती है।

लेश्या के दो रूप होते हैं - द्रव्यलेश्या और भावलेश्या। एक आत्मा को प्रभावित करती है, दूसरी शरीर को। यद्यपि भावलेश्या अवर्णी, अगन्धी, अरसी, अस्पर्शी होती है पर द्रव्यलेश्या पौद्गलिक होने के कारण उसमें पुद्गल के सभी गुण - वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श पाये जाते हैं। इसलिए ग्रहण किए गए शुभ-अशुभ पुद्गलों के आधार पर व्यक्तित्व पहचाना जा सकता है।

भावलेश्या आत्मा का परिणाम कहा गया है। प्रज्ञापना में जीव के दस परिणामों में लेश्या को भी एक परिणाम माना है। परिणाम शुभ-अशुभ दोनों होते हैं। इन्हीं के आधार पर प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश रूप कर्मबन्ध के चार प्रकारों का निर्माण होता है।

जैन आगमों में कषाय और योग से अनुरंजित लेश्या की व्याख्या इस बात की सूचक है कि कषायों की तीव्रता और मन्दता तथा योग की शुभ-अशुभ प्रवृत्ति द्वारा जो आत्म-परिणाम बनते हैं उन्हीं के आधार पर आत्मा का आवृत्त-अनावृत्त स्वरूप प्रकट होता है। जब तक लेश्या के साथ कषाय होता है, जन्म-मरण का चक्र चलता रहता है।

जब जीव आत्म-विकास की बारहवीं भूमिका क्षीणमोहगुणस्थान पर पहुंचता है तब संसार-संतति का क्रम टूटता है। साम्परायिक क्रिया, जो राग-द्वेष-मोह की प्रतीक कर्मबन्धक है, रुक जाती है। राग-द्वेष रहित योग की उपस्थिति होने पर लेश्या द्वारा ईर्यापथिक क्रिया राग-द्वेष रहित अवश्य चलती है पर उसमें कर्मबन्ध की स्थिति और विपाक का सामर्थ्य नहीं होता है। पहले क्षण कर्म बन्धता है, दूसरे क्षण निर्जरण हो जाता है।

कर्मों के उदय, उपक्षम, क्षय और क्षयोपक्षम से होने वाले भावों की उपस्थिति लेश्यावान आत्मा में भी रहती है। अनुयोगद्वार में लेश्या को औदयिक भाव माना है, क्योंकि इससे कर्मों का आश्रव होता है, पुण्य-पाप का बन्ध होता है। लेश्या को नव-पदार्थों के आश्रव तत्त्व में समाविष्ट माना गया है। इसीलिए इसे कर्म लेश्या कहा गया। यह क्षायोपशमिक, क्षायिकभाव भी है, क्योंकि शुभलेश्या से कर्म टूटते हैं, इससे निर्जरा होती है।

लेश्या जन्म-मरण के सिद्धान्त से जुड़ी है। कर्मावृत्त आत्मा मृत्यु के बाद कौन सी गति में कहां जन्म लेगी, इसका निर्णय भी लेश्या द्वारा होता है। यद्यपि लेश्या जीव के मुक्ति में बाधक तत्त्व है, क्योंकि लेश्या से पुण्य-पाप का बन्ध होता है। पुण्य-पाप दोनों ही हेय तत्त्व

हैं। शुभलेश्या से पुण्य बन्धता है, आत्म-विशुद्धि भी होती है, फिर भी बन्धन बन्धन होता है इसलिए अलेश्य बनना साधक का मुख्य उद्देश्य है।

जैन आगमों में लेश्या के साथ जुड़े विशेषण आत्म-विशुद्धि के परिचायक हैं। आचारांग में श्रद्धा का उत्कर्ष प्रतिपादित करते हुए मनोयोग के अर्थ में लेश्या का प्रयोग हुआ है। शिष्य गुरु की दृष्टि का अनुगमन करे अर्थात् उनकी लेश्या में/विचारों में विचरे। सूत्रकृतांग में भगवान महावीर ने कहा - जो राग और मोह को धुन डालता है वह भिक्षु होता है और ऐसे भिक्षु को विशुद्ध लेश्यावान यानि शुद्ध अन्तःकरण वाला कहा है। 'सुविसुद्धलेसे' शब्द का अर्थ चूर्णिकार ने जहां शुक्ललेश्या वाला मुनि किया है, वहां वृत्तिकार ने लेश्या का अर्थ अन्तःकरण की वृत्ति किया है।

शिष्य के गुणात्मक पक्ष को प्रस्तुत करते हुए मुनि के विषय में कहा गया है कि जो गुरु द्वारा अनुशासित होने पर भी पूर्ववत् अपनी चित्तवृत्ति को शुद्ध रखता है, शांतचित्त रहता है, वह तथार्चि कहलाता है। यहां अर्चि का अर्थ लेश्या चित्तवृत्ति किया गया है। उत्तराध्ययन में आत्मानन्द की अनुभूति कराने वाले मुनि को आत्म-प्रसन्नलेश्य कहा है। औपपातिक सूत्र में परमविशुद्ध परिणाम वाली लेश्या से संयुक्त मुनि को 'अप्रतिलेश्य' नाम दिया गया है।

लेश्या बाहरी और भीतरी चेतना को रूपान्तरित करती है, क्योंकि लेश्या परिणामों का परस्पर परिणमन होता रहता है। परिणामों के आधार पर व्यक्ति कभी अच्छा, कभी बुरा बनता है। लेश्या सिद्धान्त का मानना है कि भावों की विशुद्धता से कृष्ण लेश्या वाले जीव क्रमशः अथवा बिना क्रम के शुक्ल लेश्या तक पहुंच जाता है जबकि कषाय की तीव्रता में संक्लिष्ट परिणामों के होने पर शुक्ललेश्या तक पहुंचा हुआ व्यक्ति भी पुनः पतनोन्मुख बन जाता है। आत्मविशुद्धि का यह आरोहण-अवरोहण विशुद्ध लेश्या पर आधारित है और विशुद्ध लेश्या की आधार भूमि तैयार करता है - ध्यान, ज्ञान, तपस्या, भावों का नैर्मल्य और कषायों की मन्दता।

जैन-दर्शन की मान्यता है कि आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान में जीवों के संक्लिष्ट परिणाम होते हैं, तीव्र कषाय रहती है। अतः उनके कृष्ण, नील और कपोत ये तीन अशुभ लेश्यायें होती हैं पर धर्मध्यान में शुभलेश्या की उपस्थिति रहती है। धर्मध्यान में ही अध्यात्म की यात्रा शुरू होती है। शुक्लध्यान के तीन चरणों तक लेश्या का भाव बना रहता है। ध्यान से लेश्या-विशुद्धि होती है और एक समय ऐसा भी आता है जब जीव अलेशी बन जाता है। जातिस्मृतिज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान के साथ भी लेश्या विशुद्धि को एक आवश्यक अंग माना गथा है। आत्म-विशुद्धि के सन्दर्भ में लेश्या के साथ अध्यवसाय का गहरा संबंध है, क्योंकि लेश्या अध्यवसाय का हेतु है और संक्लिष्ट-असंक्लिष्ट अध्यवसायों से जीव दुर्गति-सुगति को प्राप्त होता है।

लेश्या का सैद्धान्तिक विवेचन दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों साहित्य में उपलब्ध है। वहां नाम, वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, परिणाम, लक्षण, स्थान, स्थिति, गति, आयु, प्रदेश,

अल्पबहुत्व आदि कई विषयों पर लेश्या का वर्णन किया गया है। लेश्या की दी गई परिभाषाओं पर उत्तरवर्ती साहित्य में आचार्यों ने विस्तृत चर्चा की है। इन सभी सन्दर्भों में आचार्यों की अपनी-अपनी मान्यताओं की सटीक समीक्षा भी उपलब्ध है।

प्राचीन साहित्य में लेश्या के गूढ़ तथ्य सूत्रात्मक शैली में गुम्फित हैं। प्रस्तुत अध्याय में उनकी प्रस्तुति मनोवैज्ञानिक अध्ययन के व्याख्या-सूत्र बनने में सहयोगी बने, इस दृष्टिकोण से प्रथम अध्याय को सैद्धान्तिक परिप्रेक्ष्य में उल्लिखित किया गया है।

मनोवैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य में लेश्या

लेश्या और मनोविज्ञान दोनों ही जीव के भाव, विचार, आचार एवं व्यवहार की व्याख्या प्रस्तुत करते हैं परन्तु मनोविज्ञान की अपेक्षा लेश्या आचरण के मूल स्रोत की खोज करती है। लेश्या सिद्धान्त और मनोविज्ञान के अध्ययन के समन्वित प्रयास से ज्ञान के क्षेत्र में विकास की अनेक संभावनाएं उजागर हो सकती हैं। लेश्या के गूढ़ तत्वों को मनोविज्ञान की भाषा में प्रस्तुत किया जाए तो ये सरल और सहज बोधगम्य हो सकते हैं जिससे जीवन रूपान्तरण के अनेक आयाम खुलते नजर आयेंगे। इसी तरह लेश्या सिद्धान्त से जुड़कर मनोविज्ञान यदि अपनी अवधारणाओं, मान्यताओं और परीक्षण विधियों को और अधिक खुला मैदान दे सके तो वह व्यक्तित्व निर्माण की दिशा में एक सार्थक उपलब्धि प्रस्तुत कर सकता है।

मनोविज्ञान सिर्फ वर्तमान से जुड़े जीवन की व्याख्या करता है। लेश्या सिद्धान्त जीवन और जीव दोनों की मीमांसा करता है। जीवन का संबंध जन्म से मृत्यु तक है जबकि जीव जन्म-जन्मान्तरों के कृतकर्मों के संस्कारों की एक दीर्घ परम्परा है। इसलिए जीव की व्याख्या अचेतन से भी अधिक सूक्ष्म और गहरी कही जा सकती है।

लेश्या स्थूल शरीर और सूक्ष्म शरीर के बीच का सम्पर्क-सूत्र है। व्यक्तित्व का रूपान्तरण, वृत्तियों का शोधन और व्यवहार परिष्कार संभव है - कैसे होता है अच्छे-बुरे संस्कारों का संकलन ? कौन देता है भाव, आचार की प्रेरणा ? कैसे सम्भव है व्यक्तित्व का रूपान्तरण ? ऐसे कई प्रश्नों के समाधान हेतु हमें सूक्ष्म शरीर तक पहुंचना होगा।

सूक्ष्म शरीर की व्याख्या को आज की भाषा में (Depth Psychology) गहन मनोविज्ञान कहा जा सकता है। लेश्या की मनोवैज्ञानिक व्याख्या के सन्दर्भ में फ्रायड की गहन मनोविज्ञान की अवधारणा बहुत ही महत्वपूर्ण है। उनका मानना था कि चेतन अनुभवों के नीचे भी कई स्तर हैं। ये स्तर मनोवैज्ञानिक की अपेक्षा जैविक अधिक हैं और हमारे व्यवहार को प्रभावित करते हैं। इसी संदर्भ में फ्रायड ने 'अचेतन मन' को पकड़ा। यह मन का वह अज्ञात भाग है जिसे सामान्यतः जाना नहीं जा सकता। अचेतन मन को स्वप्न, सम्मोहन स्मृति आदि मनोविश्लेषणात्मक विधियों द्वारा ही जानना संभव है।

जैन-दर्शन में सूक्ष्म शरीर की व्याख्या के सन्दर्भ में चित्त, लेश्या, कषाय और अध्यवसाय की चर्चा मिलती है। हमारी स्थूल एवं सूक्ष्म चेतना तीन स्तरों पर काम करती है:

1. अध्यवसाय का स्तर - यह कार्मण शरीर/अतिसूक्ष्म शरीर के साथ काम करता है।
2. लेश्या का स्तर - यह तैजस शरीर/विद्युत शरीर के साथ काम करता है।
3. स्थूल चेतना का स्तर - यह औदारिक शरीर/स्थूल शरीर के साथ काम करता है।

लेश्या बाहरी-भीतरी/स्थूल-सूक्ष्म दोनों स्तरों से जुड़ी है। निम्न तालिका द्वारा इसे बहुत स्पष्टता से समझा जा सकता है :

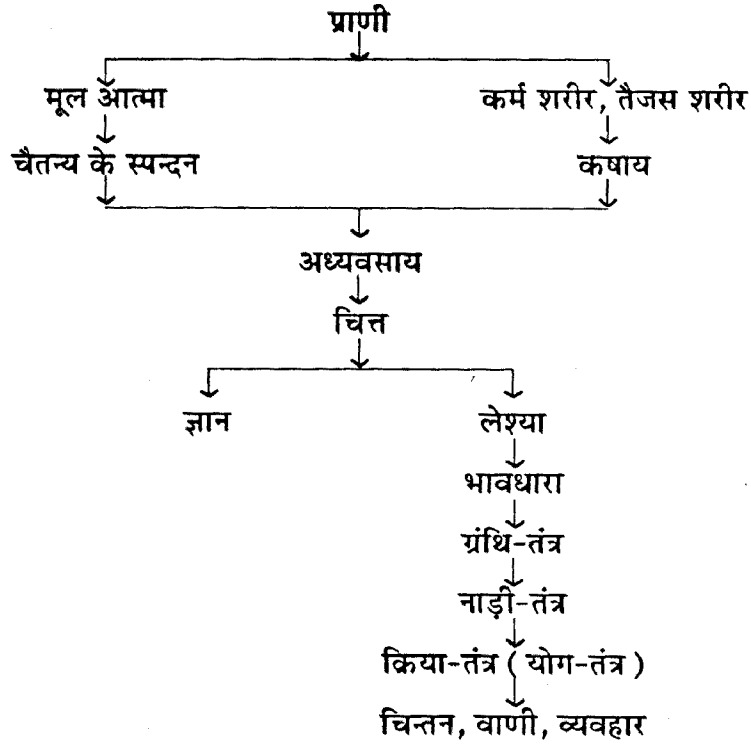

अध्यवसाय कर्म संस्कारों का मूल स्रोत है। इसे मनोविज्ञान में अदस मन (Id) कहा जा सकता है। मन केवल उन प्राणियों में होता है जिनके सुषम्ना और मस्तिष्क है पर अध्यवसाय सभी प्राणियों में होता है। वनस्पति जीव में भी प्रशस्त/अप्रशस्त अध्यवसाय होते हैं। अध्यवसाय कर्मबन्ध का कारण है इसलिए यह मनशून्य, वचनशून्य और क्रियाशून्य असंज्ञी जीवों में भी पाया जाता है। अध्यवसाय इतना सूक्ष्म है कि इसे सिर्फ तरंग रूप में जाना जा सकता है। तरंग जब सघन होती है तब भाव बनती है और भाव लेश्या में पैदा होते हैं।

लेश्या तैजस शरीर के साथ सक्रिय होती है। यह भीतरी भावों को अन्त:स्रावी संस्थान के माध्यम से क्रियातंत्र द्वारा अभिव्यक्त करती है। लेश्या मुख्य द्वार है पुद्गलों के भीतर जाने का और भावों के बाहर आने का।

लेश्या अध्यवसाय का हेतु है। लेश्या का भावचक्र प्रतिक्षण गतिशील रहता है। जब व्यक्ति सोता है तब भी उसकी शुभ-अशुभ लेश्या क्रियाशील रहती है। इसकी यह क्रियाशीलता सम्पूर्ण प्राणी जगत, यहां तक की वनस्पति जीव तक में पाई जाती है।

वैज्ञानिकों ने प्रयोगों द्वारा यह सिद्ध कर दिया है कि पेड़-पौधे इतने संवेदनशील होते हैं कि उनके पास आने वाले व्यक्ति के अच्छे-बुरे भावों से वे सिकुड़ते-फैलते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि सारा जगत भावना द्वारा संचालित है। जब बादल आते हैं तब टिड्डी तेज बोलने लगती है। बादल को देख मयूर नृत्य करने लगते हैं। पक्षी अपना घोंसला सुरक्षित स्थान पर बनाने का प्रयत्न करते हैं। यह सारा प्रयत्न भावना के स्तर पर संभव है।

लेश्या का मनोवैज्ञानिक अध्ययन करते समय आचरण के मूल स्रोतों की खोज में संज्ञा, कषाय, नोकषाय, मूलप्रवृत्ति आदि की चर्चा भी लेश्या की स्पष्टता में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। कर्मबन्धन और कर्ममुक्ति की प्रक्रिया में अचेतन मन से जुड़े कुछ उदाहरण इस बात के साक्षी हैं कि केवल क्रिया से ही नहीं, सिर्फ सोचने मात्र से भी प्राणी किस प्रकार कर्म संस्कारों का अर्जन कर लेते हैं।

लेश्या से जुड़ी जन्म-मृत्यु और आयुष्यबन्ध की सूक्ष्म व मनोवैज्ञानिक व्याख्या स्वयं में जागरण की प्रेरणा है। सिद्धान्त कहता है कि जिस लेश्या में प्राणी मरता है उसी लेश्या में फिर जन्म लेता है। इसलिए अच्छे भावी जीवन की आकांक्षा रखने वाले का शुभ भावों/लेश्याओं में रहना जरूरी है, क्योंकि मौत किसी भी क्षण हो सकती है।

लेश्या का मनोवैज्ञानिक पहलू मनुष्य की सूक्ष्म चेतना के स्तर पर घटित होने वाले भावों की व्याख्या करता है। शुभ-अशुभ भावों के आधार पर व्यक्तित्व कैसे बनेगा, किस भाव के बदलने से व्यक्तित्व रूपान्तरित होगा, यह सब कुछ लेश्या पर निर्भर है। प्रस्तुत अध्याय में मनोवैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य में लेश्या को विविध कोणों से विश्लेषित करने का प्रयास किया गया है।

लेश्या और रंग मनोविज्ञान

सम्पूर्ण सृष्टि में ऐसा कुछ भी नहीं जिसका कोई रंग न हो। जड़ और चेतन में रंगों का वैविध्य और वैचित्र्य इस बात का प्रतीक है कि रंग हमारे चारों ओर घिरी एक सार्वभौमिक सत्ता है। रंग जीवन से सीधा जुड़ा है। यह शरीर और मन को ही नहीं, चेतना के सूक्ष्म स्तर तक को प्रभावित करता है। यद्यपि सैद्धान्तिक स्तर पर लेश्या के द्रव्य/पौद्गलिक एवं भाव/चैतसिक दोनों पक्षों का सूक्ष्म व गहन विश्लेषण उपलब्ध है किन्तु रंगों के मनोविज्ञान के साथ लेश्या की प्रस्तुति इस बात को स्पष्टता देती है कि रंग मनोदशाओं को किस तरह प्रभावित करता है और व्यक्ति के बदलाव व चिकित्सा में किस प्रकार सशक्त भूमिका निभाता है।

वर्तमान में बहुचर्चित रंग की विचारणा का मूलस्रोत भारतीय धर्म, दर्शन, साहित्य, कला और संस्कृति में देखा जा सकता है। तत्त्वविदों और मानसशास्त्रियों ने जीवन के साथ रंग का गहरा संबंध माना है। लोक-जीवन और परम्पराओं से जुड़े समस्त पौराणिक, धार्मिक एवं सामाजिक अनुष्ठानों, रीति-रिवाजों में मनुज मन के भावों और रुचियों को दर्शाने के लिए विशिष्ट रंगों का चयन किया गया है।

जैन साहित्य में लेश्या के रंगों और भावों को प्रतीकात्मक शैली में प्रस्तुत किया गया। आगम साहित्य का प्रसिद्ध छह मित्रों और फल से लदे वृक्ष के प्रति विभिन्न दृष्टिकोण वाला कथानक मन की भावदशा का सही चित्रण प्रस्तुत करता है। लेश्या के सन्दर्भ में ही नहीं, पंचतत्त्वों, ग्रहों, राशियों, रत्नों आदि के साथ भी जुड़ी रंगों की प्रतीकात्मक अवधारणा उपलब्ध होती है। शरीर के विभिन्न अंगों, ग्रंथियों और योगसाहित्य के चक्रों के भी रंग निर्धारित किए गए हैं। यूनानवासियों ने तो मनोवैज्ञानिक दृष्टि से रंगों के साथ युगों का आरोहण/अवरोहण क्रम जोड़कर जीवन के साथ रंगों का तादात्म्य संबंध तक प्रकट किया है।

रंगों के आधार पर मनुष्य की जाति, गुण, स्वभाव, रुचि और आदर्श आदि की व्याख्या करने की परम्परा सदा से रही है। तंत्र-मंत्र शास्त्रियों, भौतिकवादियों, शरीर शास्त्रियों एवं मनोवैज्ञानिकों के अध्ययन के सम्मिलित निष्कर्ष यह सिद्ध करते हैं कि रंग चेतना के सभी स्तरों को प्रभावित करता है। रंग की विद्युत चुम्बकीय ऊर्जा किसी अज्ञातरूप में पिट्यूटरी, पीनियल ग्रंथियों तथा मस्तिष्क की गहराई में विद्यमान हाइपोथेलेमस तक को प्रभावित करती है। वास्तव में रंग हमारे मन, विचार, भाव और आचरण पर असर डालते हैं।

'रंगों का व्यक्तित्व पर प्रभाव' इस विषय पर चिन्तन करते समय ऐसा प्रतीत होता है कि आज के रंग मनोविज्ञान में लेश्या के संवादी सूत्र उपलब्ध होते हैं। लेश्या की शुभता/अशुभता, रुक्षता/स्निग्धता, शीतता/उष्णता, प्रशस्तता/अप्रशस्तता व्यक्तित्व की व्याख्या करती है। कृष्ण, नील, कापोत लेश्या के वर्ण आदि प्रशस्त चमकदार हैं तो वे अच्छे माने जाते हैं। ये ही रंग जब अप्रशस्त/धुंधले हैं तो अशुभ माने जायेंगे। व्यक्तित्व की शुभता/अशुभता लेश्या के वर्णों की चमक/धुंधलेपन के द्वारा अभिव्यक्त होती है।

जैन आगमों में की गई लेश्या की चर्चा तात्त्विक/दार्शनिक तो है ही, मनोवैज्ञानिक भी है। रंग मनोविज्ञान को अगर लेश्या अवधारणा के आलोक में देखा जाए तो कई नई दृष्टियां प्राप्त हो सकती हैं। शास्त्रों में लेश्या और उसके वर्णों के प्रसंग में व्यक्ति के मन का पारदर्शी चित्रण उपलब्ध होता है। कृष्ण, नील, कापोत रंग प्रधान अशुभ लेश्याओं में जीने वाला व्यक्ति बुरा सोचेगा, बुरा कहेगा, बुरा सुनेगा और बुरा ही कर्म करेगा जबकि लाल, पीला और श्वेत वर्ण वाली शुभ लेश्याओं में जीने वाला व्यक्ति सदैव अच्छा ही सोचेगा, कहेगा, सुनेगा और करेगा। प्रतिक्षण बदलने वाली लेश्यायें हमारे भावों के आरोह-अवरोह की सटीक व्याख्या करती हैं।

अच्छी-बुरी लेश्याओं में जीने का व्यक्ति स्वयं जिम्मेदार है। हमारे आस-पास पौद्गलिक रंग, रस, गन्ध, स्पर्श बिखरे पड़े हैं। ये शुभ भी हैं और अशुभ भी हैं। लेश्या की शुभता-अशुभता में भी बहुत अंतर है और यह व्यक्ति पर निर्भर करता है कि वह किस तरह के परमाणु को ग्रहण करता है ? कैसा रंग पसन्द करता है और कैसा अपना व्यक्तित्व निर्माण करना चाहता है ?

लेश्या से जुड़ा आभामण्डल

दुनिया का हर पदार्थ चेतन और अचेतन अपने आकार में रश्मियों का विकिरण करता है। ये रश्मियां प्राण ऊर्जा और विद्युत चुम्बकीय ऊर्जा के रूप में होती हैं। इनकी तरंगों से ही आभामण्डल निर्मित होता है।

प्राणी चेतन और पुद्गल का सांयोगिक रूप है। आत्मा का लक्षण है चैतन्य और पुद्गल का लक्षण है स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण। दोनों की संयुक्त क्रिया प्रणाली के आधार पर कहा जा सकता है कि हमारे शरीर से दो प्रकार की ऊर्जाओं का संयुक्त विकिरण होता है -

1. चैतन्य द्वारा प्राणऊर्जा का विकिरण
2. भौतिक शरीर द्वारा चुम्बकीय ऊर्जा का विकिरण।

प्राण ऊर्जा का आधार है व्यक्ति की भावधारा। भावधारा चैतसिक लेश्या (भावलेश्या) है। आभामण्डल पौद्गलिक लेश्या (द्रव्यलेश्या) है। दोनों का परस्पर गहरा संबंध है। यद्यपि जैन आगमों में आभामण्डल जैसा कोई शब्द प्रयुक्त नहीं हुआ है परन्तु तैजस शरीर, तेजोलेश्या, तेजोलब्धि और तैजस समुद्घात से जुड़ी चर्चा आभामण्डल की सूक्ष्म व्याख्या करती है।

आभामण्डल जड़ और चेतन दोनों में होता है। जड़ पदार्थ का आभामण्डल बदलता नहीं, निश्चित रहता है जबकि प्राणी का आभामण्डल प्रतिक्षण बदलता रहता है, क्योंकि प्राणी में इस बदलाव का मूल कारण लेश्या भाव-संस्थान विद्यमान है। लेश्या सिर्फ जीव में होती है इसलिए कहा जा सकता है कि प्राणी के आभामण्डल का नियामक तत्त्व लेश्या है।

आभामण्डल के द्वारा चेतना में आए परिवर्तन अभिव्यक्त होते हैं। मन और शरीर की भूमिका पर घटित होने वाली सूक्ष्म घटनाओं का ज्ञान इसी के माध्यम से संभव होता है। शास्त्रों में उल्लेख मिलता है कि देवताओं की मृत्यु के छह माह पहले ही उनकी दीप्ति क्षीण होने लगती है। प्राचीन किंवदन्ती है कि शिष्य को दीक्षित करने से पहले गुरु उसका आभामण्डल देखकर उसकी पहचान कर लिया करते थे। महान आध्यात्मिक साधकों के जीवन से जुड़े अनेक वृत्तान्त साक्षी हैं कि लोग अपनी समस्याओं के साथ, जिज्ञासाओं के साथ उनके पास आते थे। वे अपनी बात कहते, उससे पहले ही भगवान उन सबका समाधान कर देते थे। लगता है यह आभामण्डल को देखने और उसका अर्थ समझने की क्षमता के कारण ही सम्भव होता था।

शताब्दियों तक यह अवधारणा रही कि आभामण्डल सिर्फ अन्तर्द्रष्टा महापुरुष ही देख सकते हैं किन्तु आधुनिक प्रयोगों द्वारा प्राप्त परिणामों ने यह बात सिद्ध कर दी है कि उपकरणों की सहायता से भौतिक आंखों से भी आभामण्डल को देखा जा सकता है। आभामण्डल देखने में दक्ष लोगों ने यह भी बताया कि इसे तभी देखा जा सकता है जब इसमें उभरने वाले रंगों की स्पष्टता हो। इसके लिए व्यक्तित्व का साफ-सुथरा होना भी

जरूरी है। यदि व्यक्ति चोर, हिंसक, झूठा व मायावी है तो उसके आभामण्डल में उभरने वाले रंग धब्बेदार और भद्दे होंगे। भावधारा मलिन और अस्त-व्यस्त होने के कारण ऐसे व्यक्तियों के आभामण्डल को सही ढंग से देखना और उनके व्यक्तित्व की सही-सही व्याख्या करना मुश्किल है।

यद्यपि आत्मा/चेतना का अपना कोई रंग नहीं। जैसे पुद्गल ग्रहण किये जाते हैं, आत्मा के भाव भी उसी प्रकार के हो जाते हैं। पुद्गल में स्पर्श, रस, गंध और वर्ण होने से बाहर से ग्रहण किए गए सभी पुद्गल रंगीन होते हैं। लेश्या द्वारा गृहीत ये पुद्गल भीतर जाकर भावों को बनाते हैं। जैसी भावधारा होगी, वैसे ही पुद्गल आकृष्ट होंगे और जैसे पुद्गल ग्रहण किये जायेंगे, वैसी ही भावधारा होगी। भावों और पुद्गलों का, भावों और रंगों का यह अन्योन्याश्रित संबंध जीवन की व्याख्या के लिए महत्त्वपूर्ण है। विकास के लिए भी महत्त्वपूर्ण है।

लेश्या और आभामण्डल में रंगों की विविध छवियों का अपना विशिष्ट महत्व होता है। रंग की छवियों की तारतम्यता होने पर रंग का प्रभाव बिल्कुल भिन्न हो जाता है। लेश्या के तारतम्यता के कारण भावचेतना में अंतर आ जाता है।

भाव-चिकित्सा के क्षेत्र में रंगों को बदल कर भावों को बदलने का प्रयत्न किया जाता है। मन और शरीर की स्वस्थता इससे स्वत: ही प्राप्त होती है। लेश्याध्यान/रंगध्यान इसी प्रक्रिया का संवाहक है। इस ध्यान द्वारा चक्रों/विशिष्ट चैतन्यकेन्द्रों पर शुभ रंगों का ध्यान कर व्यक्ति की भावधारा को बदला जा सकता है।

प्रस्तुत प्रकरण में लेश्या के साथ आभामण्डल की चर्चा को इसलिए प्रासंगिक एवं महत्त्वपूर्ण माना गया, क्योंकि लेश्या का सीधा संबंध सूक्ष्म शरीर/तैजस शरीर से है। तैजस शरीर विद्युत शरीर है। इससे निरन्तर विद्युत तरंगें विकिरित होती रहती हैं। ये विकिरणें स्थूल शरीर के चारों ओर वलय बनाती हैं जिसे आज आभामण्डल की संज्ञा दी जाती है। आभामण्डल की पहचान रंगों द्वारा होती है। लेश्या का संबंध पौद्गलिक स्तर पर रंगों के साथ और चैतसिक स्तर पर भावों के साथ जुड़ा है। भाव और रंग दोनों मिलकर व्यक्ति के व्यक्तित्व की व्याख्या करने में सक्षम हैं।

लेश्या और व्यक्तित्व निर्माण

जैन-दर्शन चित्त के बदलते स्वरूप को अच्छी तरह जानने और व्यक्ति की चेतना के स्तर पर घटित होने वाले विभिन्न व्यवहारों को समझने के लिए लेश्या का विश्लेषण प्रस्तुत करता है। लेश्या के मनोवैज्ञानिक अध्ययन के सन्दर्भ में यह अनिवार्य-सा प्रतीत होता है कि मनोविज्ञान में व्याख्यायित व्यक्तित्व के निर्माण, विकास और बदलाव के बिन्दुओं पर चर्चा की जाए। यह भी जरूरी है कि चेतना के बाहरी और भीतरी दोनों स्तरों से जुड़े लेश्या सिद्धान्त का इस संबंध में क्या मंतव्य है, यह भी जान लिया जाए।

देश, काल, परिस्थिति के साथ बदलता मनुष्य भिन्न-भिन्न रूपों में सामने आता है। प्रश्न उभरता है कि आखिर इतना बदलाव क्यों ? ऐसा कौन-सा वह प्रेरक तत्त्व है जो व्यक्ति द्वारा अवांछनीय व्यवहार करवा लेता है और वह चाहते हुए भी बदल नहीं पाता।

इस संदर्भ में मनोविज्ञान वंशानुक्रम, वातावरण, शरीर-रचना, नाड़ी-ग्रंथि-संस्थान, शरीर-रसायन आदि तत्त्वों को कारण मानता है। लेश्या सिद्धान्त भी इन सबको किसी न किसी रूप में स्वीकार करता है। संहनन, संस्थान, लिंग, क्षेत्र, काल आदि को निमित्त मानते हुए भी यह मुख्य कारक भाव-संस्थान और कर्म-संस्कार को मानता है।

व्यक्तित्व के निर्धारक तत्त्वों की अनुकूलता के बाद भी यदि व्यक्तित्व संगठित, समायोजित और परिपक्व नहीं बन पाता है तो इसका मुख्य कारण है अशुभ लेश्या में निरन्तर जीना। कर्म से जुड़ी लेश्या व्यक्तित्व के संगठन एवं विघटन का मुख्य कारक है। मोहनीय कर्म से जुड़ी अशुभ लेश्या में कषाय – क्रोध, मान, माया, लोभ और नोकषाय – हास्य रति, अरति आदि आवेगों, उपआवेगों का प्राबल्य रहता है। व्यक्तित्व विघटन का मुख्य तत्त्व है – मूर्च्छा यानी राग-द्वेष के संस्कार। प्राणी में तेजोलेश्या जागती है तभी धर्म की यानी अध्यात्म की यात्रा शुरू होती है।

लेश्या सिद्धान्त के अनुसार कर्म-विशुद्धि के आधार पर व्यक्तित्व के दो प्रकार किये जा सकते हैं – 1. औदयिक व्यक्तित्व, 2. क्षायोपशमिक, औपशमिक या क्षायिक व्यक्तित्व। इस संदर्भ में सात्विक, राजस और तामस व्यक्तित्व और मनोवैज्ञानिक दृष्टि से किये गए व्यक्तित्व के प्रकार भी विषय को स्पष्टता देते हैं। हीपोक्रेट्स, फ्रायड, युंग, क्रेशमर-शैल्डन आदि विद्वानों द्वारा प्रस्तुत व्यक्तित्व विभाजन भी महत्वपूर्ण है।

जैन साहित्य में लेश्या के आधार पर व्यक्तित्व के जो छह प्रकार बताए गए हैं उनमें एक-एक प्रकार के गुणों की जो व्याख्या की गई है उसका मनोवैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य में विशेष महत्व है। यह चरित्र व्याख्या निषेधात्मक, विधेयात्मक, बहिर्मुखी-अन्तर्मुखी व्यक्तित्व की पारदर्शी प्रस्तुति है।

लेश्या द्वारा व्यक्तित्व रूपान्तरण

लेश्या का कर्मशास्त्रीय विमर्श व्यक्तित्व रूपान्तरण की प्रेरणा है। कर्मों की दस अवस्थाओं में उद्वर्तना, अपवर्तना, संक्रमण, उदीरणा आदि अवस्थाएं व्यक्ति के पुरुषार्थ की अपेक्षा रखती हैं। साधना की विविध पद्धतियों द्वारा मूर्च्छा के टूटने पर शुभ लेश्यायें जागती हैं और व्यक्तित्व बदलता है।

साधना की श्रेणियों में उपशम श्रेणी वाला साधक आवेगों, संवेगों, अभिवृत्तियों को दबाता हुआ आगे बढ़ता है और क्षपक श्रेणी वाला जड़ से इन्हें उखाड़ देता है। यद्यपि हमारे लिए अभीष्ट क्षपक श्रेणी की ही प्रक्रिया है पर उपशम श्रेणी से भी एक सीमा तक व्यक्तित्व समायोजित होता है। जैनदर्शन मनोविज्ञान की तरह दमन को अवांछनीय नहीं मानता, अपितु वह दमन की प्रक्रिया से धीरे-धीरे शोधन की ओर बढ़ने की उत्प्रेरणा जगाता है।

शोधन द्वारा व्यक्ति के बाहरी और भीतरी दोनों व्यक्तित्व रूपान्तरित होते हैं। व्यक्तित्व बदलाव की प्रक्रिया में मनोविज्ञान में बताई गई निर्देशन, सम्मोहन, मनोविश्लेषण, आस्था आदि विधियां और जैन साधना पद्धति में निर्देशित तप, कायोत्सर्ग, अनुप्रेक्षा, प्रतिक्रमण और श्रद्धा की चर्चा उपलब्ध होती है।

व्यक्तित्व बदलाव के सन्दर्भ में ध्यान प्रक्रिया अपनी विशिष्ट भूमिका रखती है। ध्यान संवर और निर्जरा की पद्धति है। इससे पुराने संस्कारों का प्रक्षालन होता है तथा नए कर्म-संस्कारों का मार्ग अवरुद्ध होता है। योगों की चंचलता समाप्त होती है। इन्द्रियां नियन्त्रित और कषाय उपशमित होती हैं। यह निवृत्तिप्रधान जीवन का निर्माण करता है। इसमें प्रासंगिक रूप से ध्यान के भेद, प्रभेद, ध्यान की पूर्व तैयारी आदि के संबंध में विमर्श आवश्यक है।

जैन-दर्शन में ज्ञान, तपस्या, ध्यान, सभी के साथ लेश्या-विशुद्धि की बात जुड़ी है। इसके बिना सारे प्रयत्न व्यर्थ हैं। लेश्या विशुद्धि के लिए भावों के प्रति जागरूकता अपेक्षित है। रूपान्तरण भावजगत/लेश्याजगत की घटना है। जब भाव बदलता है तो विचार अपने आप बदल जाता है। जब विचार बदलता है तब विचार के पीछे चलने वाला व्यवहार भी बदलता है।

व्यक्तित्व रूपान्तरण का प्रारम्भ स्थूल शरीर की यात्रा से होता है। धीरे-धीरे सूक्ष्म का स्पर्श करता है। इस सन्दर्भ में प्रेक्षाध्यान की आध्यात्मिक वैज्ञानिक प्रक्रिया विमर्शनीय है। इसका आधार है आगम साहित्य व्याख्या ग्रंथ तथा उत्तरवर्त्ती साहित्य में आए हुए ध्यान विषयक प्रकरण। ध्यानाभ्यास की इस पद्धति में प्राचीन दार्शनिकों से प्राप्त बोध एवं साधना पद्धति को आधुनिक वैज्ञानिक सन्दर्भों में प्रतिपादित किया गया है।

साधना का मुख्य सूत्र है - 'जानो और देखो'। हम जैसे-जैसे देखते जाते हैं, वैसे-वैसे जानते चले जाते हैं। देखना वह है, जहां केवल चैतन्य सक्रिय होता है। जहां प्रियता और अप्रियता का भाव आ जाए, राग-द्वेष उभर जाए, वहां देखना-जानना गौण हो जाता है। प्रेक्षाध्यान पद्धति में हम बिना प्रियता-अप्रियता के जानने-देखने का अभ्यास करते हैं।

कायोत्सर्ग, श्वास-प्रेक्षा, शरीर-प्रेक्षा, समवृत्ति-श्वासप्रेक्षा, चैतन्यकेन्द्र-प्रेक्षा, लेश्या-ध्यान, ये सारी जीवन रूपान्तरण की प्रक्रियाएं हैं।

रंगध्यान - जैन साधना पद्धति में चैतन्य केन्द्रों पर रंगध्यान का प्रयोग बहुत प्राचीनकाल से होता रहा है। शास्त्रों में महामंत्र के पांच पदों का पांच विशिष्ट केन्द्रों पर पांच रंगों के साथ ध्यान करने का निर्देश मिलता है।

ध्यान करते समय धुंधले, भद्दे और अमनोज्ञ विद्युत विकिरणों को निष्प्रभावी बनाने हेतु स्पष्ट, चमकीले रंगों का प्रयोग मनोवैज्ञानिक प्रभाव दिखाता है।

आत्मा शरीरव्यापी होने के कारण चैतन्य पूरे शरीर में व्याप्त है। किन्तु कुछ ऐसे स्थान हैं जहाँ पर चैतन्य की सघनता है। ऐसे स्थान विशेष चैतन्य केन्द्र कहे जाते हैं। ये ज्ञान और शक्ति की अभिव्यक्ति के मुख्य स्रोत हैं। इनमें रंगों का अस्तित्व व्याप्त है।

जब तक चैतन्य केन्द्रों का जागरण/निर्मलीकरण नहीं होता, व्यक्ति अशुभ लेश्या/भावों में जीता है। इनके शुद्धिकरण हेतु ज्ञानकेन्द्र, ज्योतिकेन्द्र, दर्शनकेन्द्र, विशुद्धिकेन्द्र व आनन्दकेन्द्र पर क्रमशः पीत, श्वेत, अरुण, नीला एवं हरे रंग का ध्यान किया जाता है। आधुनिक मनोवैज्ञानिकों एवं चिकित्सकों ने इस बात को स्वीकृति दी है कि मस्तिष्क एवं सुषुम्ना पर किए गए रंगों के प्रयोग अधिक प्रभावी होते हैं, क्योंकि ये ऊर्जा-स्रोत हैं।

इस ग्रन्थ में लेश्या ध्यान की चर्चा व्यक्तित्व बदलाव के सन्दर्भ में की गई है, क्योंकि यह जीवन से सीधा जुड़ा पक्ष है। स्वस्थ व्यक्तित्व के विकास के लिए जरूरी है कि हम शुभ लेश्याओं द्वारा शारीरिक, मानसिक और उपाधिजनित दोषों का प्रक्षालन करें। मनोवैज्ञानिक चिकित्सा विधियों के साथ रंगों द्वारा भावचिकित्सा विधि को भी अवश्य जोड़ा जाए जिससे चैतसिक निर्मलता प्राप्त हो सके।

लेश्या और रंग-मनोविज्ञान में लेश्या के सभी पक्षों को छूने का प्रयत्न किया गया है। यद्यपि विशाल एवं गहन लेश्या के ज्ञान को पूर्णता से पकड़ पाना संभव नहीं, क्योंकि ज्ञान असीम है और बुद्धि की अपनी सीमा है। फिर भी लेश्या के अध्ययन में विविध रंगों और मानव व्यक्तित्व पर उसके मनोवैज्ञानिक पक्ष को उजागर करने का उद्देश्य रहा है। यद्यपि बहुत कुछ शेष रह गया है मगर आशा और विश्वास है कि भविष्य में शेष को अशेष बनाने का प्रयास गतिशील रहेगा।

प्रथम अध्याय

लेश्या का सैद्धान्तिक पक्ष

* जैन-दर्शन का द्वैतवाद और लेश्या का प्रत्यय
* लेश्या : परिभाषा के आलोक में
* लेश्या और योग के सन्दर्भ में विमर्श
* लेश्या विवेचन के विविध कोण
* द्रव्यलेश्या और भावलेश्या
* लेश्या और गुणस्थान
* लेश्या और भाव
* गति और लेश्या
* लेश्या की शुभ-अशुभ अवधारणा

प्रथम अध्याय

लेश्या का सैद्धान्तिक पक्ष

जैन-दर्शन का द्वैतवाद और लेश्या का प्रत्यय

सृष्टिवाद के सन्दर्भ में दर्शन जगत् की दो मुख्य धाराएँ हैं - अद्वैतवाद और द्वैतवाद। अद्वैतवाद के अनुसार चेतन और अचेतन (जड़) इन दो द्रव्यों में से कोई एक द्रव्य ही सृष्टि का उपादान है। किसी एक के द्वारा ही दूसरे की उत्पत्ति हो जाती है। द्वैतवादी दर्शन की धारणा इससे सर्वथा भिन्न है। वह जड़ और चेतन दोनों को समान रूप से सृष्टि का मुख्य घटक मानता है। चेतन का अस्तित्व पुद्गल के माध्यम से प्रकट होता है। देह पौद्गलिक है। देह और चेतन का बहुत गहरा संबंध है।

जैन-दर्शन द्वैतवादी दर्शन है। उसकी दृष्टि में जड़ और चेतन का संयोग संसार है और उनका वियोग मोक्ष है। इसी तथ्य को भगवती सूत्र में प्रकारान्तर में प्रस्तुत किया गया है। गौतम जीव और जगत् के वैचित्र्य के संबंध में भगवान महावीर के समक्ष अपनी जिज्ञासा रखते हैं। महावीर प्रत्युत्तर में कहते हैं - गौतम! जीव और जगत् का यह सारा वैचित्र्य कर्मकृत ही है, अकर्मकृत नहीं।[1] जब हम जड़ और चेतन के संयोग की बात करते हैं तो यह पहला प्रश्न उभरता है कि यह संयोग कब से है ? जैन-दर्शन इस संयोग को अनादि मानता है। जैसे वृक्ष और बीज में, मुर्गी और अण्डे में पौर्वापर्य नहीं खोजा जा सकता, वैसे ही इनमें पौर्वापर्य नहीं निकाला जा सकता। ये दोनों शाश्वत रूप में साथ-साथ चले आ रहे हैं। ऐसा कोई समय नहीं, जब जीव रहा और उसके साथ शरीर न रहा हो। जीव और शरीर का यह संबंध ही जड़ और चेतन का संयोग है। मुक्त आत्माएँ इस संबंध की अपवाद हैं।

संयोग की चर्चा करने के साथ ही यह दूसरा प्रश्न भी उभर कर सामने आ जाता है कि जड़ और चेतन का स्वभाव सर्वथा भिन्न है फिर इन दोनों में अंतःक्रिया कैसे होती है? यह प्रश्न वहाँ पैदा होता है जहाँ जीव को सर्वथा अमूर्त माना जाता है। चूंकि जैन-दर्शन की दृष्टि में हर संसारी आत्मा कथंचित् मूर्त है, इसीलिए मूर्त के द्वारा मूर्त जड़ शरीर के आकर्षण में कहीं कोई कठिनाई नहीं है। स्थूल पौद्गलिक पदार्थ भी जब मनुष्य को प्रभावित करते हैं, फिर कर्म जैसे सूक्ष्म पुद्गल स्कन्धों का तो कहना ही क्या ? बेड़ी मनुष्य को बाँधती है। मादक द्रव्य उसे पागल बनाते हैं। क्लोरोफार्म के प्रयोग से मूर्च्छा आ जाती है।

---

1. भगवती सूत्र 12/120, पृ. 567

संतुलित भोजन शरीर को पुष्ट और व्यक्ति को तुष्ट करता है। दण्ड आदि का प्रहार दु:खी बनाता है। कर्मपुद्गलों का आत्मा के साथ अत्यन्त घनिष्ठ संबंध होने के कारण उसका प्रभाव भी उतना ही गहरा होता है। निश्चय दृष्टि से आत्मा स्वरूपत: अमूर्त/अपौद्गलिक होने पर भी संसार दशा की अपेक्षा से मूर्त है। अमूर्त ज्ञान पर भी जब मूर्त मादक द्रव्यों का असर होता है तब कथंचित् मूर्त आत्मा के साथ मूर्त कर्मपुद्गलों की अन्त:क्रिया होने में कहीं कोई विप्रतिपत्ति नहीं है।

जड़ और चेतन के संयोग के संबंध में तीसरा प्रश्न है - इस संबंध को कौन प्रगाढ़ कर रहा है ? आत्मा के साथ जुड़ा कर्मशरीर निरन्तर प्रयत्नशील है। जैन-दर्शन की तरह अन्य दार्शनिक धाराएँ भी कर्म की सत्ता को स्वीकार करती हैं और इसे वासना, संस्कार इत्यादि रूपों में मान्यता देती हैं। पर जैन-दर्शन की तरह इसकी पौद्गलिक सत्ता स्वीकार नहीं करती। कर्मशरीर को एक ऐसा ऊर्जा भण्डार प्राप्त है जहाँ से निरन्तर विद्युत प्राप्त हो रही है। पारिभाषिक शब्दावली में इस ऊर्जा भण्डार को 'आश्रव'[1] कहा गया है। मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय और योग - ये पाँच आश्रव निरन्तर ऐसे पुद्गलों को आकृष्ट करते हैं जो सूक्ष्म शरीर को संपुष्ट कर रहे हैं।

हमारे शरीर में विद्युत आगमन की तीन प्रणालियाँ हैं - एक हमारा स्थूल शरीर और दूसरे उसके सहयोगी वाणी और मन। पारिभाषिक शब्दावली में इन्हें योग[2] कहा गया है। काययोग, वचनयोग और मनोयोग - इन तीनों साधनों के द्वारा पुद्गलों के खींचने की प्रक्रिया को[3] दीपक के उदाहरण से समझाया गया है। दीपक जल रहा है, बाती निरन्तर तेल को खींच रही है, इसी प्रकार इन तीनों से जुड़ी हमारी प्राणधारा निरन्तर कर्म पुद्गलों को आकृष्ट कर रही है।

पुद्गल के योग में भूमिका निभाती है - चंचलता। इस चंचलता की उपजीवी अन्य चार समस्याएँ हैं - मिथ्यादृष्टि, आकांक्षा, प्रमाद और आवेश। हवा न मिलने पर जिस प्रकार आग बुझ जाती है, उसी प्रकार योगजनित चंचलता के न होने पर ये चारों समाप्त हो जाते हैं।

भगवती सूत्र में कर्मबन्ध के हेतुओं को गौतम और महावीर के संवाद से समझाया गया है।

भंते! जीव कांक्षामोहनीय कर्म का बंधन करता है ?

हाँ गौतम!

---

1. आश्रव - जिस परिणाम से आत्मा के कर्मों का आश्रवण-प्रवेश होता है, उसे आश्रव-कर्मबन्ध का हेतु कहा जाता है।
2. कायवाङ्मनकर्मयोग:, तत्वार्थसूत्र 6/1; 3. तत्वार्थसूत्र टीका भाग-1, पृ. 343

भन्ते! वह किन कारणों से कर्म बाँधता है ?

गौतम! उसके दो हेतु हैं - प्रमाद और योग।

भन्ते! प्रमाद किससे उत्पन्न होता है ?

योग से।

भन्ते! योग किससे उत्पन्न होता है ?

वीर्य, पराक्रम, प्रवृत्ति से।

वीर्य किससे उत्पन्न होता है ?

शरीर से।

भन्ते! शरीर किससे उत्पन्न होता है ?

जीव से।[1]

प्रस्तुत संवाद से जहाँ एक ओर हम कर्मशरीर के संपोषण की प्रक्रिया को समझते हैं वहाँ दूसरी ओर जीव और कर्म के अनादि संबंध की बात भी बहुत सरलता से गम्य होती है। आत्मा और शरीर के संयोग से उत्पन्न होने वाले वीर्य को करणवीर्य या क्रियात्मक शक्ति कहा गया है। प्रत्येक शरीरधारी प्राणी अपनी सारी क्रियाएँ इसी शक्ति के आधार पर सम्पादित करता है।

हमारे चारों ओर विविध प्रकार के पुद्गल फैले हुए हैं। औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस, कार्मण, मन, वचन एवं श्वासोच्छवास वर्गणा[2] - ये आठ मुख्य संकाय हैं। प्रस्तुत प्रकरण में विवेच्य विषय कार्मण वर्गणा है। हम इसे द्रव्य कर्म भी कह सकते हैं।

कार्मण वर्गणा के पुद्गलों का यह वैशिष्ट्य है कि जब वे चेतना के द्वारा आकृष्ट हो उसके साथ एकमेक हो जाते हैं तो उनमें शक्ति विशेष का संचार हो जाता है। वे आवरण, विकार, प्रतिघात एवं शुभ-अशुभ रूप में निरन्तर हमारी चेतना को प्रभावित करते रहते हैं[3] जबकि अन्य वर्गणाओं के पुद्गलों में यह शक्ति नहीं होती। जैन-दर्शन के अनुसार कर्म वर्गणाएँ आठ प्रकार की हैं - जो ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय, अंतराय, वेदनीय, आयुष्य, नाम, गोत्र नामों से पहचानी जाती हैं।[4]

द्रव्यकर्म के कारण आत्मा जिस अवस्था में परिणत होता है वह भावकर्म है। वस्तुतः भावकर्म ही द्रव्यकर्म का संग्राहक है पर द्रव्यकर्म का कार्य आकर्षण मात्र के साथ ही समाप्त नहीं हो जाता। वह फिर नये भावकर्म के लिए ऊर्वरा तैयार कर देता है। इस प्रकार

---

1. भगवती 1/140-45, पृ. 28
2. वर्गणा - सामान्यतः समान गुण व जाति वाले समुदाय को वर्गणा कहते हैं।
3. जैन सिद्धान्त दीपिका 4/2; 4. उत्तराध्ययन 33/2, 3

दोनों में निमित्त-नैमित्तिक भाव सतत् चलता रहता है। भावकर्म से द्रव्यकर्म का संग्रह होता है और द्रव्यकर्म के उदय से भावकर्म में तीव्रता आती है।

जीव परिपाकहेउं कम्मत्ता पोग्गला परिणमंति ।
पोग्गल-कम्म-निमित्तं जीवो वि तहेव परिणमइ ॥[1]

कर्मबन्ध के संबंध में प्रज्ञापना के रचनाकार आचार्य श्यामार्य का मत ध्यातव्य है। कर्मबंध की प्रक्रिया के संबंध में गौतम के प्रश्न को समाहित करते हुए भगवान महावीर कहते हैं - गौतम! ज्ञानावरणीय कर्म के उदय से दर्शनावरणीय कर्म का बंध होता है। दर्शनावरणीय कर्म के उदय से दर्शन मोह का बंध होता है। दर्शनमोह के उदय से मिथ्यात्व का बंध होता है। मिथ्यात्व के उदय से अष्टविध कर्म प्रकृतियों का बंध होता रहता है।[2]

आचार्य विद्यानन्दी अपनी कृति अष्टसहस्री[3] में कर्म के संबंध में एक महत्वपूर्ण तथ्य उद्घाटित करते हैं। द्रव्यकर्म आवरण है और भावकर्म दोष। द्रव्यकर्म जहाँ हमारी आत्मिक शक्ति के प्रस्फुटन में आवरणभूत होता है वहीं भावकर्म उसे दूषित कर देता है।

कषाय कर्मों का संश्लेषक है। जिस प्रकार सूखे वस्त्र पर धूलिकण संगृहीत नहीं होते, वे उसका स्पर्श कर तत्काल विलग हो जाते हैं उसी प्रकार कषाय के अभाव में कर्म चेतना का स्पर्श कर उससे अलग हो जाते हैं। इस संश्लेषक के कारण ही कर्मबन्ध की दो अवस्थाएँ बनती हैं।[4] सकषाय अवस्था का कर्मबन्ध सांपरायिक बंध कहलाता है और निष्कषाय अवस्था के बंध को ईर्यापथिक नाम से जाना जाता है। ईर्यापथिक कर्मबन्ध की स्थिति बहुत स्वल्प होती है। पहले क्षण में बँधता है और दूसरे क्षण में विलग हो जाता है।

आत्मा और कर्म का संश्लेष चतुर्आयामी है। कर्म प्रकृति, स्थिति अनुभाग और प्रदेश इन चार आयामों में अपना कार्य पूरा करता है।[5]

प्रकृतिबंध	-	सामान्य रूप से गृहीत कर्म पुद्गलों का स्वभाव निर्धारण है। जैसे ये कर्मज्ञान के आवारक हैं, ये दर्शन के आवारक हैं, इत्यादि।
स्थितिबंध	-	आत्मा के साथ कर्मों के संबद्ध रहने की अवधि का निर्धारण।
अनुभागबन्ध	-	कर्मों के फल देने की शक्ति का निर्धारण।
प्रदेशबन्ध	-	आत्मा और कर्म की संयोगावस्था में कर्मपुद्गल अविभक्त होते हैं, तत्पश्चात् वे आत्मप्रदेशों के साथ एकीभूत हो जाते हैं। यह एकीभाव की अवस्था का प्रदेशबन्ध है।

---

1. प्रवचनसार वृत्ति, पृ. 455; 2. प्रज्ञापना 23/3, उवंगसुत्ताणि, खण्ड-2, पृ. 284
3. अष्टसहस्री, पृ. 51; 4. तत्त्वार्थ सूत्र 6/5; 5. ठाणं, 4/290

प्रदेशबन्ध के साथ होने वाले कर्म नियमत: भोगे जाते हैं पर अनुभाग बंध के रूप में आने वाले कर्मों का भोग वैकल्पिक होता है। वे कभी विपाक रूप में भोगे जाते हैं, कभी नहीं भी।[1]

प्रश्न उभरता है कर्मबन्ध की प्रक्रिया में आत्मा और कर्म का संबंध कैसे होता है, क्योंकि आत्मा तो चेतन अमूर्त्त है जबकि कर्म जड़ मूर्त है। इस संदर्भ में आगम लेश्या के रूप में समाधान देता है। आत्मा और कर्म को जोड़ने वाला, लिप्त करने वाला सेतु है - 'लेश्या' जिसके द्वारा आत्मा कर्मों से लिप्त होता है।[2] पंचसंग्रह में कहा गया है कि जैसे आमपिष्ट से मिश्रित गेरू मिट्टी के लेप द्वारा दीवार रंगी जाती है वैसे ही शुभ-अशुभ भावरूप लेश्या द्वारा आत्मा के परिणाम लिप्त होते हैं।[3]

संसार की सीमाओं का विस्तार या समीकरण पूर्वकृत कर्मों की अपेक्षा वर्तमान अध्यवसायों पर अधिक टिका है, क्योंकि कर्मबंध में परिणाम की बात महत्वपूर्ण है। जैसे शुभाशुभ परिणाम होंगे, उसी अनुपात में कर्मबन्ध होगा। 'परिणामे बन्ध:' कर्मबन्ध वस्तु से नहीं, राग-द्वेष के अध्यवसाय से होता है,[4] क्योंकि रागद्वेषजनित आत्म परिणामों को ही कर्म का बीज कहा गया है।[5] लेश्या के आत्मा के शुभ-अशुभ परिणाम हैं जो कर्मबंध का कारण बनते हैं, अत: कहना होगा कि लेश्या और कर्म में कारण-कार्य का संबंध है। लेश्यायें या आत्मा के विभिन्न परिणाम स्निग्ध-रुक्ष दशा में तद्-तद् कर्मबन्ध का कारण बनते हैं। उत्तराध्ययन सूत्र में शुभ-अशुभ लेश्या को कर्मलेश्या का नाम दिया है।[6] यह जीव को संसार चक्र में घुमाती है और पुण्य-पाप शुभ-अशुभ भावों से जोड़ती है।[7]

लेश्या : परिभाषा के आलोक में

लेश्या शब्द का प्रयोग जैन आगम स्थलों में अनेक स्थलों पर हुआ है, पर इसकी परिभाषा कहीं उपलब्ध नहीं होती है। इसका प्रमुख कारण प्राचीन साहित्य की शैली ही रहा प्रतीत होता है। प्राचीन साहित्य में किसी वस्तु का स्वरूप परिभाषा से स्पष्ट न करके उसे भेद-प्रभेदों से समझाया जाता था। आगम साहित्य में भी लेश्या के भेदों पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है।

आगम के व्याख्या साहित्य में सर्वप्रथम इस विषय पर अपनी लेखनी नवांगी टीकाकार आचार्य अभयदेव सूरि ने उठाई है। वे लिखते हैं - कृष्ण आदि द्रव्य वर्गणाओं की सन्निधि से होने वाला जीव का परिणाम लेश्या है।[8] इसी प्रसंग में वे एक प्राचीन गाथा भी उद्धृत करते हैं -

---

1. भगवती सूत्र 1/190; 2. जैनेन्द्र शब्द कोश, भाग-3, पृ. 422
3. पंचसंग्रह 1/143; 4. समयसार 265; 5. उत्तराध्ययन 32/7
6. उत्तराध्ययन 34/1; 7. पंचसंग्रह 1/142; 8. भगवती सूत्र 1/1/ प्र. 53 की टीका।

कृष्णादि द्रव्यसाचिव्यात्, परिणामो य आत्मनः ।
स्फटिकस्येव तत्रायं लेश्या शब्द प्रयुज्यते ॥

इस गाथा के रचनाकार का नाम आज भी अन्वेषणीय है। स्फटिक मणि में जिस वर्ण के धागे को पिरोया जाता है वह वैसी ही प्रतिभाषित होने लगती है। इसी प्रकार जैसी लेश्या की वर्गणाएँ जीव के सम्मुख आती हैं, वैसे ही उसके आत्म-परिणाम बन जाते हैं। लेश्या आत्म-परिणामों की संवाहिका है। लेश्या की यह परिभाषा उसके द्रव्य और भाव उभय रूपों का प्रतिनिधित्व करती है।

भगवती सूत्र की वृत्ति में लेश्या को परिभाषित करते हुए आचार्य अभयदेवसूरि लिखते हैं - कृष्णादि द्रव्यसानिध्यजनितो जीवपरिणामो लेश्या। आत्मा के साथ कर्म पुद्गलों को श्लिष्ट करने वाली प्रवृत्ति लेश्या है। ये योग के परिणाम विशेष हैं।[1] योग का निरोध होने पर इनका भी निरोध हो जाता है। स्थानांग सूत्र की वृत्ति में एक मत उद्धृत करते हुए अभय देव सूरि लिखते हैं - लेश्या कर्म निर्झर रूप है।[2] प्राणी इसके द्वारा कर्मों का संश्लेष करता है। जिस प्रकार वर्ण की स्थिति का निर्धारण उसमें विद्यमान श्लेष द्रव्य के आधार पर होता है, वैसे ही कर्मबंध की स्थिति का निर्धारण लेश्या से होता है। लेश्या की परिभाषा के सन्दर्भ में इन्हीं सब बिन्दुओं की विस्तृत विवेचना आचार्य मलयगिरि ने प्रज्ञापना सूत्र की वृत्ति[3] में की है। इस प्रसंग में उन्होंने लेश्या के संबंध में उठने वाले कुछ महत्त्वपूर्ण प्रश्नों को उत्तरित भी किया है।

द्रव्यलेश्या के पुद्गलों का ग्रहण किस कर्म उदय से होता है ? इस प्रश्न के उत्तर में वे कहते हैं - लेश्या को संसारत्व, असिद्धत्व आदि की तरह उदयभाव माना गया है। यह उदय शरीर नाम कर्म से ही होना चाहिए, क्योंकि बाहर से जो भी पुद्गल वर्गणाएँ ग्रहण की जाती हैं वे सब शरीर के द्वारा ही ग्रहण की जाती हैं। इसका एक दूसरा हेतु यह भी है कि लेश्या को योग का परिणाम मानने पर भी यह नामकर्म के उदय से ही निष्पन्न होगा, क्योंकि कोई भी योग-मानसिक, वाचिक और कायिक प्रवृत्ति शरीर कर्म के बिना नहीं होती। इस परिणति में हमें अन्तराय-कर्म के क्षयोपशम को भी सहवर्ती मानना होगा, क्योंकि योग अन्तरायकर्म के क्षयोपशम के साथ ही निष्पन्न होता है।

सामान्यतः ऐसा समझा जाता है कि शुभ नामकर्म के उदय से शुभलेश्या पुद्गलों का और अशुभ नामकर्म के उदय से अशुभलेश्या पुद्गलों का ग्रहण होना चाहिए। तेरापंथ के चतुर्थ आचार्य श्रीमज्जाचार्य ने इस संदर्भ में अपनी कृति "झीणी चर्चा" में आगमिक दृष्टि को प्रतिपादित किया है।[4]

मोह कर्म रो उदै निपन छे, अशुभ लेश्या त्रिहुं व्याप ।
पापकर्म बंध एक ही थी सातकर्म सूं नहिं बंधे पाप ॥

---

1. भगवती सूत्र 1/2/ प्र. 98 की टीका; 2. ठाणं, 1/51 सूत्र की टीका
3. प्रज्ञापना वृत्ति 17, प्रारम्भ में टीका; 4. झीणी चर्चा 1/16

अशुभलेश्या के कर्म पुद्गलों को ग्रहण करने से पापकर्म का बन्ध होता है। पापकर्म का एक मात्र हेतु मोहनीय कर्म है, उसके सिवाय अन्य किसी कर्म से इसका संबंध नहीं होता है।

तत्त्वार्थराजवार्तिक में लेश्या को परिभाषित करते हुए आचार्य अकलंक लिखते हैं - **कषायोदयरंजिता योगप्रवृत्तिलेश्या, कषाय के उदय से रंजित योग की प्रवृत्ति लेश्या है।** आत्म-परिणामों की शुद्धता और अशुद्धता की अपेक्षा से इसे कृष्ण आदि नामों से पुकारा जाता है।[1]

लेश्या की उपरोक्त परिभाषाओं एवं अन्य विवरण के आधार पर उसके संबंध में मुख्य तीन अभिमत हमारे सामने आते हैं -

1. योग परिणाम लेश्या
2. कर्म वर्गणानिष्पन्न लेश्या
3. कर्मनिस्यन्द लेश्या

योग परिणाम लेश्या

इस मत के मुख्य प्रवर्त्तक आचार्य हरिभद्रसूरि, आचार्य मलयगिरि एवं उपाध्याय विनयविजयजी हैं। आचार्य मलयगिरि ने प्रज्ञापना सूत्र के लेश्या पद की प्रस्तावना में इस विषय पर पर्याप्त विवेचन किया है।[2] लेश्या और योग में अविनाभावी संबंध है। जहाँ योग का विच्छेद होता है वहीं लेश्या परिसम्पन्न होती है। पर ऐसा होने पर भी लेश्या योगवर्गणा के अन्तर्गत नहीं है। वह एक स्वतंत्र द्रव्य है। कर्मशरीर का स्थूल परिणमन योग-मन, वचन और काया की प्रवृत्ति है तथा उसका सूक्ष्म परिणमन अतीन्द्रिय ज्ञानी ही पकड़ सकते हैं। कर्म के उदय और क्षयोपशम से जैसे हमारे योगों में परिवर्तन आता है, वैसे ही लेश्या भी सतत् परिवर्तन की प्रक्रिया से गुजरती रहती है। लोकप्रकाश में उपाध्याय विनयविजयजी ने भी इसी मत को ग्राह्य माना है।[3]

कर्मवर्गणा निष्पन्न लेश्या

उत्तराध्ययन के टीकाकार शांतिसूरि का मत है कि लेश्या का निर्माण कर्मवर्गणा से होता है। लेश्या कर्म रूप होते हुए भी उससे पृथक् है, क्योंकि दोनों का स्वरूप भिन्न-भिन्न है।[4]

उपर्युक्त अभिमतों के आधार पर इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि जीव जब तक कार्मण वर्गणाओं का आकर्षण करता रहता है तब तक ही लेश्या का अस्तित्व रहता है। उसके पश्चात् जीव अलेश्य हो जाता है।

कर्मनिष्यन्द लेश्या

लेश्या कर्म के निर्झर के रूप में है। जैसे निर्झर नित नए-नए रूप में प्रवाहित होता रहता है, वैसे ही लेश्या प्रवाह एक जीव के साथ अपने असंख्य रूप दिखलाता है। निस्यन्द

---

1. तत्वार्थराजवार्तिक 2/6; 2. प्रज्ञापना पद 17 की टीका, पृ. 330
3. लोकप्रकाश, सर्ग 3/285; 4. उत्तराध्ययन 34 टीका, पृ. 650

रूप का तात्पर्य बहते हुए कर्म प्रवाह से है। चतुर्दश गुणस्थान में कर्मसत्ता है, प्रवाह है पर वहां लेश्या का अभाव है, क्योंकि वहाँ नए कर्मों का आगमन नहीं होता। प्रज्ञापनावृत्ति में इस मत की सुव्यवस्थित समालोचना की गई है।

कर्मबंध के दो हेतु हैं - कषाय और योग। प्रकृतिबंध और प्रदेशबंध का संबंध योग से है और स्थितिबंध तथा अनुभागबंध का संबंध कषाय से है। जब कषाय की अवस्थिति के साथ लेश्या कार्य करती है तो कर्म का बन्धन प्रगाढ़ होता है और जब वह केवल योग के साथ सक्रिय होती है तो स्थिति और अनुभाग की दृष्टि से कर्म का बन्धन नाम मात्र का होता है। 13वें गुणस्थानवर्ती वीतराग पुरुषों के मात्र दो समय की स्थिति वाली ईर्यापथिक क्रिया का ही बंध होता है।

लेश्या और योग के सन्दर्भ में विमर्श

लेश्या और योग के पारस्परिक संबंध पर जैन साहित्य में काफी ऊहापोह है। लेश्या के साथ योग का क्या संबंध है ? इस सन्दर्भ में जैनाचार्यों ने अपनी-अपनी मान्यताओं की समीक्षा की है। फिर भी निष्कर्षत: कहना कठिन है कि लेश्या और योग का पारस्परिक संबंध क्या है ?

सामान्यत: कहा जा सकता है कि जहाँ योग है वहाँ लेश्या है, जहाँ लेश्या वहाँ योग है। फिर भी दोनों भिन्न-भिन्न तत्त्व हैं। भावत: लेश्या परिणाम तथा योग परिणाम जीव परिणामों में भिन्न-भिन्न बतलाए गए हैं। अत: भिन्न है। द्रव्यत: मनोयोग तथा वाक्योग के पुद्गल चतु:स्पर्शी है तथा काययोग के पुद्गल स्थूल है। लेश्या के पुद्गल अष्टस्पर्शी हैं लेकिन सूक्ष्म हैं, क्योंकि लेश्या के पुद्गलों को भावितात्मा अनगार न जान सकता है और न देख सकता है। अत: द्रव्यत: भी योग और लेश्या भिन्न-भिन्न है।[1] लेश्या परिणाम जीवोदय निष्पन्न है और योग वीर्यान्तराय के क्षय क्षयोपशमजनित है।[2]

कई आचार्यों का कहना है कि योग परिणाम ही लेश्या है, क्योंकि केवली शुक्ललेश्या परिणाम में विहरण करते हुए अवशिष्ट अन्तर्मुहूर्त्त में योग का निरोध करते हैं तभी वे अयोगीत्व और अलेश्यत्व को प्राप्त होते हैं, अत: कहा जा सकता है कि योग परिणाम ही लेश्या है। वह योग भी नामकर्म की विशेष परिणति रूप ही है। औदारिक आदि शरीरों द्वारा मन, वचन और काय वर्गणा के पुद्गलों को ग्रहण कर जो मानसिक , वाचिक एवं शारीरिक प्रवृत्ति की जाती है, वही क्रमश: मनोयोग, वचनयोग तथा काययोग है और वही लेश्या है।[3]

जीव परिणामों का वर्णन करते हुए ठाणांग के टीकाकार लेश्या परिणाम के बाद योग परिणाम क्यों आता है, इसका कारण बतलाते हुए कहते हैं कि योग परिणाम होने से लेश्या

---

1. प्रज्ञापना 3/1, पृ. 409; 2. अनुयोगसूत्र 127, पृ. 111; 3. ठाणं 1/51 की टीका

परिणाम होते हैं तथा समुच्छिन्न क्रिया ध्यान अलेशी के होता है। अत: लेश्या के बाद योग परिणाम का वर्णन किया गया है।

जिस प्रकार द्रव्यमन के पुद्गल और द्रव्य वचन के पुद्गल काययोग से गृहीत होते हैं उसी प्रकार लेश्या पुद्गल भी काय योग द्वारा ग्रहण होने चाहिए। 13वें गुणस्थान के शेष के अन्तर्मुहूर्त्त में मनोयोग तथा वचनयोग का सम्पूर्ण निरोध हो जाता है तथा काययोग का अर्थ निरोध हो जाता है, जब लेश्या परिणाम तो होता है लेकिन काययोग की अर्धता-क्षीणता के कारण द्रव्य लेश्या के पुद्गलों का ग्रहण रुक जाना चाहिए। 14वें गुणस्थान के प्रारम्भ में जब योग का पूर्ण निरोध हो जाता है तब लेश्या का परिणमन भी सर्वथा रुक जाता है। अत: जीव अयोगी अलेशी हो जाता है।

योग और लेश्या के विषय में एक दृष्टिकोण यह भी है कि दिगम्बर साहित्य में मार्गणाओं की क्रमिकता में योग के बाद लेश्या मार्गणा कही गयी है।[1] जिसका अभिप्राय है कि योग द्वारा होने वाला कर्मबंध संसार का कारण नहीं होता। इससे प्रकृति और प्रदेश बन्ध होता है। पहले क्षण में बँधते हैं, दूसरे क्षण में निर्जीण हो जाते हैं। लेकिन योग द्वारा ग्रहण किए गए कर्मपुद्गलों की स्थिति और उनमें फल देने की शक्ति का निर्माण लेश्या द्वारा होता है। लेश्या के साथ कषाय जब तक जुड़ा रहता है तब तक लेश्या कषायिक तीव्रता और मन्दता के आधार पर कर्मपुद्गलों की काल, मर्यादा और फलदान की शक्ति न्यूनाधिक निर्मित होगी। इसलिए योग के बाद लेश्यामार्गणा का क्रम रखा गया है।

कषाय और योग में लेश्या का अन्तर्भाव मानना युक्तिसंगत नहीं, क्योंकि दो धर्मों के संयोग से उत्पन्न किसी एक तीसरी अवस्था को प्राप्त हुए धर्म का किसी एक के साथ एकत्व अथवा समानता नहीं होती और दो के मिश्रण से उत्पन्न तीसरी वस्तु उन दोनों से भिन्न और अपनी पृथक् सत्ता रखती है।

योग और कषाय से लेश्या को भिन्न मानने का यह भी कारण है कि विपरीतता को प्राप्त हुए मिथ्यात्व अविरति आदि अवलम्बन रूप बाह्य पदार्थों के संपर्क से लेश्याभाव को प्राप्त हुए योग और कषाय से केवल योग या केवल कषाय के कार्य से भिन्न जो संसारवृद्धि रूप कार्य की उपलब्धि होती है उसे केवल योग या केवल कषाय का कार्य नहीं कहा जा सकता। अतएव लेश्या उन दोनों से भिन्न है।[2]

लेश्या, योग और कषाय के पारस्परिक संबंध के विषय में आठ आत्माओं का उल्लेख भी महत्त्वपूर्ण है। जैन-दर्शन आठ आत्माएँ मानता है। द्रव्यात्मा, कषायात्मा, योगात्मा, उपयोगात्मा, ज्ञानात्मा, दर्शनात्मा, चारित्रात्मा तथा वीर्यात्मा। लेकिन लेश्या रूप आत्मा को नहीं मानता। लेश्या आत्मा का विशिष्ट परिणाम होते हुए भी स्वयं आत्मा का भेद नहीं है तो आत्मा के आठ भेदों में से किसी एक में उसका अस्तित्व अन्तर्निहित अवश्य होना चाहिए।

---

1. चतुर्थ कर्मग्रन्थ, 9; 2. कर्मग्रन्थ 4 की व्याख्या, पृ. 20

सिद्धान्त की भाषा में कहा गया कि लेश्या की उत्पत्ति-अवस्थिति कषाय की उत्पत्ति-अवस्थिति पर निर्भर नहीं करती है। कषाय के साथ लेश्या का सहवस्थान नहीं है, क्योंकि अकषायी-सकषायी दोनों प्रकार के जीव सयोगी सलेशी हो सकते हैं। वीतराग अकषायी होते हैं पर उनके योगात्मा होती है। कषाय के अभाव में लेश्या की स्थिति रहती है, इसलिए कषायात्मा में लेश्या का अन्तर्भाव नहीं हो सकता। द्रव्यात्मा आत्मा का अपरिणामी स्वभाव है और भाव आत्मा का परिणामजन्य। अत: लेश्या द्रव्यात्मा के अन्तर्गत भी नहीं। ज्ञानी-अज्ञानी, अल्पज्ञानी-बहुज्ञानी, छद्मस्थ-केवली सभी के लेश्या होती है। केवली में सयोगी के लेश्या होती है, अयोगी के नहीं। अलेशी में सिर्फ केवलज्ञान होता है, अत: ज्ञान लेश्या के होने न होने का आधार नहीं है। अत: लेश्या ज्ञानात्मा के अन्तर्गत भी नहीं। मिथ्यादर्शी, सम्यग्दर्शी दोनों के लेश्या होती है। केवलदर्शी में सयोगी के लेश्या होती है, अयोगी के नहीं। अत: दर्शन लेश्या का कारण नहीं है, इसलिए दर्शनात्मा में भी लेश्या का अन्तर्भाव नहीं। यही बात उपयोगात्मा के विषय में है। मिथ्यात्वी में चारित्रात्मा नहीं होती पर लेश्या होती है। सम्यक्त्वी में चारित्रात्मा होती भी है और नहीं भी होती है पर लेश्या दोनों स्थिति में होती है। चौदहवें गुणस्थान में चारित्रात्मा के होते हुए भी लेश्या नहीं होती, अत: चारित्रात्मा में भी लेश्या का अन्तर्भाव नहीं। अब वीर्यात्मा और योगात्मा के विषय में एक बात विशेष द्रष्टव्य है।

इसका तात्पर्य यह है कि जीव का जब कर्मों के साथ बन्धन होता है, तब तैजस और कार्मण शरीर का निर्माण होता है। जीव आहार आदि ग्रहण करता है तो औदारिक आदि शरीर का निर्माण होता है। इस अपेक्षा से कहा गया है कि जीव शरीर से प्रवाहित होता है, क्योंकि बन्धन और आहार करने वाला जीव ही है। वीर्यान्तराय के क्षय और क्षयोपशम से जीवात्मा का वीर्यरूप जो परिणमन होता है, वह जीव के शरीर में ही होता है। मन, वचन, कायरूप परिस्पन्दन, हलन-चलन आदि जीव का जो व्यापार या चेष्टा है वह वीर्य के बिना सम्भव नहीं होती। इसीलिए कहा गया है कि योग वीर्य से प्रवाहित होता है। अत: लेश्या न तो वीर्यान्तराय और न ही योगात्मा में अन्तर्निहित की गई है।

एक मान्यता यह भी है कि योग और लेश्या एक नहीं, दो हैं। योग के दो रूप बनते हैं[1] – द्रव्ययोग और भावयोग। द्रव्ययोग पौद्गलिक है और भावयोग आत्मिक परिणति। योग की तरह लेश्या भी द्रव्यलेश्या और भावलेश्या दो रूप में हैं। द्रव्यलेश्या पौद्गलिक परिणति है और भावलेश्या आत्मिक परिणति। इस अर्थ में योग और लेश्या में समानता प्रतीत होती है किन्तु दोनों एक नहीं कहे जा सकते।

जहाँ लेश्या है वहाँ योग है और जहाँ योग है वहाँ लेश्या है। यह इनका सहावस्थान है। इनमें साहचर्य का संबंध है। किन्तु इसका स्वरूप एक नहीं। काययोग का संबंध शरीर की क्रिया से है। वचन योग का वाणी से और मनोयोग का संबंध चिन्तन से है। पर लेश्या

---

1. झीणी चरचा, टिप्पणी – आचार्य महाप्रज्ञ, पृ. 8

का संबंध भावधारा से है। चिन्तन और भावधारा दोनों भिन्न हैं। चिन्तन मन की क्रिया है और भाव चित्त की क्रिया। जैसा भाव होता है वैसा विचार बनता है, भाव विचार का जनक है पर भाव और विचार एक नहीं। भाव चेतना का स्पन्दन है, वह स्थायी तत्त्व है। मन उत्पन्न होता है और विलीन होता है। वह फिर उत्पन्न होता है और विलीन होता है इसलिए अस्थायी तत्त्व है। इस दृष्टि से मनोयोग और लेश्या एक नहीं है।

एकेन्द्रिय से लेकर असन्नी पंचेन्द्रिय तक के जीवों में लेश्या होती है पर मनोयोग नहीं होता।[1] इससे भी स्पष्ट प्रतीत होता है कि लेश्या और मनोयोग एक नहीं।

लेश्या आन्तरिक अध्यवसाय है। वह कर्म शरीर से परिस्पन्दित और तैजस शरीर से अनुप्राणित होकर चित्त के साथ काम करती है। वह हमारी भावधारा है जो मानसिक चिन्तन या विचार को प्रभावित करती है। मन का संबंध केवल औदारिक शरीर या स्थूल शरीर के साथ है। लेश्या का संबंध कर्म शरीर, तैजस शरीर और औदारिक शरीर तीनों के साथ है। भावयोग के साथ भावलेश्या का अन्वय व्यतिरेकी संबंध घटित नहीं होता। केवली के काययोग और वचनयोग, ये दोनों भावात्मक (भावयोग) होते हैं तथा मनोयोग द्रव्ययोग होता है। केवली के शुक्ललेश्या होती है वह भी द्रव्यलेश्या है। भावलेश्या उनके नहीं होती। यदि भावलेश्या उनके हो तो फिर सिद्धों में भी लेश्या का अस्तित्व मानना पड़ेगा।

आचार्य मलयगिरि ने लेश्या को योग निमित्तज बतलाया है। यह कथन द्रव्ययोग और द्रव्यलेश्या की दृष्टि से है, क्योंकि द्रव्यलेश्या की वर्गणा का संबंध तैजस शरीर की वर्गणा से है। इसलिए द्रव्यलेश्या और तैजस शरीर की वर्गणा का संबंध अन्वय-व्यतिरेकी माना जा सकता है किन्तु भाव लेश्या और योग में अन्वय-व्यतिरेकी संबंध नहीं। तेरापंथ के चतुर्थ आचार्य जीतमलजी ने इस ओर संकेत किया कि "**जहां सलेशी तिहां सजोगी, जोग तिहां कही लेस, जोग लेस्यां में कायंक फेर छे, जाण रह्या जिणरेस॥**" योग और लेश्या में वास्तविक अन्तर क्या है, यह तो जिनेश्वर भगवान ही जानते हैं।[2]

लेश्या विवेचन के विविध कोण

जैन साहित्य में लेश्या का विवेचन किसी एक कृति में, एक ग्रंथ में उपलब्ध नहीं होता। वह अनेक ग्रंथों में प्राप्त होता है। भगवती, प्रज्ञापना एवं उत्तराध्ययन का लेश्या विवेचन विशेष मननीय है। इसमें परिणाम, वर्ण आदि द्वारों से लेश्या का विवेचन किया गया है। भगवती एवं प्रज्ञापना में समागत द्वार इस प्रकार है -

1. परिणाम 2. वर्ण 3. रस 4. गन्ध 5. शुद्ध 6. अप्रशस्त 7. संक्लिष्ट 8. ऊष्ण 9. गति 10. परिमाण 11. प्रदेश 12. वर्गणा 13. अवगाहना 14. स्थान 15. अल्पबहुत्व।[3]

---

1. कर्मग्रन्थ 4/स्वोपज्ञ टीका, पृ. 174
2. झीणी चरचा, ढाल 1/गा. 9
3. प्रज्ञापना - 17/4/1 (उवंगसुत्ताणि, खण्ड - 2, पृ. 229)

यद्यपि उत्तराध्ययन में ग्यारह द्वारों में ही लेश्या की चर्चा की गई है पर उन द्वारों में नाम, लक्षण, स्थिति और आयु नये द्वार हैं।[4]

दिगम्बर आम्नाय के प्रमुख ग्रन्थ गोम्मटसार में भी लेश्या की चर्चा पन्द्रह द्वारों में हुई है पर इनमें से कई द्वार ऐसे हैं जिनकी चर्चा पूर्ववर्णित ग्रंथों में नहीं है। प्रस्तुत ग्रंथ में नाम द्वार के स्थान पर निर्देश शब्द का प्रयोग किया गया है। इसके अतिरिक्त नवीन समाविष्ट द्वार इस प्रकार है - संक्रम, कर्म, स्वामी, साधना, काल और अन्तर।[1]

उपर्युक्त सभी ग्रन्थों में लेश्या का विवेचन लेश्या के दोनों रूपों - द्रव्य और भाव की अपेक्षा से है। यदि हम इन्हें द्रव्यलेश्या और भावलेश्या के भिन्न-भिन्न वर्गीकृत करें तो यह वर्गीकरण इस प्रकार होगा -

द्रव्यलेश्या : नाम, वर्ण, रस, गन्ध, स्पर्श, परिणाम, प्रदेश, अवगाहना, स्थिति, स्थान, अल्पबहुत्व।

भावलेश्या : शुद्धत्व, प्रशस्तत्व, संक्लिष्टत्व, परिमाण, स्थान, गति, लक्षण, अल्पबहुत्व।

नाम/निर्देश

लेश्या के दो प्रकार बतलाए हैं - द्रव्यलेश्या और भावलेश्या। स्थानांग, समवायांग, भगवती, उत्तराध्ययन आदि आगमों में लेश्या के छः भेद कहे हैं - कृष्णलेश्या, नीललेश्या, कपोतलेश्या, तेजोलेश्या, पद्मलेश्या और शुक्ललेश्या। द्रव्यार्थिक नय के अन्तर्गत यह वर्गीकरण नैगमनय की विवक्षा से है। पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से लेश्या के असंख्य वर्गीकरण हो सकते हैं, क्योंकि हमारे आत्म-परिणामों के असंख्य प्रकार बनते हैं।

लेश्या के इन प्रचलित छः भेदों के अतिरिक्त संयोगजा नाम की एक सातवीं लेश्या भी मानी गई है। यह शरीर के छाया के रूप में है। औदारिक, औदारिक मिश्र, वैक्रिय, वैक्रियमिश्र, आहारक, आहारक-मिश्र और कार्मण - ये जीव शरीर के सात प्रकार हैं। इनको काययोग भी कहा जाता है। ये काययोग के सात प्रकार बतलाए गए हैं। इन सभी शरीरों की छाया भी इसी संयोगजा नाम की सातवीं लेश्या में समाविष्ट होती है। उत्तराध्ययन चूर्णि के रचनाकार आचार्य जयसिंह सूरि का इस सन्दर्भ में मत विशेष ध्यातव्य है।[2]

कर्मलेश्या और नो-कर्मलेश्या के रूप में भी लेश्या का एक वर्गीकरण प्राप्त होता है। कर्मलेश्या का तात्पर्य है - सकर्मा (कर्म रहित) प्राणी से होने वाली लेश्या और नोकर्मलेश्या निष्कर्म अर्थात् अकर्मा (निर्जीव प्राणी) से निकलने वाली लेश्या। जिस प्रकार सजीव प्राणी के शरीर से निरन्तर लेश्या विकीर्ण होती रहती है उसी प्रकार निर्जीव पदार्थों से भी एक रश्मि मण्डल निकलता रहता है। प्राचीन आचार्यों ने नोकर्मलेश्या के

---

1. गोम्मटसार जीव, 491-92
2. जयसिंहसूरि - सप्तमी संयोगजा इयं च शरीरच्छायात्मिका परिगृह्यते अन्येत्वौदारिकौदारिक-मिश्रमित्यादिभेदतः सप्तविधत्वेन जीवशरीरस्य तच्छायामेव कृष्णादिवर्णरूपां नोकर्माणि सप्तविधां जीवद्रव्यलेश्या मन्यते तथा। - उत्तराध्ययन 34, अगस्त्य चूर्णि 350

रूप में सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र, तारा, आभरण, आच्छादन, दर्पण, मणि, कांगिणी-चक्रवर्ती का रत्न आदि को परिगणित किया है।[1] यहां सूर्य, चन्द्र आदि का तात्पर्य उनके विमानों से है। जैन मान्यता के अनुसार ये शस्त्रोपहत होने के कारण अजीव है। रजत, ताम्र आदि धातुओं को भी इसी वर्गीकरण के अन्तर्गत रखा जा सकता है।

लेश्याओं के वर्ण

लेश्या शब्द से प्रतिध्वनित होता है कि इस विषय में वर्ण की चर्चा मुख्य है। अलग-अलग लेश्याओं के वर्ण के सन्दर्भ में इस प्रकार विवेचन उपलब्ध होता है :

कृष्णलेश्या : स्निग्ध मेघ, महिष, द्रोण, काक, खंजन तथा काजल की तरह कृष्ण

नीललेश्या : नील अशोक, घासपक्षी की पांख, वैडूर्यमणि की भांति स्निग्ध नील वर्ण।

कापोतलेश्या : अलसी (अलस-धान्य विशेष के फूल) कोफिल या तेलकंटक वनस्पति, पारापत की ग्रीवा की भांति कापोती वर्ण।

तेजोलेश्या : हिंगुल, उदीयमान सूर्य, शुकतुण्ड के समान लाल।

पद्मलेश्या : टूटा हुआ हरिताल, पिण्डहरिद्र (विशेष हल्दी) तथा सन और असन के पुष्प सदृश पीला।

शुक्ललेश्या : शंख, अंक-मणि विशेष, कुन्दन पुष्प, दूध और तूल के समान श्वेत[2]

गोम्मटसार के रचनाकार आचार्य नेमीचन्द्र का अभिमत इस प्रकार है - वर्ण के रूप में कृष्ण, नील आदि लेश्या क्रमशः भौंरें, नीलम, कबूतर, स्वर्ण, कमल और शंख के समान होती हैं।[3]

लेश्या के गन्ध

कृष्ण, नील आदि छः लेश्याओं में प्रथम तीन लेश्याओं को अप्रशस्त और शेष तीन लेश्याओं को प्रशस्त माना गया है। अप्रशस्त लेश्याओं की गन्ध मृत गाय, मृत कुत्ता और मृत सर्प की दुर्गन्ध से भी अनन्तगुना दुर्गन्ध वाली होती हैं तथा अन्तिम तीन लेश्याएं सुरभित पुष्पों तथा घिसे हुए सुगन्धित द्रव्यों से भी अनन्तगुना सुगन्ध वाली होती हैं।[4]

लेश्या के रस

द्रव्यलेश्या के छः भेद पांच रस वाले होते हैं -

1. कृष्णलेश्या - तुम्बे से अनन्तगुना कटुक।
2. नीललेश्या - त्रिकुट (सोंठ, पीपल और कालीमिर्च) से अनन्तगुना तिक्त।
3. कापोतलेश्या - केरी से अनन्तगुना कषैला।
4. तेजोलेश्या - पके आम तथा कपित्थ से अनन्तगुना मधुर-आम्ल।

---

1. उत्त. निर्युक्ति गा. 34/535-38, पृ. 650;
2. उत्तराध्ययन 34/4-9
3. गोम्मटसार, जीवकाण्ड, 495;
4. उत्तराध्ययन 34/16-17

5. पद्मलेश्या – मधु, मैरेय आदि आसवों से अनन्तगुना आम्ल, कषैला, मधुर।
6. शुक्ललेश्या – खजूर आदि से अनन्तगुना मधुर, अत्यन्त मधुर।[1]

लेश्या के स्पर्श

तीन अप्रशस्त लेश्याओं का स्पर्श करौत गाय की जीभ, शाक के पत्ते से भी अनन्तगुना कठोर और प्रशस्त लेश्याओं का स्पर्श नवनीत न सिरीष पुष्पों से भी अनन्तगुना कोमल बताया गया है।[2] स्थानांग और प्रज्ञापना में इस स्पर्श वैचित्र्य को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि कठोर स्पर्श का कारण है – शीत रुक्ष स्वभाव वाले परमाणुओं का आधिक्य और कोमल स्पर्श का कारण है उष्ण-स्निग्ध स्वभाव वाले परमाणुओं का आधिक्य।

शरीर के स्पर्श की चर्चा प्राचीनकाल से ही होती रही है। शत्रु को पराभूत करने के लिए विषकन्याओं का प्रयोग किया जाता था। उन कन्याओं के शरीर का स्पर्श मारक होता था। आज भी ऐसी स्त्रियों एवं कन्याओं के विषय में सूचनाएं मिलती हैं, जिनका स्पर्श विद्युत के समान और मारक होता है। इनको इलेक्ट्रिक गर्ल्स के नाम से जाना जाता है।

वर्ण, गंध, रस, स्पर्श के अतिरिक्त प्रशस्त लेश्याओं के साथ इष्टतर, कांततर, मनोज्ञतर, मनामतर शब्दों का प्रयोग भी मिलता है। अप्रशस्त लेश्याओं के साथ इनके विपरीतार्थक शब्द अनिष्टतर, अकांततर, अमनोज्ञतर, अमनामतर शब्द प्रयुक्त हुए हैं।[3] ये लेश्या के स्वरूप को और स्पष्ट करते हैं। इन्हें उदाहरणों से समझाया गया है। जैसे कस्तूरी कृष्ण होने पर भी इष्ट, कान्त, मनोज्ञ, मनाम होती है वैसे ही प्रशस्त लेश्या का परिणाम व्यक्ति को इष्ट, कान्त, मनोज्ञ और मनाम मिलता है।[4]

प्रदेश और अवगाह

द्रव्यलेश्या अनन्त प्रदेशात्मक है। इसके पीछे दो हेतु हैं – प्रथम उनके योग्य द्रव्य परमाणु अनन्त-अनन्त होते हैं। दूसरा अनन्त प्रदेशी स्कन्ध के बिना वे जीव के उपयोग में नहीं आ सकती। लेश्या का अवगाह क्षेत्र असंख्य प्रदेशात्मक बतलाया गया है।[5]

गोम्मटसार में स्वस्थान, समुद्घात और उत्पाद की अपेक्षा लेश्या के अवगाह पर विचार किया गया है। प्रथम तीन लेश्याओं का अवगाह क्षेत्र सर्वलोक है तथा अन्तिम तीन लेश्याओं का क्षेत्र लोक का असंख्यातवां भाग है। समुद्घात की अपेक्षा शुक्ल लेश्या का क्षेत्रावगाह सम्पूर्ण लोक परिमाण होता है।[6]

जीव की अवगाहना भी असंख्य प्रदेश बतलाई गई है। प्रश्न उठता है कि क्या जीव की अवगाहना और लेश्या की अवगाहना का परस्पर संबंध है ? यहां जिस लेश्या का विवेचन किया जा रहा है, वह कर्मलेश्या है। कर्मलेश्या जीव से व्यतिरिक्त नहीं होती। इसीलिए जीव का जो अवगाहना क्षेत्र है वही लेश्या का अवगाहना क्षेत्र है।

---

1. उत्तराध्ययन 34/10-15; 2. वही, 34/18
3. प्रज्ञापना 17/123, (उवंगसुत्ताणि, खण्ड-2 पृ. 231); 4. प्रज्ञापना टीका, पत्रांक 362
5. प्रज्ञापना 17/141 उवांगसुत्ताणि पृ. 235; 6. गोम्मटसार, जीवकाण्ड – 543

संख्या/स्थान

लेश्या के स्थानों अथवा भेदों पर विमर्श करते समय हमें दो दृष्टियों से सोचना होगा। द्रव्यलेश्या की अपेक्षा से लेश्या के असंख्य स्थान हैं। ये स्थान पुद्गल की मनोज्ञता-अमनोज्ञता, सुगन्धता-दुर्गन्धता, विशुद्धता-अविशुद्धता तथा शीत-रुक्षता या स्निग्ध-उष्णता की हीनाधिकता की अपेक्षा से है। भावलेश्या में होने वाले तारतम्य की अपेक्षा उसके भेद करें तो काल की अपेक्षा असंख्य अवसर्पिणी उत्सर्पिणी समय जितने होंगे अथवा क्षेत्र की अपेक्षा से इसकी गणना करें तो लोकाकाश जितने होंगे। असंख्य प्रदेशात्मक माना गया है।[1]

भावलेश्या के स्थान कृष्णादि द्रव्यलेश्या सापेक्ष है, क्योंकि द्रव्यलेश्या के स्थान के बिना भावलेश्या का स्थान बन नहीं सकता है। जितने द्रव्यलेश्या के स्थान होते हैं, उतने ही भावलेश्या के स्थान होने चाहिए।

लेश्या की स्थिति

लेश्या की स्थिति का वर्णन श्वेताम्बर और दिगम्बर साहित्य में कुछ भिन्नता लिए हुए है। इस कालमान का मापन सूत्र है - कषायों की तीव्रता और मन्दता के आधार पर होने वाला आत्मपरिणाम।

लेश्या स्थिति

	श्वेताम्बर मान्यता[2]		दिगम्बर मान्यता[3]	
लेश्या	जघन्य	उत्कृष्ट	जघन्य	उत्कृष्ट
कृष्णलेश्या	अन्तर्मुहूर्त्त	अनन्तमुहूर्त्त अधिक तैतीस सागर	अन्तर्मुहूर्त्त	तैतीस सागर
नीललेश्या	अन्तर्मुहूर्त्त	पल्योपम के असंख्यातवें भाग अधिक दस सागर	अन्तर्मुहूर्त्त	सत्तरह सागर
कापोतलेश्या	अन्तर्मुहूर्त्त	पल्योपम के असंख्यातवें भाग अधिक तीन सागर	अन्तर्मुहूर्त्त	सात सागर
तेजोलेश्या	अन्तर्मुहूर्त्त	पल्योपम के असंख्यातवें भाग अधिक दो सागर	अन्तर्मुहूर्त्त	दो सागर
पद्मलेश्या	अन्तर्मुहूर्त्त	मुहूर्त्त अधिक दस सागर	अन्तर्मुहूर्त्त	अठारह सागर
शुक्ललेश्या	अन्तर्मुहूर्त्त	मुहूर्त अधिक तैतीस सागर	अन्तर्मुहूर्त्त	तैतीस सागर

1. उत्तराध्ययन 34/33; 2. वही, 34/34-39; 3. तत्वार्थ राजवार्तिक पृ. 241

लेश्या और दुर्गति-सुगति

जीव अपने आत्मपरिणामों के अनुसार तिर्यञ्चों आदि गतियों में परिभ्रमण करता है। नरक और तिर्यञ्च रूप को दुर्गति माना गया है। देव तथा मनुष्य के रूप में पैदा होने को सुगति। कारण में कार्य का उपचार करने पर लेश्या को सुगति और दुर्गति का सर्जक कहा गया है। कृष्ण, नील, कापोत - इन तीन अशुभ लेश्याओं को दुर्गति में जाने का कारण बताया है और तेज, पद्म तथा शुक्ल - इन तीन शुभ लेश्याओं को सुगति में जाने का कारण बताया है।[1] प्रख्यात टीकाकार मलयगिरि ने प्रज्ञापना सूत्र की वृत्ति में कहा है -

दुर्गतिगामिन्यः संक्लिष्टाध्यवसाय हेतुत्वात्।
सुगतिगामिन्यः प्रशस्ताध्यवसायकारणत्वात्॥

संक्लिष्ट अध्यवसायों के कारण लेश्या दुर्गति की एवं असंक्लिष्ट अध्यवसायों के कारण लेश्या सुगति का कारण बनती है।[2]

जैसे वृक्ष और बीज के बीच एक-दूसरे की उत्पत्ति की शृंखला चलती रहती है, वैसे ही अध्यवसाय और लेश्या की कड़ी कहीं विच्छिन्न नहीं होती। उत्तराध्ययन में इसी कारण से शुभलेश्या को धर्मलेश्या और अशुभलेश्या को अधर्मलेश्या कहा है।[3]

सन्दर्भ जन्म और मृत्यु का

लेश्या का सिद्धान्त केवल जीव की उत्पत्ति के साथ ही जुड़ा हुआ नहीं है, मृत्यु के साथ भी उसका गहरा संबंध है। जीव मृत्यु के समय जिस लेश्या के पुद्गलों को ग्रहण करता है, मरणोपरान्त वैसी ही लेश्या में जाकर उत्पन्न होता है। दूसरे शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि जिस जीव को जिस योनि में जाकर जन्म लेना होता है, मरणकाल में वैसी ही लेश्या प्राप्त हो जाती है। मृत्यु और जन्म के सन्दर्भ में लेश्या की चर्चा करते हुए यह कथन विशेष रूप से ध्यातव्य है कि लेश्याओं की प्रथम और अन्तिम समय की परिणति में किसी भी जीव की भवान्तर में उत्पत्ति नहीं होती। भवान्तर लेश्या परिणति के अन्तर्मुहूर्त्त बीतने पर और अन्तर्मुहूर्त्त शेष रहने पर ही जीव भवान्तर में जाता है।[4]

मरण के समय लेश्या परिणाम

मरणकाल में होने वाली लेश्या के विविध परिणमन की अपेक्षा मृत्यु के तीन प्रकार हैं - 1. स्थित लेश्य मरण 2. संक्लिष्ट लेश्य मरण 3. पर्यवजात (विशुद्धमान) लेश्य मरण।

लेश्या की अपेक्षा से बाल-मरण, पंडित-मरण और बाल-पंडित मरण की विवक्षा से ठाणं सूत्र में तीन भेद निर्दिष्ट हैं -

---

1. ठाणं - 3/517-18;
2. प्रज्ञापना 17/4 टीका
3. उत्तराध्ययन 34/56, 57;
4. उत्तराध्ययन 34/60

बाल मरण - 1. स्थितलेश्य 2. संक्लिष्टलेश्य 3. पर्यवजातलेश्य।
पंडित मरण - 1. स्थितलेश्य 2. असंक्लिष्टलेश्य 3. पर्यवजातलेश्य।
बालपंडित मरण - 1. स्थितलेश्य 2. असंक्लिष्टलेश्य 3. अपर्यवजातलेश्य।[1]

बाल मरण

बाल मरण मरने वाले जीव को जिस समय कृष्ण आदि अशुद्ध लेश्याएं न शुद्ध होती हैं और न अधिक संक्लिष्टता की ओर बढ़ती हैं, उस समय उसका स्थितलेश्य मरण होता है। जब कृष्णलेश्या वाला जीव मरकर कृष्णलेश्या वाले नरक में उत्पन्न होता है तब यह स्थिति बनती है।

जब अशुद्ध लेश्या अधिक संक्लिष्ट होती जाती है तब संक्लिष्टलेश्य मरण होता है। जब नील आदि लेश्या वाला जीव मरकर कृष्णलेश्या वाले नरक में उत्पन्न होता है, तब यह स्थिति बनती है।

जब अशुद्धलेश्या शुद्ध बनती जाती है तब पर्यवजातमरण होता है। कृष्ण या नील लेश्या वाला जीव जब मरकर कापोत लेश्या वाले नरक में उत्पन्न होता है, तब यह स्थिति होती है।

नारक और देवता को उस क्षेत्र में विद्यमान द्रव्यलेश्या की वर्गणाओं की विवक्षा से स्थितलेश्या कहा गया है, उनके परिणाम भी अधिकांशत: उस लेश्या के अनुरूप होते हैं, क्योंकि द्रव्यलेश्या और भावलेश्या एक-दूसरे की पूरक है।

परिणाम

मन के परिणाम शुद्ध और अशुद्ध दोनों होते हैं। उनके निमित्त से लेश्या भी शुद्ध और अशुद्ध दोनों होती हैं। निमित्त और उपादान दोनों का पारस्परिक संबंध है। लेश्या के निमित्त को द्रव्यलेश्या और मन के परिणाम को भावलेश्या कहा गया है।

भावलेश्या आत्मा का परिणाम है। यह संक्लिष्ट और असंक्लिष्ट योग से अनुगत है। उसके जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट, तीव्र, तीव्रतर, तीव्रतम, मन्द, मन्दतर और मन्दतम आदि विविध भेद हैं। उन भेदों की अपेक्षा से भावलेश्या के अनेक प्रकार हैं। आगमों में लेश्या के परिणामों का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि यदि जीव के संक्लिष्ट परिणामों में हानि होती है तो वह अशुभ कृष्ण, नील और कापोत लेश्याओं के उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य अंशों में क्रमश: परिणमन करता है। जीव के संक्लिष्ट परिणामों में वृद्धि होने पर कापोतलेश्या वाला क्रमश: नील और कृष्णलेश्या की स्थिति में पहुंच जाता है। शुभलेश्याओं के परिणमन का क्रम भी यही है।[2]

उत्तराध्ययन सूत्र में मानसिक परिणामों की तरतमता के आधार पर लेश्या के तीन, नौ, सत्ताईस, इक्यासी, दो सौ तैतालीस परिणमन-विकल्प बताए गए हैं।[3]

---

1. ठाणं 3/520-522; 2. गोम्मटसार, जीवकाण्ड - 501-503
3. उत्तराध्ययन 34/20

लेश्या स्थान का अल्प-बहुत्व

जैन-दर्शन में सांख्यिकी विद्या की दृष्टि से गहन विमर्श हुआ है। प्रज्ञापना के रचनाकार एक पद (अध्याय) अल्प-बहुत्व में इसी बिन्दु पर विश्लेषण करते हैं। लेश्याओं के संबंध में भी अल्प-बहुत्व की दृष्टि से विचार किया गया है। शुक्ललेश्या वाले जीवों का संख्या-परिणाम सबसे कम है। पद्मलेश्या वाले जीव उनसे संख्यातगुणा अधिक है। तेजोलेश्या वाले उनसे संख्यातगुणा अधिक है। अलेशी जीव उनसे अनन्तगुणा अधिक जीव है। कापोतलेश्या वाले अलेशी की अपेक्षा अनन्तगुणा अधिक है। कापोतलेश्या की अपेक्षा नीललेश्या वाले और नीललेश्या वालों की अपेक्षा कृष्णलेश्या वाले और कृष्णलेश्या वालों की अपेक्षा सलेश्य जीव विशेषाधिक हैं। इसे प्रज्ञापना की वृत्ति में विस्तार से समझाया गया है।[1]

द्रव्यलेश्या : भावलेश्या

लेश्या हमारे व्यक्तित्व का प्रतिबिम्ब है। जैसे प्रतिबिम्ब में हमारे बाह्य व्यक्तित्व की छवियां उतरती रहती हैं, वैसे ही लेश्या के तंत्र में हमारा अन्तरंग व्यक्तित्व प्रतिबिम्बित होता है। लेश्या के मुख्य दो भेद हैं - द्रव्यलेश्या और भावलेश्या। लेश्या के लिए प्रयुक्त होने वाले शब्दों में तेज, दीप्ति, ज्योति, किरण, मण्डल बिम्ब, ज्वाला, वर्ण आदि द्रव्यलेश्या का प्रतिनिधित्व करने वाले हैं। अध्यवसाय, अन्तःकरण, आत्मपरिणाम, वृत्ति आदि शब्द भावलेश्या के संसूचक हैं।[2]

द्रव्यलेश्या

जब हम द्रव्यलेश्या के स्वरूप पर विमर्श करते हैं तो हमारे सामने पहला प्रश्न यही उपस्थित होता है कि उसका आकार-प्रकार कैसा है ? आगमकारों ने इस प्रश्न को समाहित करते हुए कहा कि द्रव्यलेश्या में पांच वर्ण, पांच रस, दो गंध और आठ स्पर्श होते हैं।[3] जहां द्रव्य-लेश्या के कृष्ण-नील आदि छः प्रकार किये जाते हैं, वहां नैश्चयिक दृष्टि से लेश्या के प्रत्येक वर्ण में सभी वर्ण, गंध, रस एवं स्पर्श होते हैं। पर कृष्ण आदि वर्ण के पुद्गलों का प्राधान्य होने से उन्हें उस-उस नाम से पुकारा जाता है। द्रव्यलेश्या एक पौद्गलिक पदार्थ है, इसीलिए पुद्गल के सभी गुण उसमें विद्यमान हैं। क्षेत्र की दृष्टि से उसका अधिकतम विस्तार लोक प्रमाण हो सकता है। सामान्यतः वह असंख्यात आकाश प्रदेशों का अवगाहन कर रहती है।

काल की अपेक्षा वह शाश्वत भाव है। संसार में कभी ऐसा समय न था, न है और न होगा कि जब द्रव्य लेश्या का अस्तित्व न रहा हो। भाव की दृष्टि से वह कभी वर्ण, गंध आदि से वियुक्त नहीं होती है। गुण की दृष्टि से ग्रहण उसका मौलिक गुण है अर्थात्

---

1. प्रज्ञापना मलयगिरि वृत्ति, पत्रांक 345; 2. लेश्या कोश, पृ. 2
3. भगवती 12/117 पृ. 566

उसमें निरन्तर पुद्गलों का आदान-प्रदान होता रहता है। एक ही द्रव्यलेश्या की पुद्गल संहति में असंख्यात् स्थानों का तारतम्य हो सकता है।

जैन दर्शन में लेश्या के भार पर भी विचार किया गया है। द्रव्यलेश्या न एकान्ततः भारी होती है और न हल्की। वह गुरुलघु रूप होती है।[1] जीव द्रव्यलेश्या के पुद्गलों को ग्रहण करता है। द्रव्यलेश्या के विषय में एक विशेष ज्ञातव्य बिन्दु यह है कि इसकी सभी वर्गों का परस्पर परिणमन संभव है। जहां परिणमन होता है, वहां कृष्ण आदि लेश्या के पुद्गल नील आदि लेश्या के रूप में परिवर्तित हो जाते हैं। परिणमन की स्थिति में उनका परस्पर संक्रमण नहीं होता। यद्यपि आकार मात्र एवं परिभाग सादृश्य मात्र से ऐसा प्रतिभासित हो सकता है कि कृष्णलेश्या के पुद्गल नीललेश्या के रूप में परिणत हो गए हैं, पर वस्तुतः वैसा होता नहीं है। इसके पीछे हेतु यही है कि कुछ पुद्गल स्वभाव से अपरिवर्तित स्वरूप वाले होते हैं। उनका परिणमन कृष्ण से कृष्ण के रूप में ही न्यूनाधिक होता है पर नील के रूप में कभी नहीं।[2]

द्रव्यलेश्या की वर्गणाएं रूपी होते हुए भी अतिसूक्ष्म होने के कारण छद्मस्थ के लिए अज्ञेय हैं। पर जब वे ही सकर्म जीव के द्वारा गृहीत होती हैं तो उन गृहीत वर्गणाओं को विशिष्ट साधना करने वाला भावितात्म मुनि जान सकता है।[3]

द्रव्यलेश्या के असंख्य स्थान हैं। वे स्थान पुद्गलों की विशुद्धता-अविशुद्धता, मनोज्ञता-अमनोज्ञता, शीतता-उष्णता आदि के हीनाधिक्य की अपेक्षा से हैं। नारक देवता आदि में सामूहिक रूप में लेश्या की जो संख्या बतलाई गई है, वह द्रव्यलेश्या की विवक्षा से ही है, क्योंकि भावलेश्या की दृष्टि से इनमें छहों की प्राप्ति संभव है। प्रज्ञापना सूत्र में लेश्या का जो विवेचन किया गया है, वह प्रधान रूप से द्रव्यलेश्या के स्वरूप को विश्लेषित करता है।

भावलेश्या

भावलेश्या का स्वरूप द्रव्यलेश्या से बिल्कुल भिन्न है। जहां द्रव्यलेश्या जीव के द्वारा गृहीत होने वाली पुद्गल वर्गणाएं हैं, वहां भावलेश्या स्वयं जीव का परिणमन है। प्रज्ञापना सूत्र में भावलेश्या की अपेक्षा से दस जीव परिणामों में लेश्या को परिगणित किया गया है,[4] चूंकि भावलेश्या जीव है, इसीलिए जीव की सभी विशेषताएं उसमें होना स्वाभाविक है। अपने स्वभाव के अनुरूप भावलेश्या वर्ण, गंध, रस एवं स्पर्श से विरहित है। वह अरूपी है, इसीलिए सर्वथा भारमुक्त है। जैनदर्शन उसकी इस भारहीनता को अगुरुलघु शब्द के द्वारा अभिव्यक्त करता है।

---

1. भगवती 1/408, पृ. 68
2. प्रज्ञापना 17/148-155 (उवांगसुत्ताणि भाग 2, पृ. 236-37)
3. प्रज्ञापना 14/123, पृ. 648;
4. प्रज्ञापना 13/2 (उवांगसुत्ताणि, भाग 2, पृ. 183)

भावलेश्या जीव का उदय निष्पन्न भाव है।[1] भावलेश्या के वर्गों में परस्पर परिणमन हो सकता है। भावलेश्या के परिणमन का आधार भावों की विशुद्धता और अविशुद्धता है। जब भाव विशुद्ध होते हैं तो प्राणी कृष्णलेश्या से नीललेश्या की स्थिति में पहुँचता है और जब भाव अविशुद्ध होते हैं तो पुनः चेतना का नीललेश्या से कृष्णलेश्या में अवस्थान होता है। वस्तुतः भावलेश्या ही जीव की सुगति और दुर्गति की हेतु है। प्रशस्त भावलेश्या के कारण जीव सुगति का बंधन करता है और अप्रशस्त भावलेश्या दुर्गति का हेतु है।

भावलेश्या का कारण द्रव्यलेश्या की वर्गणाएं ही हैं, क्योंकि द्रव्यलेश्या के बिना भावलेश्या का स्थान नहीं बन सकता। विविध गतियों और जातियों में लेश्या का जो विवेचन किया गया है, वह द्रव्यलेश्या की अपेक्षा से है, क्योंकि भावलेश्या की अपेक्षा नारक और देवता में सभी लेश्याओं का अस्तित्व स्वीकार किया गया है।

भावलेश्या के संबंध में साधक को निर्देश दिया गया कि वह छहों लेश्याओं से प्रतिक्रमण करें।[2] प्रश्न उपस्थित होता है कि तीन अप्रशस्त लेश्याओं से प्रतिक्रमण हो सकता है, पर प्रशस्त लेश्याओं से प्रतिक्रमण कैसे होगा ? टीकाकारों ने इस प्रश्न को समाहित किया है। उनकी दृष्टि में अशुभ से निवृत्त होना एवं शुभ में प्रवृत्त होना ही वस्तुतः पूर्ण प्रतिक्रमण है।

भावलेश्या के सन्दर्भ में ध्यान की चर्चा करते हुए दो महत्त्वपूर्ण बिन्दुओं की ओर ध्यान आकृष्ट किया गया है। रौद्रध्यान की अपेक्षा आर्त्तध्यान में उपगत जीव के लेश्या परिणाम अधिक संक्लिष्ट होते हैं। ध्यान और लेश्या का पारस्परिक प्रभाव होते हुए भी ध्यान अपने आप में विशिष्ट है, क्योंकि अलेशी अवस्था में शुक्लध्यान का चतुर्थभेद व्युच्छिन्नक्रियाअप्रतिपाती होता है।

भगवती सूत्र में सलेशी पद के साथ प्रथम-अप्रथम, चरम-अचरम आदि[3] अनेक प्रश्नों को जोड़कर लेश्या का जो वर्णन किया गया है, वह उसके द्रव्य और भाव दोनों पक्षों को एक साथ प्रकाशित करता है। सलेशीजीव प्रथम नहीं, अप्रथम है, क्योंकि जीव के जीवत्व की तरह लेश्या भी उसके साथ जुड़ा हुआ एक शाश्वत भाव है।

काल की दृष्टि से उसका कोई आदिकाल (प्रथम समय) नहीं है जबकि जीव की अलेशी स्थिति प्रथम समय है, अप्रथम समय नहीं है, क्योंकि उसकी आदि है। सलेशी जीव चरम और अचरम दोनों है। वे इसी भव में मुक्त हो भी सकते हैं और नहीं भी। कृष्ण आदि लेश्या वाले जीव मुक्त नहीं होते और शुक्ल लेश्या वाले जीव मुक्त हो सकते हैं। अलेशीजीव जीवत्व एवं सिद्धत्व की अपेक्षा अचरम हैं।

---

1. अनुयोगद्वार सू. 275 (नवसुत्ताणि, पृ. 335)
2. आवश्यक सूत्र 4/8 (नवसुत्ताणि, पृ. 11)
3. भगवती 18/11, 27 (अंगसुत्ताणि भाग 2, पृ. 755, 57)

सलेशीत्व की दृष्टि से सलेशी जीव की दो स्थितियां बनती हैं – 1. अनादि और अपर्यवसित, 2. अनादि और सपर्यवसित।[1] प्रथम स्थिति सभी संसारी जीवों की अपेक्षा है और दूसरी स्थिति उन शुक्ल लेश्या वाले जीवों की है, जो इस भव में मुक्त होने वाले हैं। अलेशी जीवों की स्थिति सादि और अपर्यवसित है।

काल की अपेक्षा सलेशी जीवों के प्रदेशत्व एवं अप्रदेशत्व की दृष्टि से भी विचार किया गया है। यहां अप्रदेशी का अर्थ एक समय की स्थिति वाले जीव और सप्रदेशी का अर्थ एक समय से अधिक की स्थिति वाले जीवों से है। सलेशी जीव नियमत: सप्रदेशी होते हैं। यदि अलग-अलग गति की अपेक्षा कथन किया जाए तो अप्रदेशी भी हो सकते हैं। अलेशी जीव सप्रदेशी और अप्रदेशी दोनों होते हैं।[2]

सलेशी जीवों में पांच ज्ञान और तीन अज्ञान हो सकते हैं। अलेशी जीवों में अज्ञान नहीं होता। केवल एक ज्ञान होता है। किसी भी ज्ञान के होने में लेश्या की उत्तरोत्तर विशुद्धता आवश्यक है।[3]

सलेशी जीव आरम्भी और अनारम्भी दोनों होते हैं। प्रमत्तसंयत गुणस्थानवर्ती जीव शुभयोग की अपेक्षा अनारम्भी एवं अशुभयोग की अपेक्षा आरम्भी है। अप्रमत्तसंयतगुणस्थान में होने वाले सलेशी जीव अनारम्भी हैं।[4]

सलेशीजीवों के तीन प्रकार बंध होता है – जीव प्रयोग-बंध, अनन्तर-बंध एवं परस्पर-बंध। जीव के प्रयोग अर्थात् मन आदि के व्यापार के द्वारा जो बंध होता है, वह जीव प्रयोग बंध है। जीव और पुद्गल का प्रथम समय का बंध, अनन्तर बंध एवं उससे आगे के समयों का बंध परस्पर बंध कहलाता है।[5] सलेशी जीवों के कर्म की अल्पता और बहुलता पर विचार करते हुए यह बतलाया गया कि सामान्यत: कृष्णलेशी जीव बहुकर्मा और नीललेशी जीव अल्पकर्मा होते हैं। मगर इस कथन में वैशिष्ट्य तब आ जाता है, जब उपर्युक्त कथन सर्वथा बदल जाता है। ऐसा तब होता है, जब कृष्ण लेश्या वाला नारक जिसका कि अधिकांश आयु स्थिति का क्षय हो गया है, उसी समय उत्पन्न नीललेशी नैरयिक की तुलना में अल्पकर्मा होता है। नीललेशी का आयुष्य उसकी तुलना में बहुत प्रलम्ब है।[6] सलेशी जीव अल्पऋद्धि और महाऋद्धि दोनों प्रकार के होते हैं।[7] जो सलेशी जीव सम्यक्दर्शन से अनुरक्त, निदान रहित एवं शुक्ललेश्या में अवगाहित होते हुए शरीर त्याग करते हैं, वे परभव में सुलभ बोधि होते हैं। इसके विपरीत मिथ्यादृष्टि, निदान सहित एवं कृष्ण आदि अप्रशस्त लेश्या में अवस्थित हो शरीर त्यागने वाले दुर्लभ बोधि होते हैं।[8]

---

1. प्रज्ञापना 18/68 (उवंगसुत्ताणि खण्ड – 2, पृ. 244)
2. भगवती वृत्ति पत्रांक 261 में उद्धृत; 3. भगवती 8/177, 178
4. भगवती, 1/38 (अंगसुत्ताणि भाग 2, पृ. 12)
5. वही, 20/59, अंगसुत्ताणि भाग 2, पृ. 823
6. वही, 7/67-73, पृ. 284; 7. प्रज्ञापना 17/84 (उवांगसुत्ताणि खण्ड 2, पृ. 225)
8. उत्तराध्ययन 36/258

सलेशी क्रियावादी जीव केवल मनुष्यायु एवं देवायु तथा सलेशी अक्रियावादी, विनयवादी और अज्ञानवादी चारों गतियों का बंधन करते हैं।[1] सलेशी क्रियावादी जीव भवसिद्धिक हैं। किसी न किसी भव में मोक्ष जाने वाले होते हैं एवं सलेशी अक्रियावादी आदि भवसिद्धिक और अभवसिद्धिक दोनों प्रकार के होते हैं।[2] सलेशी जीव आहारक एक भव से दूसरे भव में जाते समय आहार वर्गणा को ग्रहण करने वाले और अनाहरक दोनों प्रकार के होते हैं, अलेशी जीव एकान्ततः अनाहरक ही होते हैं। इस प्रकार लेश्या के ये दोनों मुख्य विभाग सतत हमारे व्यक्तित्व को नित नया रूप देते रहते हैं।

द्रव्यलेश्या और भावलेश्या का पारस्परिक संबंध

द्रव्यलेश्या और भावलेश्या के पारस्परिक संबंध के विषय में जिज्ञासा उभरती है कि द्रव्यलेश्या के अनुसार भावलेश्या बनती है या भावलेश्या के अनुसार द्रव्यलेश्या।

द्रव्यलेश्या के अनुसार भावलेश्या का होना यदि मान लिया जाये तो द्रव्यलेश्या के काले, नीले, पीले पुद्गल द्रव्य स्वयं अपने आप में अच्छे-बुरे कैसे होंगे, क्योंकि वह अजीव है। उनसे आत्मा के परिणाम/अध्यवसाय कैसे अच्छे-बुरे होंगे? और यदि भावलेश्या के अनुरूप द्रव्यलेश्या बनती है तो भावलेश्या के शुभ-अशुभ का मूल कारण क्या है?

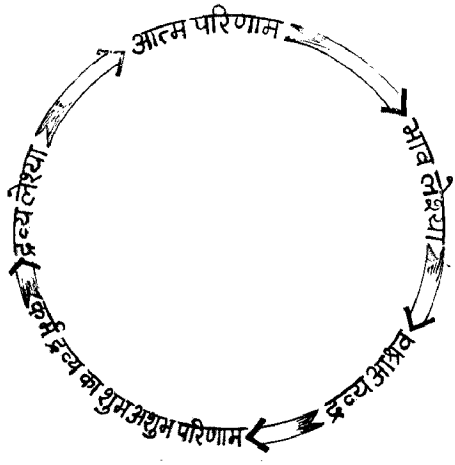

इस सन्दर्भ में द्रव्यकर्म और भावकर्म के पारस्परिक संबंध की चर्चा विशेष महत्व रखती है। जैन कर्म सिद्धान्त कर्म के भौतिक एवं भावात्मक पक्ष पर समुचित जोर देकर जड़ और चेतन के मध्य एक वास्तविक संबंध बनाने का प्रयास करता है। डॉ. टाटिया लिखते हैं कि अपने पूर्ण विश्लेषण में जड़ और चेतन के मध्य योजक कड़ी है। यह चेतना और चेतन युक्त जड़ पारस्परिक परिवर्तनों की सहयोगात्मकता को अभिव्यंजित करता है।[3]

---

1. भगवती 30/13-17, अंगसुत्ताणि भाग 2, पृ. 991-92
2. वही, 30/32-33, पृ. 994
3. नथमल टाटियां, स्टडीज इन जैन फिलॉसाफी, पृ. 228

भावकर्म से द्रव्यकर्म का आश्रव होता है। यही द्रव्यकर्म समय विशेष में भावकर्म का कारण बन जाता है। पंडित सुखलालजी लिखते हैं कि भावकर्म होने में द्रव्यकर्म निमित्त है और द्रव्यकर्म में भावकर्म निमित्त है। दोनों का आपस में बीजांकुर की तरह कार्यकारण भाव संबंध है।[1]

केवल द्रव्यलेश्या से भाव नहीं बनते। उसके साथ मोह यानी राग-द्वेषात्मक परिणामों का योग होने पर भाव लेश्या का निर्माण होता है। कहा जा सकता है कि द्रव्यलेश्या आत्मा का बाहरी स्तर है जिसका आधार पौद्गलिक है और भावलेश्या आन्तरिक स्तर है जिसका आधार रागद्वेषात्मक परिणति है। राग-द्वेषमय योगप्रवृत्ति कर्मपुद्गलों का आश्रव करती है, कर्मपुद्गल आत्मक्रिया से आकृष्ट होकर परिणामों के अनुसार शुभता-अशुभता में बदल जाते हैं।

लेश्या और गुणस्थान

लेश्या का विश्लेषण केवल प्राणी की सांसारिक स्थिति को ही स्पष्ट नहीं करता, कर्म-मुक्ति के साथ भी उसका घनिष्ठ संबंध है। जैन-दर्शन में आत्म-विशुद्धि का मापन गुणस्थान के आधार पर किया गया है। आगमों में गुणस्थान के स्थान पर जीवस्थान शब्द का प्रयोग प्राप्त होता है।

समवायांग के टीकाकार अभयदेव सूरि ने गुणस्थानों को ज्ञानावरण आदि कर्मों की विशुद्धि से निष्पन्न कहा है।[2] युगभाषा में इसे आध्यात्मिक विकास की भूमिका कहा जा सकता है। ये भूमिकाएं निम्न हैं[3] –

1. मिथ्यात्व गुणस्थान
2. सास्वादन गुणस्थान
3. मिश्र गुणस्थान
4. अविरत गुणस्थान
5. देशविरत गुणस्थान
6. प्रमत्तसंयत गुणस्थान
7. अप्रमत्तसंयत गुणस्थान
8. निवृत्ति बादर गुणस्थान
9. अनिवृत्ति बादर गुणस्थान
10. सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान
11. उपशान्त कषाय गुणस्थान
12. क्षीणकषाय गुणस्थान
13. सयोगी केवली गुणस्थान
14. अयोगी केवली गुणस्थान

इनमें पहले से चौथे गुणस्थान तक का संबंध दर्शन की विशुद्धता एवं अविशुद्धता के साथ जुड़ा है। पांचवें से चौदहवें गुणस्थान तक सम्यक् आचरण की बात आती है। पांचवें गुणस्थान से इस दिशा में पदन्यास होता है और चौदहवें गुणस्थान पर व्यक्ति शिखर तक पहुंच जाता है।

---

1. कर्मविपाक, भूमिका – पृ. 24
2. कर्मविशोधिमार्गणां प्रतीत्य – ज्ञानावरणादिकर्मविशुद्धि गवेषणामाश्रित्य।
   – समवायांगवृत्ति पत्र – 36
3. समवाओ सूत्र 14/5

लेश्या और गुणस्थान का बहुत निकटवर्ती संबंध है। दोनों का मुख्य आधार दर्शन-मोहनीय एवं चारित्र-मोहनीय का क्षय-क्षयोपशम तथा योग की शुभता और अशुभता है। लेश्याओं की शुद्धि-अशुद्धि के साथ गुणस्थानों का आरोहण-अवरोहण होता है। अनन्तानुबंधी कषाय का तीव्रतम उदय होने पर कृष्णलेश्या होती है और मन्द उदय होने पर शुक्ललेश्या होती है। योग की भांति कषाय के साथ लेश्या का अन्वय व्यतिरेक संबंध नहीं है। कषाय का क्षय 12वें गुणस्थान में होता है और योग 13वें गुणस्थान तक सक्रिय रहता है।

कर्मग्रन्थ में गुणस्थान और लेश्या का वर्णन दो दृष्टियों से उपलब्ध होता है। गुणस्थानों में कितनी लेश्याएं होती हैं तथा लेश्यामार्गणा में कितने गुणस्थान होते हैं? इस दुहरे प्रश्न के साथ दोनों पर विस्तार से विवेचन किया गया है। इस विवेचन से लेश्या और गुणस्थान के अनेक सन्दर्भ स्वतः स्पष्ट हो जाते हैं।

प्रथम छः गुणस्थानों में प्रशस्त-अप्रशस्त सभी लेश्याएं होती हैं। सातवें गुणस्थान में तैजस, पद्म ये प्रशस्त लेश्याएं होती हैं। शेष गुणस्थान आठवें से लेकर तेरहवें गुणस्थान तक एक मात्र शुक्ललेश्या होती है।

लेश्या के विषय में जब हम गुणस्थानों की दृष्टि से विचार करते हैं तो ज्ञात होता है कि प्रथम तीन लेश्या में चार गुणस्थान, तेजोलेश्या और पद्मलेश्या में सात गुणस्थान तथा शुक्ललेश्या में तेरह गुणस्थान होते हैं।

लेश्या के कर्मग्रंथीय विवेचन में एक वैचित्र्य प्राप्त होता है। गुणस्थानों की विवेचना में प्रथम छह गुणस्थानों में छह लेश्याएं मानी गई हैं जबकि लेश्या मार्गणा में छहों लेश्याओं को प्रथम चार गुणस्थान तक परिगणित किया गया है।[1] प्रथम मत की पुष्टि पंचसंग्रह, प्राचीन बंध स्वामित्व, नवीन बंध स्वामित्व, सर्वार्थसिद्धि आदि ग्रन्थों में हुई है।[2] दूसरा मत प्राचीन कर्मग्रन्थ के रचनाकार का है।[3]

प्रथम क्षण में अनुभव होता है कि लेश्या के ये दोनों मन्तव्य एक-दूसरे के विरोधी हैं। पर जब इनके कथन को अपेक्षा भेद से समझ लिया जाता है तो अवधारणा कुछ दूसरी ही बनती है। प्रथम मत के अनुसार भावलेश्या की दृष्टि से जब जीव के शुभलेश्या होती है, तब ही वह पांचवें, छट्ठे गुणस्थान को उपलब्ध होता है। गुणस्थान की प्राप्ति के बाद उस लेश्या में परिवर्तन भी हो सकता है। अशुभ लेश्या की इसी विवक्षा के कारण प्रथम छह गुणस्थानों में छहों लेश्याओं का अस्तित्व स्वीकार किया गया है।

---

1. कर्मग्रन्थ भाग 3, गाथा 24
2. छल्लेस्सा जाव सम्मोति, पहला मत – पंचसंग्रह 1-30
   छच्चउसु तिण्णि तीसुं छएहं सुक्का अजोगीअलेस्सा, प्राचीन बंध स्वामित्व गा. 40
3. प्राचीन कर्मग्रन्थ – भाग 4/73

दूसरा मत शुभलेश्या की प्राप्ति को ही मुख्यता देता है। प्राप्ति के बाद अशुभ लेश्याओं में होने की बात उसमें गौण है। अत: इस अपेक्षा से प्रथम चार गुणस्थानों में ही छहों लेश्याओं को मानना एक अपेक्षा से भेद को स्पष्ट करना है।

सातवें गुणस्थान में तैजस और पद्म शुभलेश्याएं होती हैं। सातवें गुणस्थान में आर्त्त और रौद्र ध्यान का सर्वथा अभाव होने के कारण निरन्तर परिणामों-भावों की विशुद्धता ही बनी रहती है। अत: इस गुणस्थान में अशुभ लेश्याओं के लिये कोई अवकाश नहीं है।

आठवें से तेरहवें तक केवल शुक्ल शुभलेश्या होती है। अयोगी केवली में कोई लेश्या नहीं होती, क्योंकि वहां योग की सत्ता समाप्त हो चुकी है। योग लेश्या का ही एक पूरक तत्व होने के कारण उसके अभाव में यहां लेश्या का सद्भाव नहीं रहता।

गुणस्थान और लेश्या के सन्दर्भ में एक ओर मिथ्यादृष्टि गुणस्थान से प्रमत्त संयत तक अशुभ लेश्या का होना तथा दूसरी ओर मिथ्यादृष्टि में तेज, पद्म और शुक्ल लेश्या का होना इस बात की ओर संकेत करता है कि गुणस्थानवर्ती जीवों में मूल लेश्याओं के साथ आगन्तुक लेश्याओं का सद्भाव रहता है और इसी कारण उनमें भाव परिवर्तन होता रहता है। आगे के गुणस्थानवर्ती जीव कषाय की मन्दता या क्षीणता से गुजरते हैं, अत: उनमें अशुभ लेश्याओं का होना असम्भव है।

सातवें गुणस्थान में तेज, पद्म और आठवें से तेरहवें गुणस्थान तक शुक्ललेश्या में भी परिणमन की प्रक्रिया निरन्तर चलती रहती है। कृष्णादि तीन अशुभलेश्याएं प्रथम गुणस्थान में तीव्रतम और छट्ठे गुणस्थान में मन्दतम होती है। इसी प्रकार इसी गुणस्थान में तेज-पद्म लेश्याएं अति मन्दतम और सातवें गुणस्थान में तीव्रतम होती हैं। मिथ्यादृष्टि गुणस्थान में शुक्ललेश्या अति मन्दतम और तेरहवें में अति तीव्रतम होती हैं।

तेजोलेश्या और पद्मलेश्या पहले मिथ्यादृष्टि से लेकर सातवें अप्रमत्तसंयत गुणस्थान तक सात गुणस्थानों में होती है, उक्त दोनों लेश्या गुणस्थानों को प्राप्त करने के समय (प्रतिपद्यमान स्थिति) और प्राप्ति के बाद (पूर्व प्रतिपन्न) भी रहती है।

उपशमश्रेणी-यात्रा और लेश्या

आठवें गुणस्थान को प्राप्त कर लेने पर जीव ऊर्ध्वारोहण करता है। ऊर्ध्वारोहण की दो श्रेणियां हैं – उपशम श्रेणी और क्षपक श्रेणी। जिस जीव में मोह की प्रकृतियों को क्षय करने का सामर्थ्य होता है, वह क्षपक श्रेणी में आरूढ़ होकर ऊर्ध्वारोहण करता हुआ दसवें गुणस्थान से सीधा बारहवें में चला जाता है। जिस जीव में मोह कर्म की प्रकृतियों को सर्वथा क्षीण करने का भाव-सामर्थ्य नहीं होता, वह उनको उपशांत करता है। वह उपशम श्रेणी में आरूढ़ होकर ऊर्ध्वारोहण करता है। वह दसवें से ग्यारहवें गुणस्थान में जाता है। इस स्थिति में मोह पूर्णरूप से उपशान्त रहता है।

प्रश्न होता है कि उस जीव का वहां से अध:पतन क्यों होता है? वह आगे क्यों नहीं जा पाता? इस गुणस्थान का कालमान बहुत अल्प है। जो उस गुणस्थान का स्पर्श करता

है, उसमें आगे बढ़ने की योग्यता नहीं होती। इसलिए कालमान पूर्ण होते ही वह नीचे आ जाता है। नीचे आते ही मोह की जो कर्म प्रकृतियां उपशान्त थीं, वे एक-एक कर पुनः उदय में आ जाती हैं। निम्नवर्ती गुणस्थानों का स्पर्श करता हुआ जीव सातवें गुणस्थान तक आकर नहीं ठहरता, क्योंकि उनका कालमान बहुत छोटा है। यदि उसकी विशुद्धि छट्ठे गुणस्थान में अवस्थान करने योग्य होती है तो लम्बे समय तक वहां ठहर सकता है, वहां से उत्क्रमण भी कर सकता है पर यदि अपेक्षित विशुद्धि का अभाव है तो वह नीचे गति करते-करते प्रथम गुणस्थान तक आ सकता है।

इस विषय में एक बिन्दु और ध्यातव्य है कि जिस जीव ने ग्यारहवें गुणस्थान का स्पर्श किया है, उसकी यदि उस गुणस्थान में मृत्यु हो जाती है तो वह देवगति में जाता है। प्रश्न स्वाभाविक है कि गुणस्थानों के इस उपक्रमण में क्या लेश्या योगभूत है? उपक्रमण का मुख्य हेतु मोहनीय कर्म का उदय है पर इस उदय से हमारा लेश्या शरीर प्रभावित होता है, इस अवधारणा के लिये भले आगमिक सन्दर्भ उपलब्ध न होता हो, तब भी उसके प्रभाव का अनुमान करना अपने आपमें अतिरंजना पूर्ण नहीं है, क्योंकि मोहनीय कर्म का उदय होते ही लेश्या की विशुद्धि में तरतमता अवश्यमेव आ जाती है।

लेश्या और भाव

जैन-दर्शन के अनुसार शुद्ध चैतन्य जीव का मूल स्वरूप है। पर कोई भी संसारी जीव अपने शुद्ध स्वरूप में उपलब्ध नहीं होता, क्योंकि वह अनादि काल से कर्म परमाणुओं से संयुक्त है। जीव इस जन्म में अपने प्रयत्न से उदय, उपशम, क्षयोपशम आदि विविध रूपों में अपने अस्तित्व को अभिव्यक्त करता रहता है। अस्तित्व की यह अभिव्यक्ति ही जैन दर्शन की पारिभाषिक शब्दावली में भाव कही जाती है।

आत्मा के विशुद्ध स्वरूप को विकृत करने वाला मुख्य घटक है – मोहकर्म। जब यह कर्म क्षीण होता है, तब आत्मा का सत्-चिद्-आनन्दमय स्वरूप प्रकट होता है। जीव के न्यूनतम विकास की स्थिति में मोहनीय कर्म मिथ्यात्व और असंयम के इन दोनों रूपों में हमारी चेतना को प्रस्फुटित होने नहीं देता। जब ये दोनों पूरी तरह हटते हैं तो विशुद्ध चैतन्य दीपित हो उठता है। इन दोनों स्थितियों के बीच आत्मा में अच्छे-बुरे भावों/परिणामों का आरोह-अवरोह होता रहता है।

भाव चेतना का परिणाम है।[1] 'भावः चित्परिणामः' जीव का स्वरूप पंच भावात्मक है।[2] कर्मों के उदय से होने वाली आत्मा की अवस्था औदयिक भाव, मोहकर्म के उपशम से होने वाली आत्मा की अवस्था औपशमिक भाव, कर्मों के क्षय से होने वाली आत्मा की अवस्था क्षायिक भाव, ज्ञानावरणादि घाति कर्मों के क्षयोपशम से होने वाली आत्मा की अवस्था क्षायोपशमिक भाव तथा परिणमन से होने वाली आत्मा की अवस्था पारिणामिक भाव है।

---

1. गोम्मटसार जीवकाण्ड 165, जीवतत्व प्रदीपिका, पृ. 294
2. तत्वार्थ सूत्र 2/1

कर्मों के उदय से होने वाली आत्मा की अवस्थाओं में लेश्या के छः प्रकार भी परिगणित हैं।[1] लेश्या की कषायपरिणामजनित, कर्मपरिणामजनित और योगपरिणामजनित तीनों परिभाषाएं उसके औदयिक रूप को ही स्पष्ट करती हैं। कषाय मोहनीय कर्म का उदय है। कर्म परिणति में कर्म का उदय सहज गम्य है और योग परिणाम भी योगत्रय जनक कर्म के उदय का ही फल है।[2]

लेश्या जीवोदय निष्पन्न भाव है। जीव अपने कर्मों के उदय से ही कृष्णादि द्रव्यों का सान्निध्य प्राप्त करता है। इसी विवक्षा से लेश्या को जीवोदय निष्पन्न भाव कहा गया है। उत्तराध्ययन के निर्युक्तिकार भद्रबाहु इस मत से सहमत होते हुए भी इस सन्दर्भ में एक विशेष बिन्दु की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करते हैं। यद्यपि लेश्या उदय निष्पन्न भाव है, पर प्रशस्त लेश्याओं के होने में कर्मों के क्षय, उपशम और क्षयोपशम का बहुत बड़ा योग है।[3]

भावों में लेश्या का समावेश

छहों द्रव्य लेश्याओं का समावेश एक पारिणामिक भाव में हो जाता है। भावलेश्याएं भिन्न-भिन्न भावों में समाविष्ट होती हैं। प्रथम तीन अशुभ भावलेश्याएं कृष्ण, नील और कापोत दो भावों – औदायिक और पारिणामिक में समाविष्ट होती हैं। इनका मूल घटक है – मोहकर्म का उदय निष्पन्न। इससे ही पापकर्म का बन्ध होता है। शेष सात कर्मों के उदय से पाप का बन्ध नहीं होता।[4]

तैजस और पद्म – इन दो शुभ भाव लेश्याओं में तीन भाव प्राप्त होते हैं – औदयिक, क्षयोपशमिक और पारिणामिक। इनका अस्तित्व सातवें गुणस्थान तक है। भाव शुक्ललेश्या औपशमिक भाव के अतिरिक्त शेष चारों भावों में समाविष्ट होती है। इसके दो विकल्प हैं – 1. बारहवें गुणस्थानवर्ती भाव शुक्ललेश्या का समावेश औदयिक, क्षयोपशमिक और पारिणामिक – इन तीन भावों में होता है, क्षायिक भाव में नहीं, क्योंकि यहां मोहनीय कर्म का क्षय हो जाने पर भी अन्तराय कर्म का क्षय नहीं होता। तेरहवें गुणस्थानवर्ती भाव शुक्ललेश्या का समावेश तीन भावों – उदय, क्षायिक और पारिणामिक में होता है।

प्रस्तुत प्रसंग में यह समझ लेना आवश्यक है कि शुभलेश्याएं नाम कर्म के उदय से निष्पन्न औदयिक भाव में, अन्तराय कर्म के क्षय से निष्पन्न क्षायिक भाव में तथा अन्तराय कर्म के क्षयोपशम से निष्पन्न क्षायोपशमिक भाव में समाविष्ट होती हैं।

गति और लेश्या

नरक, तिर्यञ्च, देव और मनुष्य जीव की चार गतियां कही गई हैं। गति का अर्थ है उत्पत्ति स्थान। इनमें देव और मनुष्य गति को श्रेष्ठ और नरक तथा तिर्यञ्च गति को गर्हित माना गया है। इन चार मुख्य गतियों के अवान्तर भेद अनेक हैं।

---

1. तत्वार्थ सूत्र 2/6;
2. कर्मग्रंथ, भाग 4, स्वोपज्ञ टीका, पृ. 191
3. उत्तराध्ययन 34/ नि. गा. 540;
4. झीणी चर्चा 1/17

प्रश्न उभरता है कि जीव मरकर इन गतियों में क्यों उत्पन्न होता है ? क्या एक गति का जीव बार-बार उसी गति में जनमता-मरता है या उसका उत्क्रमण या अपक्रमण भी होता है ? यदि उत्क्रमण या अपक्रमण होता है तो उसका कारण क्या है ?

कारण की मीमांसा में यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि इन गतियों में जीवों की उत्पत्ति का एक मुख्य घटक है – लेश्या। मनुष्य जीवन में जो अत्यन्त क्लिष्ट कर्म करता है वह अशुभ अध्यवसाय और लेश्या परिणामों के कारण मरकर नरक में उत्पन्न होता है। संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव अपने जीवन काल में अत्यन्त क्रूर अध्यवसायों, अशुभ लेश्याओं के वशीभूत होकर अत्यन्त क्लिष्ट कर्म उपार्जित करते हैं और वे कर्म उन्हें नरक गति की प्राप्ति में हेतुभूत बनते हैं और नरक में भी वे महा वेदना वाले होते हैं, क्योंकि वहां भी उनका लेश्या परिणाम क्लिष्ट होता है।

इन छः लेश्याओं की यह नियामकता नहीं है कि अमुक लेश्या वाला इन चार गतियों में से अमुक गति में ही जाएगा, क्योंकि मनुष्य में छहों लेश्याएं होती हैं और चारों गतियों में से किसी एक गति का आयुष्य बन्ध भी करता है। इससे यह स्पष्ट है कि लेश्याओं की गतियों के साथ पूर्ण नियामकता न होने पर भी लेश्या स्थानों की असंख्यता के कारण कुछेक लेश्या स्थान अवश्य नियामक बनते हैं। कृष्ण लेश्या नरक का ही कारण है, यह बात नहीं है, किन्तु कृष्णलेश्या का क्लिष्टतम परिणाम नरक का ही कारण बनेगा।

ज्योतिष्क देव योनि में एक तेजोलेश्या ही होती है, वहां देवी-देवताओं में लेश्यागत भेद नहीं है, क्योंकि भावों की वहां क्लिष्टता नहीं है। असंज्ञी आयुष्य चार प्रकार का है – नैरयिक असंज्ञी आयुष्य, तिर्यञ्च योनिक असंज्ञी आयुष्य, मनुष्य योनिक असंज्ञी आयुष्य और देव असंज्ञी आयुष्य। जो असंज्ञी नरक में जाते हैं वे रत्नप्रभा नरक में उत्पन्न होने पर भी तीव्र क्लिष्टतम लेश्या या अध्यवसाय के अभाव में ऐसे नरकावासों में उत्पन्न होते हैं, जहां वेदना तीव्र नहीं है। अतः कहा जा सकता है कि लेश्या गति निर्धारण का मुख्य घटक है।

आगमों में कथन है कि कृष्ण, नील और कापोत – ये तीन लेश्यायें दुरभिगन्धवाली, अविशुद्ध, अप्रशस्त, संक्लिष्ट, शीत-रुक्ष और दुर्गति में ले जाने वाली हैं। तेजो, पद्म और शुक्ल ये तीन लेश्याएं सुरभिगन्धवाली, विशुद्ध, प्रशस्त, असंक्लिष्ट, स्निग्ध-उष्ण और सुगति प्राप्त कराने वाली हैं। प्रथम तीन लेश्याओं के सबकुछ अप्रशस्त हैं इसलिए ये सब अप्रशस्त अध्यवसाय के कारण बनते हैं, शेष तीन लेश्याओं के सबकुछ प्रशस्त हैं, इसलिए ये सब प्रशस्त अध्यवसाय के कारण बनते हैं। अप्रशस्त द्रव्य, अप्रशस्त अध्यवसाय, प्रशस्त द्रव्य, प्रशस्त अध्यवसाय, ये सभी कारण बनते हैं।

ये सारे तथ्य लेश्या के गति-नियामक मानने के लिए पर्याप्त हैं।

जैनदर्शन चारों गतियों के प्रत्येक जीव में लेश्या का अस्तित्व मानता है। प्रत्येक प्राणी लेश्यावान है। शुभ-अशुभ लेश्या का जीवों में होना उनके आत्म-विकास का

परिचायक है। किस गति में, किस जीव में कौनसी लेश्याएं होती हैं, इसका विवेचन जैन वाङ्मय में विस्तार से उपलब्ध होता है।

1. रत्नप्रभा – कापोत लेश्या
2. शर्कराप्रभा – कापोत लेश्या
3. वालुकाप्रभा – कापोत लेश्या और नील लेश्या
4. पंकप्रभा – नील लेश्या
5. धूम्रप्रभा – नील लेश्या, कृष्ण लेश्या
6. तमप्रभा – कृष्ण लेश्या
7. महातमप्रभा – परम कृष्ण लेश्या[1]

संग्रहणी गाथा में सब जीवों के लिए एक साथ लेश्याओं का उल्लेख मिलता है। समुच्चय की दृष्टि से देवताओं में छहों लेश्याएं पाई जाती हैं। भवनपति और व्यन्तर देवों में – कृष्ण, नील, कापोत, तेजोलेश्या। ज्योतिष्क और सौधर्म, ईशान देवों में – केवल तेजोलेश्या। सनत्कुमार, माहेन्द्र, ब्रह्मलोक – पद्मलेश्या। आगे के देव लोक में – शुक्ललेश्या।

बादर पृथ्वीकाय, अप्पकाय और प्रत्येक वनस्पतिकाय में प्रारम्भ की चार लेश्याएं होती हैं। गर्भज तिर्यञ्चों और मनुष्यों में छः लेश्याएं और शेष जीवों में प्रथम तीन लेश्याएं होती हैं।[2]

उल्लेखनीय बिन्दु है कि सामान्यतः एकेन्द्रिय जीवों के प्रथम तीन कृष्ण, नील, कापोत लेश्या मानी गई हैं पर सूक्ष्म, बादर भेद की अपेक्षा से जब लेश्या का विचार किया जाता है तो अपर्याप्त बादर एकेन्द्रिय जीवों का स्वामित्व चार लेश्याओं – कृष्ण, नील, कापोत और तेजोलेश्या कहा जाता है।

अपर्याप्त बादर एकेन्द्रिय जीवों में तेजोलेश्या मानने का कारण यह है कि तेजोलेश्या वाले ज्योतिषी आदि देव जब उसी लेश्या में मरते हैं और बादर पृथ्वीकाय, अप्पकाय या वनस्पतिकाय में जन्म लेते हैं तब उनके अपर्याप्तावस्था में तेजोलेश्या होती है।[3]

लेश्या की शुभ-अशुभ अवधारणा

लेश्या का शुभ-अशुभ होना आत्मपरिणामों पर निर्भर है और आत्मपरिणामों की शुभता-अशुभता, प्रशस्तता-अप्रशस्तता कषाय की तीव्रता और मन्दता पर निर्भर है। लेश्या की शुभ-अशुभ अवधारणा के सन्दर्भ में हमें आश्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, पुण्य-पाप आदि की तत्त्वमीमांसा समझनी होगी।

---

1. भगवती 1/244 संग्रहणीगाथा, पृ. 44; 2. प्रज्ञापना मलयवृत्ति, पत्रांक 344
3. चतुर्थ कर्मग्रंथ स्वोपज्ञ टीका, पृ. 124

शुभ-अशुभ लेश्या और पुण्य-पाप

लेश्या को छः द्रव्यों में जीव और नव पदार्थों में जीव, आश्रव, निर्जरा माना गया है।[1] लेश्या को आश्रव तत्त्व में इसलिए समाविष्ट किया गया, क्योंकि लेश्या द्वारा कर्मबन्ध होता है। आश्रव का अर्थ है – कर्माकर्षण हेतुरात्मपरिणाम आश्रव – आत्मा का वह परिणाम जिससे आत्मा में कर्मों का आकर्षण होता है।[2] पांच आश्रवों में योग-आश्रव से लेश्या का सीधा संबंध जुड़ता है। योग प्रवृत्ति के तीन स्रोत – मन, वचन और काय – ये तीनों शुभ-अशुभ होते हैं। शुभ परिणाम से होने वाला शुभयोग और अशुभ परिणाम से होने वाला अशुभयोग कहलाता है। तत्त्वार्थसूत्र में शुभ-अशुभ योगाश्रव को पुण्य-पाप कहा गया है।[3]

जैन तत्त्ववेत्ताओं ने लेश्या परिणामों से पुण्य-पाप का बंध माना है। द्रव्यसंग्रह में अशुभ परिणामों से युक्त जीव को पाप और शुभपरिणामों से युक्त जीव को पुण्य कहा है।[4] कर्म का बंध शुभ-अशुभ परिणामों से होता है, अतः पुण्यरूप पुद्गल कर्म के बन्धन का कारण होने से शुभ परिणाम पुण्य है और पापरूप पुद्गल के कर्मबन्धन का कारण होने से अशुभ परिणाम पाप है। पाप के सन्दर्भ में पंचास्तिकाय ने जहां चार संज्ञायें, इन्द्रियवशता, आर्त्तरौद्रध्यान, दुष्प्रयुक्त ज्ञान और मोह भाव को पापप्रद माना, वहां तीन अशुभ लेश्या को भी पाप माना है।[5]

शुभ लेश्या से पुण्य का बंध होता है इसलिए उसे आश्रव कहा गया है। शुभ लेश्या से शुभकर्म का और अशुभलेश्या से अशुभकर्म का बन्ध होने के कारण उत्तराध्ययन सूत्र में इसे कर्मलेश्या और धर्मलेश्या का नाम दिया गया है।[6] लेश्या के साथ पुण्य-पाप की व्याख्या उसकी शुभता-अशुभता का स्पष्टीकरण प्रस्तुत करती है।

पुण्य-पाप की जैन अवधारणा

पुण्य-पाप (शुभ-अशुभ) दोनों ही साधना के क्षेत्र में बाधक तत्त्व हैं, क्योंकि पुण्य-पाप दोनों विजातीय तत्त्व हैं, इसलिए दोनों ही आत्मा की परतंत्रता के कारण हैं। पुण्य की हेयता के विषय में जैन परम्परा का एक मत है जबकि उसकी उपादेयता में कुछ विचार भेद है। आचार्य कुन्दकुन्द ने पुण्य-पाप का आकर्षण करने वाली विचारधारा को पर समय माना है।[7] दोनों संसार बंध के कारण हैं। एक सोने की बेड़ी है, दूसरी लोहे की बेड़ी है[8], दोनों ही उपादेय नहीं, क्योंकि आचार्य योगीन्दु कहते हैं कि पुण्य से वैभव, वैभव से अहंकार, अहंकार से बुद्धि-नाश, बुद्धि-नाश से पाप होता है। इसलिए पुण्य हमें काम्य नहीं।[9] आचार्य भिक्षु ने कहा – पुण्य की इच्छा से पापबंध होता है। पुण्य से भोग मिलता है, भोग की इच्छा से संसार बढ़ता है।[10]

---

1. झीणी चर्चा, ढाल 1/5;
2. जैन सिद्धान्त दीपिका, 4/16
3. जैन सिद्धान्त दीपिका, 4/26;
4. वृहद् द्रव्यसंग्रह – 38;
5. पंचास्तिकाय, 140
6. उत्तराध्ययन 34/1, 57;
7. पंचास्तिकाय 164-166;
8. समयसार 146
9. परमात्मप्रकाश 2/60;
10. नवपदार्थ, पुण्य ढाल/52, 59;

बंधन आखिर बंधन है। इसलिए भगवान महावीर ने कहा – पुण्य और पाप दोनों के क्षय से मुक्ति मिलती है।[1] इसी तरह पुण्य की उपादेयता के सन्दर्भ में आचार्य पूज्यपाद सर्वार्थसिद्धि में लिखते हैं कि पुण्य वह है जो आत्मा को पवित्र करता है या जिससे आत्मा पवित्र होती है।[2] उनकी दृष्टि में आत्मसाधना में पुण्य एक सहायक तत्त्व है। आचार्य हेमचन्द्राचार्य कहते हैं कि पुण्य कर्मों का लाघव है और शुभकर्मों का उदय है। दृष्टि में पुण्य अशुभ कर्मों की अल्पता और शुभ कर्मों के उदय फलस्वरूप प्राप्त प्रशस्त अवस्था का सूचक है। मूलाराधना में उस आत्मा को पुण्य कहा है जो सम्यक्त्व, श्रुतज्ञान, व्रतरूप-परिणाम तथा कषायनिग्रह से परिणत है।[3]

पुण्यार्जन की क्रिया : अनासक्त भाव से कर्मक्षय

पुण्यकर्म के सन्दर्भ में एक महत्त्वपूर्ण तथ्य है कि पुण्यार्जन की सारी क्रियायें जब अनासक्त भावों से की जाती हैं तो वे शुभबन्ध का कारण न होकर कर्मक्षय का कारण बन जाती है। ठीक इसके विपरीत संवर निर्जरा के कारण संयम और तप जब आसक्त भाव या फलाकांक्षा से जुड़ जाते हैं तो वे कर्मक्षय या निर्वाण का कारण न होकर बन्धन का कारण बन जाते हैं। इसीलिए भगवान् महावीर ने कहा – जो आश्रव या बन्धनकारक क्रियायें हैं वे ही अनासक्ति और विवेक से समन्वित होकर मुक्ति के साधक बन जाती हैं। अत: शुभ-अशुभ भावों से हटकर वे कर्म बन्धकारक नहीं बनते, जब चेतना जागृत हो, अप्रमत्त हो, विशुद्ध हो, वासनाशून्य हो, सम्यग्दृष्टि सम्पन्न हो। अत: हिंसा-अहिंसा, पुण्य-पाप, शुभ-अशुभ बाह्य परिणामों पर निर्भर नहीं होते वरन् उसमें कर्त्ता की चित्तवृत्ति ही प्रमुख होती है।

पुण्य-पाप कर्म का ग्रहण होना आत्मा के अध्यवसाय पर, लेश्या परिणाम पर निर्भर है। जैनदर्शन द्रव्य और भाव दोनों पक्षों को मूल्य देता है। मनोवृत्ति शुभ हो और क्रिया अशुभ अथवा मनोवृत्ति अशुभ हो, क्रिया शुभ, ऐसा संभव नहीं।

शुभाशुभ कर्मों में प्रमुखता राग की उपस्थिति या अनुपस्थिति की नहीं, उसकी प्रशस्तता या अप्रशस्तता की है। प्रशस्त राग शुभ या पुण्यबन्ध का कारण माना गया है और अप्रशस्त राग पापबन्ध का कारण। यद्यपि राग-द्वेष साथ-साथ रहते हैं फिर भी जिसमें राग के साथ द्वेष की मात्रा जितनी अल्प और मन्द होगी, वह राग उतना ही प्रशस्त होगा। इसलिए अन्तिम तीन लेश्या को प्रशस्त, असंक्लिष्ट और विशुद्ध कहा गया। जैन तत्त्व दर्शन में शुभ भाव लेश्या द्वारा पुण्यबंध होता है इसलिए जहां उसे आश्रव माना गया, वहां उससे कर्म टूटते हैं इसलिए निर्जरा तत्त्व में भी समाविष्ट किया गया।[4]

शुभलेश्या से निर्जरा

निर्जरा से तात्पर्य ऐसे जीव के परिणाम जिनसे कर्मों का निर्जरण होता है। आत्मविशुद्धि प्राप्त होती है। यह पुरातन कर्मों के क्षय करने की प्रक्रिया है। लेश्या

---

1. उत्तराध्ययन 21/24;
2. सर्वार्थसिद्धि 6/3 की टीका
3. मूलाराधना 234;
4. झीणी चरचा 1/12;

ज्यों-ज्यों विशुद्ध होती है, शुभ योगों में परिणत होती है, कषाय मन्दता आती है तो नए कर्मों का बंध रुकता है और पुराने कर्मों का निर्जरण होता है। जैन आगम में कहा गया कि छद्मस्थ की शुक्ललेश्या से और केवली की शुक्ल लेश्या से कर्मों की निर्जरा होती है। इसीलिए इन्हें क्षायोपशमिक/क्षायिक भाव माना गया है।[1] शुभलेश्या को निरवद्य कह कर यह तथ्य स्पष्ट किया गया कि लेश्या से पुण्यबंध होने के कारण वह आश्रव है पर प्रथम चार आश्रव-मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय और अशुभयोग सावद्य है और शुभ योग से निर्जरा होती है इसलिए लेश्या निरवद्य है।

आत्मा की वह विशुद्धावस्था जिसके कारण कर्मपुद्गल आत्मा से अलग होते हैं, भाव निर्जरा और कर्म परमाणुओं का आत्मा से पृथक्करण द्रव्य निर्जरा कहलाती है। इसे सविपाक और अविपाक भी कहा जाता है। जैन-दर्शन के अनुसार आत्मा सविपाक निर्जरा तो अनादि काल से करता आ रहा है लेकिन निर्वाण का लाभ प्राप्त नहीं कर सका। आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं – यह चेतन आत्मा कर्म के विपाक काल में सुखद और दुःखद फलों की अनुभूति करते हुए पुनः दुःख के बीज रूप आठ प्रकार के कर्मों का बन्ध कर लेता है, क्योंकि कर्म जब अपना विपाक फल देते हैं तो किसी निमित्त से देते हैं और अज्ञानी आत्मा शुभनिमित्त पर राग और अशुभ निमित्त पर द्वेष करके नवीन बन्ध कर लेता है।[2]

आध्यात्मिक जीवन का उद्देश्य है अलेश्य बनना। अशुभ से शुभ और शुभ से शुद्धोपयोग तक पहुंचना जीवन का नैतिक साध्य है। लेश्या के सन्दर्भ में भी कहा जा सकता है कि लेश्या स्वयं मुक्ति पथ का बाधक तत्त्व है, क्योंकि इसे औदयिक भाव माना गया है[3] पर जब अशुभ से शुभ तक पहुँचती है तो आत्मपरिणामों की विशुद्धता से निर्जरा और संवर जैसे मोक्षसाधक तत्त्वों से जुड़ जाती है और तेरहवें गुणस्थान तक अस्तित्व में रहती है।

लेशी से अलेशी बनना हमारा आत्मिक उद्देश्य है। इसके लिए कर्म से अकर्म की ओर बढ़ना अत्यावश्यक है। कर्म से तात्पर्य केवल क्रिया या अक्रिया नहीं है। भगवान महावीर के शब्दों में – प्रमाद कर्म है, अप्रमाद अकर्म है।[4] सूत्रकृतांग में अप्रमत्तावस्था में क्रिया भी अक्रिया बन जाती है और प्रमत्तावस्था में अक्रिया भी कर्मबन्धन का कारण हो जाती है। परम शुक्ललेश्या में प्रवेश करने का मतलब है – अकर्म बनने की पूर्ण तैयारी, पूर्ण जागरूकता। •

---

1. झीणी ज्ञान, 100, 101;
2. समयसार 389
3. अनुयोगद्वार 275;
4. सूत्रकृतांग 1/8/3

द्वितीय अध्याय

मनोवैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य में लेश्या

* चेतना के विविध स्तर
* मूल प्रवृत्तियां और संज्ञाएं
* मनोवृत्तियों की प्रशस्तता/अप्रशस्तता
* कषाय (संवेग) की विविध परिणतियां
* लेश्या : स्थूल और सूक्ष्म चेतना का सम्पर्क-सूत्र
* अचेतन मन के स्तर पर कर्मबन्ध
* बिना भाव बदले मन नहीं बदलता
* अध्यवसाय, लेश्या और परिणाम

द्वितीय अध्याय

मनोवैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य में लेश्या

जैन साहित्य में कषायोदय अनुरंजित योगप्रवृत्ति को लेश्या कहा गया है। कषाय और योग चेतना के बाह्य और भीतरी दोनों स्तरों से जुड़े हैं। मनोविज्ञान की तरह इसका संबंध भी व्यवहार-जगत और मानसिक-जगत दोनों से है।

आधुनिक मनोविज्ञान स्वतंत्र विज्ञान के रूप में पिछले दो सौ वर्षों से अस्तित्व में आया है जबकि लेश्या सिद्धान्त सदियों पुरानी शाश्वत आगम वाणी है।

लेश्या और मनोविज्ञान का अध्ययन दोनों एक दूसरे के पूरक कहे जा सकते हैं। लेश्या भाव-जगत की सूक्ष्म व्याख्या करती है। यह प्राणी के आचरणों के मूल स्रोतों की व्याख्या में एक सशक्त भूमिका निभाती है। इसलिए मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों के साथ यदि लेश्या की अवधारणा जुड़ जाती है तो चेतन-अचेतन के मनोविश्लेषण में चिन्तन और प्रयोगों को नयी दिशाएं मिल सकती हैं। यह केवल व्याख्या सूत्र ही नहीं, भाव परिवर्तन में भी महत्त्वपूर्ण चिकित्सा का काम कर सकती है।

लेश्या का मनोवैज्ञानिक अध्ययन करते समय प्रस्तुत अध्याय में मनोविज्ञान के संप्रत्यय पर संक्षिप्त चर्चा अपेक्षित है, क्योंकि आधुनिक मनोविज्ञान मन (Mind) और व्यवहार (Behaviour) तक सीमित है पर इसका मूल प्रतिपाद्य चेतना (Psyche) रहा है। अरस्तू ने उसे परिभाषित करते हुए कहा – मानव की आत्मा का अध्ययन करना मनोविज्ञान है।

ईसा की सोलहवीं शताब्दी तक मनोविज्ञान आत्मा का विज्ञान (Science of Soul) माना जाता रहा। पर आत्मा का कोई निश्चित स्वरूप, आकार और रंग नहीं होने से उसका वैज्ञानिक अध्ययन संभव नहीं था, अतः मनोविज्ञान को मन/मस्तिष्क का विज्ञान (Science of Mind) मान लिया गया। इस मान्यता में भी कई कठिनाइयां आईं, क्योंकि मस्तिष्क का अर्थ व्यक्तिगत विवेक और विचारणा शक्ति से माना गया, जिसका अभाव पागलों अथवा सुप्त मनुष्यों में पाया जाता है। प्रयोगों के बीच जब यह ज्ञात हुआ कि मानसिक शक्तियां अलग-अलग कार्य नहीं करतीं अपितु एक साथ कार्य करती हैं तो मनोविज्ञान को चेतना का विज्ञान (Science of Consciousness) कहना अधिक उचित समझा गया। इस सन्दर्भ में विलियम जेम्स ने कहा कि मनोविज्ञान की सर्वश्रेष्ठ परिभाषा यह है कि यह चेतना की विभिन्न अवस्थाओं का वर्णन और व्याख्या करती है।

इस सन्दर्भ में यह चिन्तन भी सामने आया – जरूरी नहीं कि सारे अनुभव चेतन ही हों, अधिकांश अनुभव अचेतन होते हैं, अतः यह परिभाषा मन की सभी अवस्थाओं की व्याख्या करने में सक्षम नहीं है। साथ ही चेतना का विज्ञान कहने से मनोविज्ञान आत्मनिष्ठ बन गया जबकि सिर्फ आत्मनिष्ठ अनुभव सही निर्णय नहीं दे सकता। इसका वस्तुनिष्ठ होना जरूरी है।

आधुनिक मनोविज्ञान ने अपने अध्ययन का क्षेत्र व्यवहार को बनाया। इस विचारणा को वॉटसन ने दृढ़ता से प्रतिपादित किया। व्यवहार को देखा/समझा जा सकता है, इसका स्वरूप वस्तुनिष्ठ है। आगे चलकर इसमें और नया उद्देश्य जोड़ दिया तथा मनोविज्ञान की सर्वांगीण एवं मान्य परिभाषा जेम्स ड्रेवर ने प्रस्तुत की कि मनोविज्ञान वह शुद्ध विज्ञान है जो मानव तथा पशु के उस व्यवहार का अध्ययन करता है जो व्यवहार उसके आन्तरिक मनोभावों और विचारों की अभिव्यक्ति करता है जिसे हम मानसिक जगत कहते हैं।[1]

पन्द्रहवीं शताब्दी से लेकर उन्नीसवीं शताब्दी तक परिवर्तन के दौर से गुजरता हुआ मनोविज्ञान शब्द का अर्थ इतना बदल गया कि वह केवल व्यावहारिक घटनाओं का व्याख्याता शास्त्र मात्र बनकर रह गया जबकि चेतना की बात सर्वथा लुप्तप्रायः हो गई।

आधुनिक परिप्रेक्ष्य में मनोविज्ञान ने अपने अध्ययन का क्षेत्र अनुभव और व्यवहार को बनाकर व्यक्ति के साथ पर्यावरण के संबंधों की व्याख्या की है पर लेश्या का मनोविज्ञान न केवल पशु-पक्षी और मनुष्य जगत के मन को विषय बनाता है बल्कि उन सभी जीवों के आन्तरिक भावों की व्याख्या करता है जिनके न मन है और न मस्तिष्क। इस दृष्टि से लेश्या के तात्त्विक सिद्धान्तों को मनोविज्ञान के परिप्रेक्ष्य में दी जाने वाली प्रस्तुति केवल मनोभावों का विश्लेषण ही नहीं करेगी अपितु अशुभ भावों को शुभ भावों में रूपान्तरित करने की प्रायोगिक विधियां भी प्रस्थापित करेगी।

चेतना के विविध स्तर

मनोविज्ञान चेतना के तीन पक्ष मानता है – ज्ञानात्मक (Cognitive) भावात्मक (Affective) और संकल्पात्मक (Conative)। इसी आधार पर चेतना के तीन कार्य माने गए – जानना, अनुभव करना और इच्छा करना। इस विषय पर प्राचीन समय से ही विचार होता रहा है। आचार्य कुन्दकुन्द ने भी चेतना के तीन पक्षों का निर्देश किया – 1. ज्ञानचेतना 2. कर्मफल चेतना 3. कर्म चेतना।[2] तुलनात्मक दृष्टि से देखें तो ज्ञान चेतना को ज्ञानात्मक, कर्मफल चेतना को भावात्मक और कर्म चेतना को संकल्पात्मक यानी संसार का मूल कारण माना जा सकता है।

ज्ञानचेतना कर्मबन्ध का कारण नहीं बनती, क्योंकि वह बन्धन-मुक्त जीवात्माओं में होती है। कर्मफल चेतना भी कर्मबन्ध में निमित्त नहीं बन सकती, क्योंकि अर्हत् या केवली

1. James Drever : Psychology : The study of Man's Mind.
2. पंचास्तिकाय 38

में भी वेदनीय कर्म का फल भोगने के कारण कर्मफल चेतना तो होती है मगर वह बन्धन का निमित्त नहीं बनती। उत्तराध्ययन में भी उल्लेख मिलता है कि इन्द्रियों के माध्यम से होने वाली सुख-दु:खात्मक अनुभूति वीतराग के मन में राग-द्वेष के भाव उत्पन्न नहीं कर सकती।[1]

इस प्रकार न ज्ञानात्मक पक्ष बन्धन का कारण है और न अनुभूत्यात्मक पक्ष। चेतना का तीसरा पक्ष संकल्पात्मक को कर्मचेतना माना गया है, वह बन्धन का कारण है, क्योंकि यह स्वत: सक्रिय चेतना है। संकल्प-विकल्प एवं रागद्वेषात्मक भावों का जन्म चेतना की इसी अवस्था में होता है, अत: जैन दर्शन कर्मचेतना को प्राणी के व्यवहार के सन्दर्भ में मुख्य घटक मानता है।

भगवान महावीर ने कैवल्य के आलोक में जीव और जगत के स्वरूप का साक्षात्कार किया। उनकी वाणी को मनोविज्ञान के सन्दर्भ में पढ़ते हैं तो यह कहना अतिरंजना नहीं होगी कि वे परम मनोवैज्ञानिक थे, क्योंकि उन्होंने मन की विभिन्न अवस्थाओं का प्रतिपादन ही नहीं किया, वहां तक पहुँचने का सोपान पथ भी दिखलाया।

'अणेग चित्ते खलु अयं पुरिसे'[2] यह पुरुष अनेक चित्त वाला है, भगवान महावीर का यह शाश्वत स्वर मनोविज्ञान के उन सारे पक्षों की ओर संकेत करता है जिनमें से बहुतों की अर्थयात्रा करना अब भी मनोविज्ञान के लिए अवशिष्ट है।

श्रमणोपासिका जयन्ती ने भगवान महावीर के समक्ष एक जिज्ञासा रखी – भंते ! प्रशस्त क्या है और अप्रशस्त क्या है ? महावीर ने कहा – लघुता प्रशस्त है और गुरुता अप्रशस्त है। जयन्ती पूरी तरह समाहित नहीं हुई। उसका अगला प्रश्न था – भंते ! क्या जीव हल्का और भारी होता है ?

महावीर ने कहा – जीव प्राणातिपात, मृषावाद आदि क्रियाओं से भारी होता है और इनका निरोध करने से हल्का बन जाता है।

जयन्ती और भगवान महावीर का यह संवाद जहां विधेयात्मक और निषेधात्मक व्यक्तित्व के घटकों की चर्चा करता है वहां इस सूक्ष्म सत्य की ओर भी इंगित करता है कि क्रिया केवल क्रिया के रूप में ही समाप्त नहीं होती, वह अपने पीछे संस्कार के पदचिन्ह भी छोड़ जाती है। वे संस्कार जब उदय में आते हैं तो व्यक्ति फिर तदनुरूप क्रिया करने को तत्पर हो जाता है। हमारे संस्कारों का अक्षय भण्डार इस प्रक्रिया से सदा भरता रहता है। मनोविज्ञान संस्कारों के इसी भण्डार को अचेतन की संज्ञा से अभिहित करता है।

लेश्या हमारी चेतना के सूक्ष्म स्तरों से संबंधित है, इसलिए लेश्या के मनोवैज्ञानिक अध्ययन में फ्रायड के अवचेतन व अचेतन की चर्चा आवश्यक है। फ्रायड के गहन मनोविज्ञान (Depth Psychology) की अवधारणा बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। उनके अनुसार

---

1. उत्तराध्ययन 32/100; 2. आचारांग 3/1/42

व्यक्ति के चेतन अनुभवों के नीचे भी कई स्तर हैं। ये स्तर मनोवैज्ञानिक की अपेक्षा जैविक अधिक हैं और हमारे व्यवहार को प्रभावित करते हैं।

फ्रायड के अनुसार मन के तीन स्तर हैं – चेतन (Conscious), अवचेतन (Pre-conscious) और अचेतन (Unconscious)। व्यक्ति को जिन इच्छाओं, विचारों या घटनाओं की वर्तमान में चेतना रहती है, वे सभी उसके चेतन मन के विषय रहते हैं। अवचेतन मन उन सतही स्मृतियों व इच्छाओं का भण्डार है जिनका ज्ञान व्यक्ति को वर्तमान में नहीं रहता, पर कोशिश करने पर उसकी चेतना हो जाती है। अचेतन मन उन दमित हुए विचारों, भावनाओं और आवेगों का संग्रहालय है जिसकी चेतना व्यक्ति में न तो वर्तमान में रहती है और न कोशिश करने पर ही साधारणत: जिसकी चेतना हो पाती है।

चेतन तथा अवचेतन की सामग्री आन्तरिक रूप से स्थिर, अस्थायी रूप से व्यवस्थित तथा बाह्य घटनाओं के अनुकूल बनने में सक्षम है। अचेतन मन समय की सीमा से परे, अव्यवस्थित, शिशुवत् अविकसित तथा आदिमकालीन होता है। इसका वास्तविकता से कोई वास्ता नहीं होता यानी कि समाज के नियमों आदि से इसका कोई संबंध नहीं होता।

अचेतन की विषय-सामग्री दो स्रोतों से आती है। एक भाग तो उन आदिमकालीन, आनन्दप्रधान तथा कुछ-कुछ पाशविक विचारों अथवा चेष्टाओं का है जो कभी चेतन नहीं होती है। वे व्यक्ति को उत्तराधिकार में प्राप्त होती हैं। दूसरा स्रोत उन विचारों, स्मृतियों व इच्छाओं का है जो कभी चेतन थी, परन्तु दहलाने वाली व कष्टप्रद होने के कारण जो मन के गहनतम भाग में धकेल दी गईं अथवा दमित कर दी गईं। ये बहिष्कृत विचार चेतन स्तर पर वापस न आने पाए, इसका पूरा प्रयास किया जाता है।

दोनों प्रकार की अचेतन की सामग्री हमारे चेतन स्तर पर सीधे आने से रोक दी जाती है, क्योंकि इससे कोमल भावनाओं को दु:ख अथवा आत्म-सम्मान को चोट पहुंचती है। अचेतन कभी भी प्रसुप्त नहीं रहता। यह गहरी नदी में भयंकर वेगवान तथा कीचड़मय भंवर-जाल की तरह सदा ऊपर के साफ जल के तत्त्वों तथा प्रवाह पर गहरा प्रभाव डालता है। स्वप्न, सम्मोहन, दैनिक जीवन की मनोविकृतियां, निद्रा, भ्रमण आदि अचेतन के अस्तित्व को सिद्ध करते हैं। अचेतन की जो इच्छाएं अधिक जटिल नहीं होतीं, उनकी अभिव्यक्ति तो स्वप्न, अत्यन्त प्रच्छन्न कल्पनाएं, आन्तरिक संघर्ष आदि के माध्यम से हो जाती हैं। लेकिन ज्यादा जटिल और पूर्णत: दमित इच्छाओं की अभिव्यक्ति इतनी सरलता से नहीं हो पाती। ऐसी इच्छाएं चेतना के अवरोधक (Censor) को कमजोर बना देती है और कभी-कभी अवरोधक ढीला पड़ जाता है। अचेतन की दीवारें टूट जाती हैं और उनमें से अनैतिक विचार व व्यवहार अभिव्यक्त होने लगते हैं।

इस सन्दर्भ में फ्रायड द्वारा किए गए व्यक्तित्व के तीन भाग इदम् (Id), अहम् (Ego) तथा पराअहम् (Super-ego) भी अपने आप में महत्त्वपूर्ण हैं। इदम् अचेतन का प्रतिनिधि है। यह अनैतिक, तर्कशून्य, दिक्काल की सीमा से मुक्त, सुखैषणावृत्ति से शासित, दमित

विचारों का संग्रह, मूलप्रवृत्तियों का वास स्थान लिबिडो का भण्डार गृह है। यहां पर एक दूसरे को प्रभावित किए बिना परस्पर विरोधी आवेग साथ-साथ विद्यमान रहते हैं। अचेतन की तरह ही यह भी अव्यवस्थित और जीवन की वास्तविकता से परे रहता है।

अहम् 'मैं' है, जो सोचता है, अनुभव करता है, निर्णय करता है तथा इच्छा करता है। इसे हम इदम् का वह भाग भी मान सकते हैं जो बाह्य संसार से सामीप्य के फलस्वरूप वास्तविकता के सिद्धान्त के रूप में परिणत हो गया है। अहम् के मुख्य कार्य हैं – 1. शरीर के पोषण की आवश्यकता पूर्ण करना तथा इसे हानि से बचाए रखना, 2. इदम् की इच्छाओं का वास्तविकता की मांग के अनुसार तालमेल बिठाना, 3. दमन करना, 4. इदम् और पराअहम् की परस्पर विरोधी चेष्टाओं में सामंजस्य स्थापित करना। इदम् अहम् का ऊर्जा स्रोत है तथा पराअहम् इसका नैतिक अवरोधक है।

पराअहम् में उत्तराधिकार में प्राप्त वे नैतिक प्रवृत्तियां हैं जो सांस्कृतिक वातावरण से ग्रहण किए हुए प्रतिबन्ध, नीति, सदाचार, कई निषेध अथवा विचारों द्वारा परिपुष्ट व परिष्कृत की गई हो। व्यक्तित्व के इस भाग में नैतिकता, निषेधाज्ञा और सामाजिक आदर्श विद्यमान रहते हैं जो व्यक्ति को माता-पिता, अध्यापकों और सामाजिक समूहों से प्राप्त होते हैं।

व्यक्तित्व के गतिशील अंग इदम्, अहम् तथा पराअहम् अचेतन, अवचेतन, चेतन स्तरों को अपना कार्यक्षेत्र बनाते हैं। 'इदम्' आवेग प्रधानत: अचेतन है। 'अहम्' अधिकांशत: 'चेतन' स्तर पर कार्य करता है तथापि इसका बहुत बड़ा भाग 'अवचेतन' तथा 'अचेतन' में स्थित रहता है 'पराअहम्' भी तीन स्तरों पर कार्य करता है पर यह अहम् की अपेक्षा चेतन कम, अवचेतन तथा अचेतन अधिक होता है। ये स्तर व्यक्तित्व के स्थलरूपरेखीय (Topographical) पक्ष हैं, जिसमें इदम्, अहम् तथा पराअहम् के मध्य अन्तर्द्वन्द्व घटित होते हैं। हमारा समस्त व्यवहार इन चेतन, अवचेतन तथा अचेतन अन्तर्द्वन्द्वों के निराकरण के तरीकों का परिणाम है।

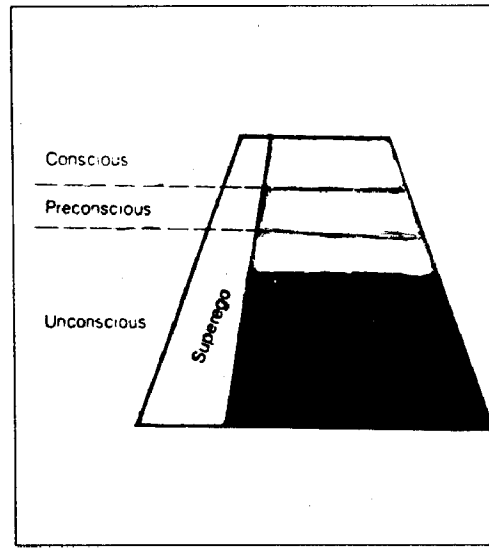

मनोविज्ञानी फ्रायड ने मानव व्यवहार की प्रेरक शक्ति के रूप में दो तत्त्व स्वीकार किए हैं। उन्होंने इन दोनों तत्त्वों को इरोस (Eros) और थैनटॉस (Thantos) की संज्ञा दी है। ये दोनों तत्त्व ही व्यक्ति की जीवनमूलक और मृत्युमूलक प्रवृत्ति के सूचक हैं।

शब्दान्तर से कहें तो पहली प्रवृत्ति रचनात्मकता की मूल है और दूसरी प्रवृत्ति के साथ विध्वंस की बात जुड़ी है।

इन दोनों अवधारणाओं के साथ चेतना के स्तर आदि के पारस्परिक संबंधों को जेम्स डी. पेज ने अपनी पुस्तक में तालिकाबद्ध विवरण के माध्यम से अच्छी तरह स्पष्ट किया है।[1]

General Biological Energy

Eros or Life Drives		Thanatos or Death Drive
Libido Impulses	**Ego Impulses**	**Death and Aggression Impulses**
Guided by Pleasure Principle	Guided by Reality Principle	Guided by Nirvana Principle
Expressed by Self love, love of others uninhibited pursuit of pleasure	Expressed by Satisfying needs of the body in a socially approved manner. Use of sublimation and repression	Expressed by Destructiveness toward others and toward self
Located in the Unconscious	Located in the Conscious and Unconscious	Located in the Unconscious
Represented by the Id	Represented by the Ego and Superego	Represented by the Id

इरोज और थैनटॉस दोनों मूल प्रवृत्तियों के सन्दर्भ में महत्त्वपूर्ण बात है कि फ्रायड ने इनकी स्वतंत्र सत्ता स्वीकार नहीं की। उन्होंने माना कि उनमें सतत उभयभाव बना रहता है।

जैन मान्यता के अनुसार राग की अभिव्यक्ति के समय में व्यक्ति द्वेष चेतना से मुक्त नहीं हो जाता और द्वेष के क्षणों में राग का संस्कार समाप्त नहीं होता, भले अपने चर्म चक्षुओं से हम इस सच्चाई को पकड़ सकें अथवा न पकड़ सकें।

लेश्या भी जब तक कषाय चेतना से जुड़ी रहती है तब तक रागद्वेषात्मक संस्कारों का संचालन करती रहती है। व्यक्ति कभी प्रियता में जीता है और कभी अप्रियता में जीता

1. James D. Page, Abnormal Psychology, P. 186

है किन्तु महत्त्वपूर्ण बात है भावों/लेश्या के प्रति जागरूकता की जिससे चेतन, अचेतन के संस्कारों का शोधन सम्भव हो सके।

मनोविज्ञान द्वारा प्रतिपादित चेतना के विभिन्न स्तरों को जब हम जैन दर्शन के लेश्या संप्रत्यय के परिप्रेक्ष्य में देखते हैं तो दोनों का तुलनात्मक स्वरूप उभर कर हमारे सामने आता है।

जीवनमूलक शक्ति के रूप में फ्रायड लिबिडो की चर्चा करता है। प्रश्न उभरता है कि लेश्या सिद्धान्त के साथ उसकी संगति कैसे होगी? हम गहरे में उतरकर देखें तो पाएंगे कि इस दृष्टि से मनोविज्ञान और जैन दर्शन दोनों एक ही धुरी पर खड़े हैं। जैन दर्शन संज्ञा के सन्दर्भ में जीव को वेदन की संज्ञा देता है और फ्रायड 'काम' को मूलप्रवृत्ति मानता है। यद्यपि दोनों का कार्यक्षेत्र भिन्न होने के कारण दोनों की अभिव्यक्ति में अन्तर आ गया है। मनोविज्ञान व्यवहार का शास्त्र होने के कारण लिबिडो को सारी प्रवृत्तियों का मूल मानता है, जबकि जैन दर्शन अध्यात्म का व्याख्याता होने के कारण कामनाओं से मुक्त होने की बात पर बल देता है। वह भी बराबर यह कहता है कि – कामे कमाही कमियं खु दुक्खं – कामना संसार का मूल है।[1] इन दो भिन्न-भिन्न दृष्टियों से कहे गए पहलुओं को मिलाकर देखते हैं तो दोनों का निष्कर्ष एक ही आता है।

मूलप्रवृत्तियां और संज्ञाएं

चेतना के भिन्न-भिन्न स्तरों की मनोविज्ञान आज जिस तरह अलग-अलग नामों से पहचान करवाता है एवं उनकी कार्यपद्धति पर प्रकाश डालता है, वैसा विस्तृत वर्णन यद्यपि हमें जैन दर्शन में नहीं मिलता, पर उसके मूलभूत स्रोत का वर्णन सांगोपांग उपलब्ध होता है। मानव व्यवहार के मूलभूत स्रोत मूलप्रवृत्ति को जैन दर्शन 'संज्ञा' के नाम से विश्लेषित करता है। स्थानांग सूत्र में संज्ञा शब्द को व्याख्यायित करते हुए टीकाकार अभयदेवसूरि लिखते हैं – हमारी चेतना की एक विशेष अवस्था संज्ञा है। इस स्थल पर उन्होंने एक विशेष जानकारी यह दी है कि संज्ञा का अर्थ मनोविज्ञान भी किया गया है।[2] जैन ग्रन्थों में मनोविज्ञान शब्द का यह प्रयोग हमें उस समय उपलब्ध होता है जबकि विश्व के दूसरे-दूसरे दार्शनिक इसकी प्राक्कल्पना भी नहीं कर पाए थे। जैन दर्शन में संज्ञा के दस प्रकारों का प्रतिपादन किया गया है। वे इस प्रकार हैं[3] –

1. आहार	6. मान
2. भय	7. माया
3. मैथुन	8. लोभ
4. परिग्रह	9. ओघ
5. क्रोध	10. लोक

1. दसवैकालिक 2/5;
2. संज्ञानं संज्ञा आभोग इत्यर्थः मनोविज्ञानमित्यन्ये। स्थानांग वृत्तिपत्र 478
3. स्थानांग 10/105

इनमें प्रथम आठ संज्ञाएं संवेगात्मक और अन्तिम दो संज्ञाएं ज्ञानात्मक हैं। इनकी उत्पत्ति बाह्य और आन्तरिक उत्तेजना से होती है। इनके अतिरिक्त तीन प्रकार की संज्ञाओं का प्रतिपादन और किया गया है –

1. हेतुवादोपदेशिकी, 2. दीर्घकालिक, 3. सम्यग्दृष्टि – ये तीनों संज्ञाएं ज्ञानात्मक हैं।

आचारांग निर्युक्ति[1] में चौदह प्रकार की संज्ञाओं का उल्लेख उपलब्ध होता है –

आहार भय परिग्गह मेहुण सुख दुक्ख मोह वितिगिच्छा ।
कोह माण माया लोहे सोगे लोगे य धम्मोहे ॥

पूर्ववर्णित दस संज्ञाओं के अतिरिक्त चार नई संज्ञाएं इस प्रकार हैं – सुख-दुःख, मोह, विचिकित्सा, शोक। ओघ संज्ञा के स्थान पर धर्मसंज्ञा शब्द का प्रयोग मिलता है। संज्ञा के उपर्युक्त वर्गीकरण में लोक और ओघ दो संज्ञाओं को छोड़कर सभी संवेगात्मक हैं। जब हम कार्यकारण भाव की दृष्टि से विचार करते हैं तो इन संज्ञाओं के तीन वर्ग बन जाते हैं –

1. आहार, भय, मैथुन, परिग्रह
2. क्रोध, मान, माया, लोभ
3. लोक, ओघ

प्रथम वर्ग की संज्ञाओं के कारण दूसरे वर्ग की संज्ञाएं उभरती हैं, विकसित होती हैं। एक कुत्ते को रोटी डाली गई, दूसरा कुत्ता उसे छीनने के लिए झपटता है। रोटी के कारण क्रोध पैदा होता है। एक व्यक्ति को अच्छी आजीविका मिल रही है, दूसरा उस स्थान पर आने का प्रयत्न करता है। यदि ऐसा नहीं होता है तो आपस में मनमुटाव हो जाता है। इसी प्रकार आहार संज्ञा के कारण मान, माया और लोभ जागते हैं। भय, मैथुन और परिग्रह से भी क्रोध आदि संज्ञाएं जागती हैं। ओघ संज्ञा सामुदायिकता की द्योतक है। अधिकांशतः व्यक्ति सामुदायिक चेतना के स्तर पर सोचता है – जो सबको होगा, वह मुझे भी हो जाएगा। मैं अकेला इससे वंचित क्यों रहूं, इत्यादि। सामुदायिकता के साथ-साथ हमारी वैयक्तिक चेतना भी सक्रिय होती रहती है। जैन दर्शन इस चेतना को लोकसंज्ञा के नाम से पुकारता है।

मूल प्रवृत्तियों के सन्दर्भ में जैन दर्शन ने जो एक महत्त्वपूर्ण प्रस्थान किया है, वह है इनकी कारणता पर विचार। मनोविज्ञान के क्षेत्र में यह विषय अब तक अनछुआ ही रहा है। वेदनीय और मोहनीय कर्म की सक्रियता के अतिरिक्त अन्य कारण इस प्रकार हैं –

आहार संज्ञा

1. रिक्त कोष्ठता
2. आहार के दर्शन से उत्पन्न मति
3. आहार संबंधी चिन्तन

---

1. आचारांग निर्युक्ति गाथा-39

भय संज्ञा

1. हीनसत्वता
2. भयानक दृश्य को देखने से उत्पन्न मति
3. भय संबंधी चिन्तन

मैथुन संज्ञा

1. मांस और रक्त का उपचय
2. मैथुन संबंधी चर्चा के श्रवण एवं तद्विषयक दृश्यों से उत्पन्न मति।
3. मैथुन संबंधी चिन्तन

परिग्रह संज्ञा

1. अविमुक्तता
2. परिग्रह संबंधी चर्चा के श्रवण से उत्पन्न मति
3. परिग्रह संबंधी चिन्तन[1]

चित्तवृत्तियों की उत्पत्ति में लेश्या सिद्धान्त पर्यावरणीय बिन्दु को भी गौण नहीं करता। देव और नारक में जो स्थित लेश्या बतलाई गई है, उसका मुख्य कारण वहां पर उपलब्ध पर्यावरण ही है। देवों में प्रशस्त स्थित लेश्या और नरक में अप्रशस्त स्थित लेश्या मानी गई है, क्योंकि वहां शुभ और अशुभ पुद्गलों का प्राधान्य है।

जैन दर्शन बुरी आदतों की चर्चा पाप के नाम से करता है। उसके प्राणातिपात, मृषावाद आदि अठारह प्रकार हैं। इनमें राग-द्वेष दो जटिल आदतें हैं और शेष सभी उन्हीं की उपजीवी आदतें हैं। इनसे उत्प्रेरित हो व्यक्ति निरन्तर आरम्भ और परिग्रह में संलग्न रहता है। आरम्भ और परिग्रह में सतत संलग्न व्यक्ति की मानसिकता का चित्रण करते हुए भगवान महावीर ने कहा –

1. वह धर्म को उपलब्ध नहीं होता।
2. वह विशिष्ट ज्ञान को उपलब्ध नहीं होता।
3. वह आन्तरिक अनुभूति को उपलब्ध नहीं होता।

आचार्य मलयगिरि ने प्रज्ञापना वृत्ति में कौनसी संज्ञा किस गति में उपलब्ध है, इसका उल्लेख कर मन की मनोवृत्ति पर प्रकाश डाला है। उन्होंने लिखा है – नारक में भयसंज्ञा, तिर्यञ्च में आहार संज्ञा, देव में परिग्रह संज्ञा और मनुष्य में लोभ संज्ञा अधिक पायी जाती है।[2]

काम एक संज्ञा है। यह प्रत्येक प्राणी में होती है। मनुष्य में ही नहीं, पशु-पक्षियों और स्थावर प्राणियों में भी पाई जाती है। प्रश्न उभरता है कि जब काम मौलिक मनोवृत्ति है फिर इसे दु:ख का कारण क्यों कहा गया ?

---

1. स्थानांग 4/579-82; 2. प्रज्ञापनामलयवृत्ति पत्रांक 223

जैन दर्शन इसके समाधान में काम का विचय यानी विश्लेषण करता है। कामवृत्ति आसक्ति पैदा करती है। आसक्ति दु:ख का स्रोत है, क्योंकि आसक्ति द्वेष के बिना नहीं होती। एक के प्रति राग, तो दूसरे के प्रति द्वेष अवश्य होगा। राग और द्वेष दोनों साथ चलते हैं। इसलिए माना गया कि कामसंज्ञा क्रोध भी पैदा करती है।

कामसंज्ञा से आसक्ति और द्वेष पैदा होता है और यह युग्म दूसरी पीड़ाओं को जन्म देता है। कामसंज्ञा के साथ परिग्रह भी आवश्यक है। मनुष्य जो भी संग्रह करता है कामसंज्ञा से प्रेरित होकर करता है। संग्रह होने पर अतृप्ति जागती है। जहां अतृप्ति है वहां सन्तोष नहीं होता। असन्तोष में चौर्यवृत्ति प्रकट होती है। कामना मनुष्य में चौर्यवृत्ति उत्पन्न करती है। माया मृषा की आदत बनती है। फिर कर्मों का संचय होता है। इस संचयन के साथ काम का सीधा संबंध है।[1]

काम की प्रगाढ़ता होती है तो कर्मसंचय सामान्य नहीं, चिकना होता है। चिकनी भींत पर रेत डालने से वह रेत भींत का स्पर्श करती है और मिट्टी वहीं चिपक जाती है। काम के साथ यदि आसक्ति गहरी नहीं होती है तो सूखी भींत पर मिट्टी डालने से मिट्टी भींत का स्पर्श कर नीचे आ गिरती है।[2]

कामसंज्ञा उत्पन्न होती है काम का चिन्तन करने से। साधना के सन्दर्भ में चिन्तन की स्थिरता को भी महत्त्वपूर्ण उपक्रम माना गया है। स्थानांग सूत्र में संज्ञाओं की उत्पत्ति के चार कारणों में से एक कारण माना गया है – मति। जिस विषय में हमारा चिन्तन चलता है वही वृत्ति पैदा हो जाती है और इन वृत्तियों को प्रेरणा मिलती है हमारे भाव-संस्थान से।

फ्रायड लिबिडो शब्द का प्रयोग जिस अर्थ में करते हैं, उसे बहुत कम लोग पकड़ पाए हैं। वे उसे संभोग तक ही सीमित कर देते हैं। पर फ्रायड की दृष्टि में उसका वास्तविक अर्थ है – सुख की चाह। जैन दर्शन भी सुख की चाह को प्रत्येक संसारी का एक अनिवार्य लक्षण मानता है। वहां सुख के लिए परमधार्मिक शब्द व्यवहृत हुआ है।

मनोवृत्तियों की प्रशस्तता/अप्रशस्तता

आधुनिक मनोविज्ञान मानव व्यवहार को व्याख्यायित करने के लिए सर्वप्रथम जिस सूत्र का अवलम्बन लेता है, वह अनुप्रेरणा है। कोई भी प्राणी केवल अपनी जैविक आवश्यकताओं के लिए कार्य नहीं करता। उसके अतिरिक्त उद्दीपक, वातावरण जैसे न जाने कितने तत्त्व उसके व्यवहार को संचालित करते हैं। अनुप्रेरणा के अर्थ में ही हमें आवश्यकता (Need), अन्तर्नोद (Drive), प्रेरक (Incentive) आदि शब्दों का प्रयोग भी मनोविज्ञान में उपलब्ध होता है। मनोविज्ञान के क्षेत्र में संवेग को एक शक्तिशाली अनुप्रेरक के रूप में माना गया है। इसका स्वरूप ही स्वयं इसकी अनुप्रेरकता को सिद्ध

1. उत्तराध्ययन 32/29, 30; 2. वही, 25/40

कर रहा है। संवेग को परिभाषित करते हुए कहा गया है – किसी प्रकार के आवेग में आने, भड़क उठने और उत्तेजित दशा को सूचित करने वाला तत्त्व है संवेग। कहीं-कहीं भावना और मनोदशा को भी अनुप्रेरक के क्रम में परिगणित किया जाता है।

अनुप्रेरणा के मुख्य दो प्रकार हैं – वैयक्तिक और सामाजिक। वैयक्तिक अनुप्रेरणा में आदत, जीवन-ध्येय, अभिरुचि, मनोवृत्ति, अचेतन इच्छाएं आदि सभी सम्मिलित हैं। सामाजिक प्रेरणा में मुख्य है – आत्मगौरव एवं आत्महीनता के प्रेरक तथा सामाजिक सुरक्षा। संवेग का प्रदर्शन तीन स्तरों पर होता है –

1. चेतना में परिवर्तन
2. बाह्य व्यवहार में परिवर्तन
3. आन्तरिक क्रियाओं में परिवर्तन

संवेग की स्थिति में हमारा स्वत: संचालित नाड़ीतंत्र, वृहद् मस्तिष्क और हाइपोथेलेमस विशेष रूप से प्रभावित होता है। संवेग की समाप्ति के बाद भी उसका प्रभाव कुछ समय तक हमारी चेतना पर बना रहता है और उस स्थिति में व्यक्ति मानसिक दृष्टि से जो अनुभव करता है, उसे मनोविज्ञान की भाषा में मनोदशा कहा गया है।

संवेग और मनोदशा के अन्तर को हम एक और प्रकार से भी समझ सकते हैं। मनोदशा का कालमान अधिक और भावों की तीव्रता कम होती है, जबकि संवेग का कालमान कम एवं भावों की तीव्रता अधिक होती है। इन दोनों में अन्त:क्रिया चलती रहती है। मूलप्रवृत्ति अथवा संवेग जब किसी वस्तु के चारों ओर स्थायी रूप से सुसंगठित हो जाते हैं, तब उसे स्थायी भाव कहते हैं। यह स्थूल वस्तुओं के प्रति बहुत सहजता से निर्मित होता है। स्थायीभाव की तरह ही हमारे अन्तरंग व्यक्तित्व का एक महत्त्वपूर्ण आयाम है – भावना ग्रंथि (Complex)। इसमें हमारी वे इच्छाएं समाविष्ट हैं जो समाज विरुद्ध होने के कारण अचेतन के जगत् में भेज दी गई हैं, पर वहां जाकर वे निष्क्रिय नहीं हो जाती। उनकी क्रियाशीलता बराबर बनी रहती है। ऐसी इच्छाओं को इदम् आवेश भी कहा जाता है।

प्रस्तुत प्रसंग में स्थायीभाव और भावनाग्रंथि के अन्तर को समझ लेना भी परम आवश्यक है, क्योंकि ऐसा किए बिना हम अन्तरंग व्यक्तित्व को भलीभांति समझ नहीं सकते। नैतिक एवं चेतन रूप से क्रियाशील भावना को स्थायीभाव एवं अनैतिक तथा अचेतन रूप से क्रियाशील भावना को भावनाग्रंथि कहा जाता है। इन दोनों से संचालित हो व्यक्ति ऐच्छिक और अनैच्छिक क्रियाएँ करता है। ऐच्छिक क्रियाएं चेतन तथा अर्जित होती हैं, जबकि अनैच्छिक क्रियाओं का स्वरूप इससे सर्वथा भिन्न होता है। अनैच्छिक क्रियाओं में छह प्रकार की क्रियाएं समाविष्ट हैं – 1. स्वयं संचालित 2. आकस्मिक 3. सहज 4. संबद्ध 5. भावनात्मक 6. मूलप्रवृत्यात्मक।

हमारे अन्तरंग व्यक्तित्व की दृष्टि से मूलप्रवृत्यात्मक क्रियाएं सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हैं, क्योंकि हमारी मानसिक रचनाओं का रूप यही है। व्यवहार और अनुभव के आधार पर

हमें इनके अस्तित्व का अवबोध होता है। इसकी अभिव्यक्ति के समय व्यक्ति विशेषत: ऊर्जस्वल होता है। इसलिए वह अतिरिक्त सक्रियता प्रदर्शित करता है। उसकी यह सक्रियता तब तक बनी रहती है, जब तक कि इच्छाओं की संतुष्टि में कोई व्यवधान नहीं आ जाता। मैकडूगल ने आनुवंशिकता के प्रभाव को भी मूलप्रवृत्ति में समाविष्ट किया है।

मूलप्रवृत्ति के दो बड़े विभाग हैं – आत्मसुरक्षात्मक मूलप्रवृत्ति और जाति सुरक्षात्मक मूलप्रवृत्ति। संवेग मूलप्रवृत्ति की अभिव्यक्ति में सहयोग करता है। तालिका के माध्यम से इस तथ्य को विस्तृत रूप से समझा जा सकता है –

मूलप्रवृत्ति	संवेग	मूलप्रवृत्ति	संवेग
1. पलायन	भय	8. दीनता	आत्महीनता
2. युयुत्सा	क्रोध	9. आत्मगौरव	आत्माभिमान
3. निवृत्ति	घृणा	10. सामूहिकता	अकेलापन
4. पुत्रकामना	वात्सल्य	11. भोजनान्वेषण	भूख
5. शरणागत	करुणा	12. संग्रह	अधिकार
6. कामप्रवृत्ति	कामुकता	13. रचना	कृति
7. जिज्ञासा	आश्चर्य	14. हास	मनोविनोद

मनोविज्ञान की इस चर्या को जैन दर्शन की दृष्टि से कर्मतंत्र के अन्तर्गत समझा जा सकता है। हमारी समस्त मूलप्रवृत्तियों का आदि स्रोत यही है। इस कर्मतंत्र का प्रधान सचिव है – मोहनीय कर्म। इसी के निर्देश से कषाय, नोकषाय आदि कर्मचारी कार्य में प्रवृत्त होते हैं। कषाय की सघनता और अल्पता के आधार पर ही उसके अनन्तानुबंधी आदि सोलह विभाग किये गये हैं।[1]

1. अनन्तानुबन्धी	क्रोध, मान, माया, लोभ
2. अप्रत्याख्यानी	क्रोध, मान, माया, लोभ
3. प्रत्याख्यानी	क्रोध, मान, माया, लोभ
4. संज्वलन	क्रोध, मान, माया, लोभ

व्यक्तित्व का सीधा संबंध हमारे आवेग, वासना और मनोदशाओं से जुड़ा है। आवेगात्मक तीव्रता और मन्दता मनोवृत्तियों को शुभ-अशुभ, प्रशस्त-अप्रशस्त बनाती हैं और इसी आधार पर व्यक्तित्व की सही पहचान और व्यक्तित्व का वर्गीकरण प्राचीन समय से होता आ रहा है। आचारदर्शन में मनोवृत्तियों की प्रशस्तता-अप्रशस्तता ही महत्त्वपूर्ण अंग बनती है। सारे मानवीय आचरणों की व्याख्या आवेगों के आधार पर की जाती है।

1. ठाणं 4/354

जैन दर्शन ने मनोवृत्तियों के सन्दर्भ में लेश्या सिद्धान्त की चर्चा की है, जिसके साथ कषाय और योग का पूरा सिद्धान्त जुड़ा है। कषाय सिद्धान्त में सिर्फ मनोवृत्तियों का, आवेगों का प्रतिपादन है जबकि कषाय की अधिकता/अल्पता अथवा तीव्रता/मन्दता से लेश्या के आधार पर व्यक्तित्व की प्रशस्तता/अप्रशस्तता निर्धारित की जाती है। लेश्या सिद्धान्त का संबंध शुभ-अशुभ दोनों मनोवृत्तियों से जुड़ा है, अत: कषाय और लेश्या की चर्चा अपेक्षित है।

कषाय (संवेग) की विविध परिणतियां

'कषाय' शब्द जैन दर्शन का पारिभाषिक शब्द है। यह कष् और आय, इन दो शब्दों से बना है। कष् का अर्थ है – संसार, कर्म अथवा जन्म-मरण। जिसके द्वारा प्राणी कर्मों से बांधा जाता है या जीव जिससे पुन: पुन: जन्म-मरण के चक्र में पड़ता है, वह कषाय है। जो मनोवृत्तियां आत्मा को कलुषित करती हैं, उन्हें जैन मनोविज्ञान की भाषा में कषाय कहा जाता है।

कर्मशास्त्रीय भाषा में आवेगों का मूल स्रोत है – मोह। मोह का मूल है – राग और द्वेष। राग-द्वेष द्वारा एक चक्र चल रहा है, वह चक्र है आवेग और उप आवेग। राग और द्वेष है, इसीलिए क्रोध, मान, माया, लोभ चार कषाय रूप आवेग हैं और हास्य, रति, अरति, भय, शोक, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद रूप उपआवेग हैं, जिन्हें नोकषाय कहा जाता है।

आगम में कहा गया है कि कर्मबन्ध के संबंध में पाप के दो स्थान हैं[1]– राग और द्वेष। राग से माया और लोभ तथा द्वेष से क्रोध और मान की उत्पत्ति होती है।

जैनाचार्यों ने क्रोध और मान को द्वेषात्मक अनुभूति तथा माया और लोभ को रागात्मक अनुभूति माना है। विशेषावश्यक भाष्य[2] तथा कषायपाहुड़[3] में विभिन्न दृष्टियों से इस विषय पर विचार किया गया है। नयों की दृष्टि से इस वर्गीकरण में विस्तार हुआ।

नैगम और संग्रहनय की अपेक्षा दो अनुभूतियां हैं – रागात्मक और द्वेषात्मक। व्यवहारनय की अपेक्षा क्रोध, मान, माया तीनों द्वेषात्मक तथा केवल लोभ रागात्मक माना गया है। क्रोध द्वेष रूप इसलिए है कि यह समस्त अनर्थों का मूल है। अभिमान भी दूसरों के गुणों के प्रति असहिष्णुता का प्रतीक है। माया में अविश्वास तथा लोकनिन्दा निहित है। निन्दा कभी प्रिय नहीं होती। लोभ रागात्मक इसलिए है कि वह प्रसन्नता का कारण है।

ऋजुसूत्र नय की अपेक्षा क्रोध द्वेषात्मक होता है और मान, माया, लोभ न राग प्रेरित होते हैं, न द्वेष प्रेरित होते हैं। प्रियता होने पर रागरूप है और अप्रियता होने पर वे द्वेष रूप है। इस तरह चारों कषाय आत्मा की आवेगात्मक अभिव्यक्तियां हैं। क्रोध, मान, माया

1. ठाणं 2/394; 2. विशेषावश्यक भाष्य – 2668-71
3. कषाय पाहुड़ 1/1, 21 (चूर्णी सूत्र व टीका) 335-41

और लोभ के सन्दर्भ में भगवती सूत्र में दिए गए उनके पर्यायवाची शब्द इन संवेगों की विविध परिणतियों पर प्रकाश डालते हैं।

क्रोध – क्रोध मानसिक और उत्तेजनात्मक आवेग है। क्रोध में क्षमता और तर्कशक्ति लगभग शिथिल हो जाती है। क्रोध जब बढ़ता है तब युयुत्सा को जन्म देता है। युयुत्सा में अमर्ष और अमर्ष से आक्रमण का भाव उत्पन्न होता है। मनोविज्ञान के अनुसार क्रोध और भय में यही मुख्य अन्तर है कि क्रोध के आवेश में आक्रमण का और भय के आवेश में आत्मरक्षा का प्रयत्न होता है।

जैन विचारणा में सामान्यतया क्रोध के दो रूप मान्य हैं – द्रव्यक्रोध और भावक्रोध। द्रव्यक्रोध को आधुनिक मनोवैज्ञानिक दृष्टि से क्रोध का आंगिक पक्ष कहा जा सकता है जिसके कारण क्रोध में होने वाले शारीरिक परिवर्तन होते हैं। भावक्रोध क्रोध का अनुभूत्यात्मक पक्ष है। द्रव्यक्रोध अभिव्यक्त्यात्मक पक्ष है। भगवती सूत्र में क्रोध के दस पर्यायार्थक शब्दों का उल्लेख उसके विविध रूपों की व्याख्या देता है। क्रोध सिर्फ उत्तेजित होना मात्र ही नहीं, चित्त की और भी कई प्रतिकूल अवस्था को क्रोध कहा जाता है, जैसे :-

1. क्रोध – आवेग की उत्तेजनात्मक स्थिति 2. कोप – क्रोध से उत्पन्न स्वभाव की चंचलता 3. रोष – क्रोध का परिस्फुट रूप 4. दोष – स्वयं पर या दूसरे पर दोष थोपना 5. अक्षमा – अपराध क्षमा न करना 6. संज्वलन – जलन या ईर्ष्या का भाव 7. कलह – अनुचित भाषण करना 8. चाण्डिक्य – उग्ररूप धारण करना 9. भण्डन – हाथापाई करने पर उतारू हो जाना 10. विवाद – आक्षेपात्मक भाषण करना।[1]

मान – मनुष्य का अहं भी कई दिशाओं में होता है। ऊंचे कुल और ऊंची जाति में जन्म लेना भी मान का कारण बनता है। यदि वह शक्ति-सम्पन्न है, सुख सम्पदा से समृद्ध है, तीव्र बुद्धि है, रूपवान है, शास्त्रों का गहरा ज्ञान है, प्रभुत्व की अपार शक्ति है तो वह स्वयं को सबसे ज्यादा श्रेष्ठ मानता है और अहं मनोवृत्ति उसे अहंवादी, मानी, घमण्डी बना देती है। भगवती सूत्र में मान के बारह नाम बतलाए हैं। प्रत्येक में मान के विविध स्तरों की व्याख्या है –

1. मान – अपने किसी गुण पर अहंवृत्ति 2. मद – अहंभाव में तन्मयता 3. दर्प – उत्तेजना पूर्ण अहंभाव 4. स्तम्भ – अविनम्रता 5. गर्व – अहंकार 6. अत्युत्कोश – अपने को दूसरे से श्रेष्ठ कहना 7. परपरिवाद – परनिन्दा 8. उत्कर्ष – अपना ऐश्वर्य प्रकट करना 9. अपकर्ष – दूसरों को तुच्छ समझना 10. उन्नतनाम – गुणी के सामने भी न झुकना 11. उन्नत – दूसरों को तुच्छ समझना 12. दुर्नाम – यथोचित रूप से न झुकना।

माया – माया में मनुष्य का मन बहुत जटिल होता है। विविध भावों के साथ माया अपने रूप दिखाती है। भगवती सूत्र में माया के पन्द्रह नाम उल्लिखित हैं।

---

1. भगवती सूत्र 12/103

1. माया – कपटाचार 2. उपधि – ठगने के उद्देश्य से व्यक्ति के पास जाना 3. निकृति – ठगने के अभिप्राय से अधिक सम्मान देना 4. वलय – वक्रता पूर्ण वचन 5. गहन – ठगने के विचार से अत्यन्त गूढ़ भाषण करना 6. नूम – ठगने के हेतु निकृष्ट कार्य करना 7. कल्क – दूसरों को हिंसा के लिए उभारना 8. कुरूप – निन्दित व्यवहार करना 9. जिह्नता – ठगाई के लिए कार्य मन्द गति से करना 10. किल्विषिक – भांडो के समान कुचेष्टा करना 11. आदरणता – अनिच्छित कार्य भी अपनाना 12. गूहनता – अपनी करतूत को छिपाने का प्रयत्न करना 13. वंचकता – ठगी 14. प्रतिकुंचनता – किसी के सरल रूप से कहे गये वचनों का खण्डन करना 15. सातियोग – उत्तम वस्तु में हीन वस्तु की मिलावट करना। यह सब माया की ही विभिन्न अवस्थाएं हैं।

लोभ – मोहनीय कर्म के उदय से चित्त में उत्पन्न होने वाली तृष्णा या लालसा लोभ कहलाती है। लोभ की सोलह अवस्थाएं हैं।[1]

1. लोभ – संग्रह करने की वृत्ति 2. इच्छा – अभिलाषा 3. मूर्च्छा – तीव्र संग्रह वृत्ति 4. आकांक्षा – प्राप्त करने की आशा 5. गृद्धि – आसक्ति 6. तृष्णा – प्राप्त पदार्थ के विनाश न होने की इच्छा 7. मिथ्या – मिथ्या विषयों का ध्यान 8. अभिध्या – निश्चय से डिग जाना या चंचलता 9. आशंसना – इष्ट की प्राप्ति की इच्छा करना 10. प्रार्थना – अर्थ आदि की याचना 11. लालपनता – चाटुकारिता 12. कामाशा – काम की इच्छा 13. भोगाशा – भोग्य पदार्थों की इच्छा 14. जीविताशा – जीवन की कामना 15. मरणाशा – मरने की कामना 16. नन्दिराग – प्राप्त सम्पत्ति में अनुराग।

लोभ की मन:स्थिति में मनुष्य के भीतर भाव पर्यायें बदलती रहती हैं। भगवती सूत्र में लोभ के पन्द्रह नामों को बतला कर उनकी विविध परिणतियों पर प्रकाश डाला गया है।

कषाय के स्वरूप की स्पष्टता को समझाते हुए जैनाचार्यों ने प्रतीकों के माध्यम से बताया कि चार प्रकार के क्रोध क्रमश: पत्थर, भूमि, बालू और धूलि की रेखा जैसा होता है।[2]

पत्थर में पड़ी दरार के समान अनन्तानुबन्ध क्रोध किसी के प्रति एक बार उत्पन्न होने पर जीवन-पर्यन्त बना रहता है। सूखते हुए जलाशय की भूमि में पड़ी दरार वर्षा के योग से ही मिटती है। इसी तरह अप्रत्याख्यानी क्रोध एक वर्ष से अधिक स्थायी नहीं रहता। बालू की रेखा हवा के झोंके के साथ मिट जाती है। प्रत्याख्यानी क्रोध चार मास से अधिक स्थायी नहीं रहता। पानी में खींची गई रेखा के समान संज्वलन क्रोध पन्द्रह दिन तक स्थायी रह सकता है।

चार प्रकार का अभिमान क्रमश: शैलस्तम्भ, अस्थि, काष्ठ और लता स्तम्भ जैसा बताया गया है।[3] पत्थर का स्तम्भ टूट जाता है पर झुकता नहीं। अनन्तानुबन्धी मान वाला

1. भगवती सूत्र 12/104-106; 2. ठाणं 4/354; 3. वही, 4/283

व्यक्ति किसी परिस्थिति में समझौता नहीं करता, झुकता नहीं। प्रयत्नपूर्वक कठिनता से झुकने वाले अस्थि स्तम्भ की तरह अप्रत्याख्यानी मान वाला व्यक्ति विशेष परिस्थिति में बाह्य दबाव के कारण झुक जाता है। थोड़े से प्रयत्न से झुक जाने वाले काष्ठ स्तम्भ की तरह प्रत्याख्यानी मान वाले व्यक्ति में भीतर छिपी विनम्रता परिस्थिति विशेष को निमित्त पाकर प्रकट हो जाती है। अत्यन्त सरलता से झुक जाने वाले बेंत-स्तम्भ की तरह संज्वलन मान वाला व्यक्ति आत्म गौरव को रखते हुए विनम्र बना रहता है।

चार प्रकार की माया क्रमशः बांस की जड़, मेढ़े का सींग, चलते हुए बैल की धार और छिलते हुए बांस की छाल की तरह होती है।[1] बांस की जड़ इतनी वक्र होती है कि उसका सीधा होना सम्भव ही नहीं। ऐसी माया व्यक्ति को धूर्तता के शिखर पर पहुँचा देती है। मेढ़े के सींग में बांस से कुछ कम टेढ़ापन होता है। चलते हुए बैल की मूत्र धार टेढ़ी-मेढ़ी होने पर भी उलझी हुई नहीं होती। संज्वलन माया की ऐसी ही वक्रता होती है।

चार प्रकार का लोभ क्रमशः कृमिरेशम, कीचड़, गाड़ी के खंजन और हल्दी के रंग के समान होता है।[2] कृमिरंग इतना पक्का होता है कि प्रयत्न करने पर भी रंग उतरता नहीं। अनन्तानुबन्ध लोभ व्यक्ति पर पूर्णतः हावी रहता है। वस्त्रों पर लगे कीचड़ के धब्बे सहजतः साफ नहीं होते। वैसे ही अप्रत्याख्यानी लोभ के धब्बे आत्मा को कलुषित करते रहते हैं। गाड़ी का खंजन वस्त्र को विद्रूप बनाता है फिर भी तेल आदि से उतर जाता है। इसी प्रकार प्रत्याख्यानी लोभ साधना, तपस्या आदि से काफी हल्का बन जाता है। हल्दी से रंगा वस्त्र धूप दिखाते ही साफ हो जाता है, वैसे ही संज्वलन लोभ समय और परिणाम दोनों दृष्टियों से बहुत कम प्रभावित कर पाता है।

अनादिकाल से जुड़ा जीव के साथ कषाय का संबंध संसार परिभ्रमण का कारण बनता है। इसके कारण व्यावहारिक जीवन ही असफल नहीं बनता, आत्म गुणों का विनाश भी होता है। जैन तत्त्व दर्शन में कषाय से होने वाले चार प्रकार के अभिघातों का उल्लेख मिलता है –

1. अनन्तानुबन्धी कषाय सम्यक्त्व का अभिघात करता है।
2. अप्रत्याख्यानी कषाय देशव्रत (श्रावकत्व) का अभिघात करता है।
3. प्रत्याख्यानी कषाय सर्वव्रत-साधुत्व का अभिघात करता है।
4. संज्वलन कषाय वीतरागता का अभिघात करता है।

कषायों की मन्दता और तीव्रता के सन्दर्भ में गतिबन्ध की चर्चा उल्लेखनीय है। स्थानांग सूत्र[3] में अनन्तानुबन्धी कषाय का फल नरकगति, अप्रत्याख्यान कषाय का फल तिर्यञ्चगति, प्रत्याख्यान कषाय का फल मनुष्य-गति और संज्वलन कषाय का फल देवगति बतलाया है।

---

1. ठाणं 4/282; 2. वही, 4/284; 3. वही, 4/354

कर्मशास्त्र के अनुसार मोहनीय कर्म के विपाक एवं मूल संवेगों में भी साम्यता देखी जा सकती है।

मोहनीय कर्म के विपाक	संवेग
भय	भय
क्रोध	क्रोध
जुगुप्सा	जुगुप्सा भाव, विकर्षण भाव
स्त्रीवेद	
पुरुषवेद	कामुकता
नपुसंकवेद	
अभिमान	स्वाग्रह भाव, उत्कर्ष भावना
लोभ	स्वामित्व भावना, अधिकार भावना
रति	उल्लसित भाव
अरति	दु:ख भाव

कर्मशास्त्र और मनोविज्ञान दोनों ही इन्हें व्यवहार के घटक बिन्दु मानते हैं।

लेश्या : स्थूल और सूक्ष्म चेतना का सम्पर्क-सूत्र

अचेतन के स्तर पर मनोविज्ञान ने जिस रूप में अज्ञात जगत को विश्लेषित किया है, उससे भी बहुत कुछ अधिक हम उसे लेश्या संप्रत्यय के माध्यम से समझ सकते हैं। इस सन्दर्भ में व्यक्तित्व की व्यूह-रचना को जानना बहुत जरूरी है। स्थूल एवं सूक्ष्म चेतना के स्तर पर लेश्या कैसे सम्पर्क-सूत्र बनती है ? भीतरी अध्यवसायों के साथ जुड़कर कैसे लेश्या व्यवहार का संचालन करती है ? चेतना की इन सभी भूमिकाओं पर लेश्या की व्याख्या प्रस्तुत की गयी है।

जैन मनोविज्ञान की भाषा में अचेतन को कर्मशरीर के साथ प्रवृत्त चेतना, अवचेतन को तैजस शरीर के साथ प्रवृत्त चेतना और चेतन को औदारिक यानी स्थूल शरीर के साथ प्रवृत्त चेतना माना जा सकता है।

चेतन मन जो कुछ भी करता है उसमें अवचेतन-अचेतन मन की भी महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। इनका अपना प्रभाव होता है। अवांछित इच्छायें, वासनायें व कामनायें अचेतन में दब जाती हैं। जब ये जागृत होती हैं तब चेतन मन को प्रभावित करती हैं। कर्मशास्त्रीय भाषा में इसे ऐसे भी कहा जा सकता है कि पूर्वार्जित कर्म जब उदय में आते हैं, अपना फल देना शुरू करते हैं तब मन उनसे प्रभावित होता है और व्यक्ति उनके अनुसार आचरण और व्यवहार करने लगता है।

कर्मसंचयन का मूल कारण है – राग-द्वेष। इनसे अनुरंजित चेतना द्वारा जो भी पुद्गल भीतर जाते हैं उनमें एक स्वभाव पड़ जाता है। वे कर्मपुद्गल अपने-अपने स्वभाव के अनुसार अपना-अपना फल देते हैं। एक निर्धारित समय तक भण्डार में रहते हैं। काल मर्यादा समाप्त होते ही परिपक्व होकर बाहर आ जाते हैं। तब व्यक्तित्व प्रभावित होता है। उनका फलानुभव करता है। यह सारी प्रक्रिया अचेतन मन की है।

चेतन और अचेतन के स्तर पर होने वाली व्यक्तित्व की संरचना बड़ी जटिल है। इसे समझने के लिए कषाय, अध्यवसाय, लेश्या, चित्त, मन और योग तक की यात्रा एक सार्थक प्रयास प्रतीत होता है। जैन दर्शन के मूर्धन्य विद्वान् आचार्यश्री महाप्रज्ञ ने अपने विपुल प्रेक्षा साहित्य में स्थान-स्थान पर इनकी मनोवैज्ञानिक व्याख्या की है, जिसे संक्षेप में चित्र द्वारा इस प्रकार प्रस्तुति दी जा सकती है –

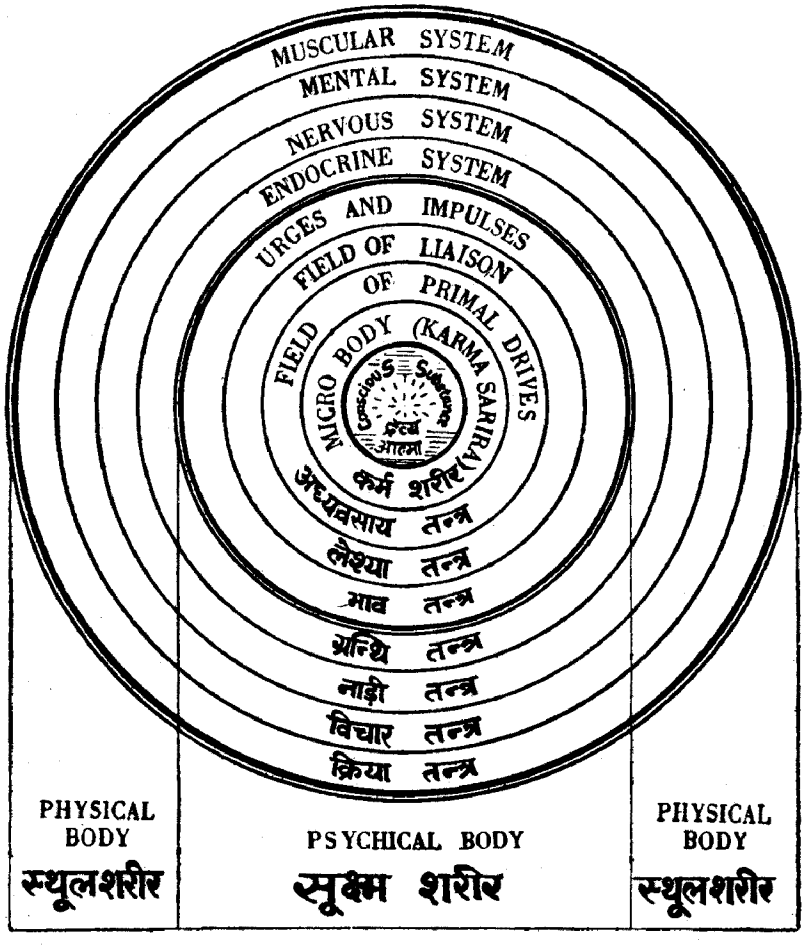

चित्र में दर्शाये गए बिन्दुओं का विश्लेषण स्पष्ट करता है कि लेश्या स्थूल और सूक्ष्म शरीर के बीच महत्त्वपूर्ण कड़ी है।

हमारे अस्तित्व के केन्द्र में चैतन्य (द्रव्यात्मा) है। संसार का निम्नतम प्राणी सूक्ष्म निगोद तक इस चैतन्य अर्हता से सम्पन्न है। यदि ऐसा न होता तो जीव और अजीव की भेदरेखा ही समाप्त हो जाती।[1] हमारे चैतन्य के चारों ओर कषाय के वलय के रूप में कार्मण शरीर है। कर्म से घिरे आत्मतत्त्व की जो भी प्रवृत्ति होगी, उसको कषाय के वलय से गुजरना होगा। चैतन्य के असंख्य स्पन्दन निरन्तर कषाय के वलय को भेदकर बाहर आ रहे हैं। ये स्पन्दन जब सूक्ष्म शरीर से होकर बाहर आते हैं तो उनका एक स्वतंत्र तंत्र बनता है जो कि अध्यवसाय तंत्र कहलाता है।

समयसार में बुद्धि, अध्यवसाय, व्यवसाय, मति, विज्ञान, चित्त, भाव और परिणाम एकार्थक शब्द माने गए हैं।

बुद्धी वसाओवि य अज्झवसाणं मई व विण्णाणं ।
एकट्ठमेव सव्वं चित्तं भावो य परिणामो ॥[2]

अध्यवसाय हमारी चेतना की सूक्ष्म परिणति है। यह प्राणी मात्र में होता है। सूक्ष्म जगत में जितने कर्मसंस्कार, वृत्तियां, वासनाएं, आवेग और आवेश हैं, वे सभी सूक्ष्म शरीर में अध्यवसाय के रूप में हैं। ये अध्यवसाय असंख्य होते हैं और निरन्तर सक्रिय रहते हैं। मनोविज्ञान की भाषा में कहा जा सकता है कि अध्यवसाय का कार्य बहुत कुछ अचेतन जैसा है।

अध्यवसाय कर्मबन्ध का मूलस्रोत है। इसे भावचित्त, आश्रव भी कहा जा सकता है। पांच आश्रवों (मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग) में एक है – अविरति आश्रव, जो कर्मबन्ध की प्रक्रिया में प्रतिक्षण गतिशील रहता है। इसके द्वारा संज्ञी (जिनके मन होता है) और असंज्ञी (जिनके मन नहीं होता) दोनों के कर्मबन्ध होता है। इस सन्दर्भ में सूत्रकृतांग[3] में की गई कर्मबन्ध की चर्चा विशेष महत्त्व रखती है।

सूत्रकृतांग में उल्लेख मिलता है कि मनशून्य, वचनशून्य वनस्पति जीव अठारह पाप का सेवन करता है। इसका एकमात्र कारण है – अप्रत्याख्यान यानी अविरति आश्रव। प्राणी में सोते, जागते, स्वप्नावस्था में निरन्तर अप्रत्याख्यान का प्रवाह चालू रहता है जो कर्मागम का द्वार है। इस अविरति के कारण असंज्ञी जीव को अव्यक्त चेतना में भी सतत कर्मसंचय होता रहता है। षड्जीवनिकाय की हिंसा का प्रतिबन्ध नहीं होता, इसलिए अठारह पापों का सेवन असंज्ञी जीव के भी होता है। सूक्ष्म जीवों में सारा ज्ञान अध्यवसायों से होता है।

अध्यवसाय शुद्ध और अशुद्ध दोनों होते हैं। जिस अध्यवसाय में रागद्वेषात्मक संक्लेश होता है वह अशुद्ध अध्यवसाय है और जिसमें रागद्वेषात्मक संक्लेश नहीं होता वह शुद्ध

---

1. नन्दी सूत्र-71; 2. समयसार 271; 3. सूत्रकृतांग 2/4

अध्यवसाय कहलाता है। अध्यवसायों की शुद्धता और अशुद्धता का मूल कषायों की मन्दता और तीव्रता है। अध्यवसाय जब लेश्या तक पहुंचते हैं तब लेश्या उन्हें अच्छे-बुरे सांचे में ढालकर व्यवहार में प्रकट करती है।

अध्यवसाय के असंख्य स्पन्दनों से एक भावधारा बनती है। भावधारा के शुद्ध-अशुद्ध/शुभ-अशुभ दो रूप हैं। मोह कर्म का उदय अशुद्धता का हेतु है और मोहकर्म का विलय शुद्धता का हेतु है। भावतंत्र के माध्यम से कर्मवर्गणा के पुद्गल निरन्तर विपाक के रूप में बाहर आते रहते हैं। अध्यवसाय की सूक्ष्म परिणति लेश्या के रूप में पहचानी जाती है। लेश्या स्थूल और सूक्ष्म शरीर दोनों से जुड़ी है। यह लेश्या कषाय रंजित अध्यवसायों को चित्त के माध्यम से स्थूल शरीर में अभिव्यक्ति देती है।

लेश्या हमारे आत्म-परिणामों से बनती है और बाद में वह नए परिणामों को बनाने में निमित्तभूत हो जाती है। हमारी चेतना द्रव्यलेश्या के रूप में जिन पुद्गलों को ग्रहण करती है उसी के अनुरूप आत्मपरिणाम बनते हैं। प्रज्ञापना सूत्र[1] में इस तथ्य को बहुत स्पष्ट शब्दों में प्रतिपादित किया गया है।

जैनाचार्यों ने लेश्या को कर्म निस्यन्द-निर्झर नाम से परिभाषित किया है। यह परिभाषा बहुत समीचीन है। निर्झर से निरन्तर जल प्रवाहित होने पर भी उसका स्रोत जैसे सूखता नहीं है, वैसे ही लेश्या का स्रोत-अध्यवसाय तंत्र कार्मण शरीर सदा भरा का भरा रहता है। लेश्यारूपी निर्झर के प्रकटीकरण की प्रणालिकाएं हमारे स्थूल शरीर में अन्तःस्रावी ग्रंथियों के रूप में हैं। इनके स्राव रक्त के साथ परिसंचरण करते हुए नाड़ी तंत्र तक पहुंचते हैं। नाड़ी तंत्र हमारी प्रवृत्ति के मुख्य उपकरण मन, वचन और शरीर का संचालक है। ग्रंथियों के स्राव नाड़ी तंत्र और मस्तिष्क के सहयोग से हमारे अन्तर्भाव, चिन्तन, वाणी, आचार और व्यवहार को संचालित एवं नियंत्रित करते हैं।

हमारी चेतना की कार्य-प्रणाली के सूक्ष्म और स्थूल दो स्तर हैं। सूक्ष्म जगत में अध्यवसाय हमारे सम्पूर्ण ज्ञान का साधन है। स्थूल जगत में मन अथवा मस्तिष्क।

मन और चित्त एक नहीं है। चित्त चेतना का पर्यायवाची शब्द है और मन उसके द्वारा काम कराने के लिये प्रयुक्त एक तंत्र है। चित्त को परिभाषित किया गया – ''आत्मनश्चैतन्यविशेष परिणामो चित्तम्''।[2] स्वसंवेदन – उपयोग इसका लक्षण है।[3] यह हेय, उपादेय का विचार करने वाला है।[4] चित्त की सत्ता त्रैकालिक है जबकि मन केवल मनन काल में ही होता है। स्मृति, कल्पना और चिन्तन मन के कार्य हैं। मन चंचल होता है जबकि चित्त स्थिर हो सकता है।

---

1. प्रज्ञापना, 23;
2. सर्वार्थसिद्धि 2/32/234
3. सिद्धिविनिश्चय 6/22/492/20;
4. द्रव्यसंग्रह, टीका 14/46/10

अनुयोगद्वार, भगवती आदि जैन आगम साहित्य में कई स्थानों पर तच्चित्ते, तन्मणे, तल्लेशे, तदज्झवसिये शब्दों का प्रयोग मिलता है। ये उत्तरोत्तर अवस्थाओं के सूचक हैं। भगवती में लिखा है कि गर्भस्थ जीव जब मरता है तब यदि उसने देवगति का बन्ध किया है तो उसके चित्त, मन, लेश्या और अध्यवसाय अक्लिष्ट होंगे और यदि नरक गति का कर्मबन्ध किया है तो चित्त, मन, लेश्या और अध्यवसाय क्लिष्ट होंगे।[1]

जैन दर्शन में पांच आश्रवों की जो चर्चा की गई है उसमें योग आश्रव प्रवृत्यात्मक है। इससे चंचलता पैदा होती है। योग आश्रव स्वयं शुभ-अशुभ होने का घटक नहीं। इसके साथ मुख्य भूमिका अविरति और कषाय आश्रव की रहती है। कषाय से लेकर क्रियातंत्र की यात्रा में लेश्या एक महत्त्वपूर्ण कड़ी है।

आत्मविशुद्धि के क्षेत्र में पौद्गलिक लेश्या और भावलेश्या दोनों की शुद्धता अत्यावश्यक है। कायिक प्रवृत्ति द्वारा जो भी पुद्गल ग्रहण करेंगे, यदि वे शुभ हैं तो कर्म, विचार, भाव, लेश्या, अध्यवसाय सभी शुभता का निर्माण करेंगे और यदि अशुभ पुद्गलों का ग्रहण होता है तो ठीक इसके विपरीत मनोदशा का निर्माण होगा; क्योंकि द्रव्यकर्म का भावकर्म पर और भावकर्म का द्रव्यकर्म पर प्रभाव पड़ता है।

सूक्ष्म से स्थूल और स्थूल से सूक्ष्म तक की यह प्रक्रिया एक सम्पूर्ण व्यक्तित्व के निर्माण की कार्यकारण मीमांसा करती है। यदि अध्यवसाय शुद्ध है तो योग की प्रवृत्ति भी शुद्ध होगी और योग की प्रवृत्ति शुद्ध है तो अध्यवसाय भी शुद्ध होंगे। एक दूसरे से जुड़ा है सूक्ष्म स्थूल शरीर का गहरा संबंध। इस संबंध की मुख्य संवाहिका बनती है लेश्या जो व्यक्ति के चरित्र को शुभ-अशुभ बनाने में कारण बनती है।

अचेतन मन के स्तर पर कर्मबन्ध

अचेतन मन की सत्ता को व्याख्यायित करने के लिए बाह्य और भीतरी निमित्तों को जान लेना भी आवश्यक है। बहुत बार बिना निमित्तों के आचरण और व्यवहार बदलते देखा गया है। स्थानांग सूत्र में दिए गए क्रोध के चार प्रकार इस तथ्य को प्रकाशित करते हैं।[2]

क्रोध के चार प्रकार हैं – 1. आत्मप्रतिष्ठित 2. परप्रतिष्ठित, 3. उभयप्रतिष्ठित, 4. अप्रतिष्ठित। प्रथम तीन विकल्पों को चेतन के स्तर तक समझा जा सकता है पर अप्रतिष्ठित क्रोध का रहस्य उस स्तर पर आत्मसात् नहीं होता। हम कई बार ऐसा देखते हैं कि न कोई अपना दोष है, न दूसरों का दोष है और न ही दोनों का, फिर भी वह क्रुद्ध हो जाता है। ऐसा इसलिए होता है कि अतीत के संस्कारों का एक बड़ा खजाना उसके साथ है। अतीत के इस खजाने को अचेतन मन के नाम से प्रस्तुति देने में लेश्या सिद्धान्त को कोई कठिनाई नहीं है।

---

1. भगवती 1/7 पृ. 254/57; 2. ठाणं 4/76

बिना निमित्तों के भी व्यक्ति का चरित्र बुरा क्यों हो जाता है, इस कारण की मीमांसा में आगम में लिखा है कि क्रोध, मान, माया और लोभ की उत्पत्ति का कारण सिर्फ बाह्य निमित्त ही नहीं होते, इसका कारण तत् तत् वेदनीय कर्म का अहेतुक विपाक है। बिना निमित्तों के भी व्यक्ति अपने आचरण और व्यवहार में अपने प्रति क्रोध आदि का प्रदर्शन कर दीन, हीन, क्षुद्ध, दुर्मनस्क, अवहतमन होते देखा जाता है और इसीलिए चार कषायों के अन्त:करण में पैदा होने से चार कषायों को आध्यात्मिक कहा गया है।[1]

भीतरी कषायों से होने वाली मन:स्थिति को जो शब्द दिए गए हैं उनकी शब्द मीमांसा भी वृत्तिकार एवं चूर्णिकार द्वारा दी गई है, जो द्रष्टव्य है –

हीन – जिसकी वाणी, आकृति और शोभा क्षीण हो चुकी हो।

दीन – अकृपण होने पर भी जो कृपण की तरह संकुचित होकर रहता हो।

दुष्ट – उपकार न करने वाले पर भी द्वेष करने वाला हो।

दुर्मनस्क – जिसका मन दुष्ट चिन्ताओं में संलग्न हो।

अवहतमन – मनोवांछित वस्तु की प्राप्ति न होने पर जिसका मन संकल्प टूट गया हो।[2]

लेश्या का सिद्धान्त भाव संस्कारों से जुड़ा है। भावों की संक्लिष्टता होती है तो मन/चित्त भी संक्लिष्ट होकर लेश्या के साथ सक्रिय होता है। यद्यपि चित्त की गत्यात्मकता का ज्ञान बाहरी स्तर पर नहीं होता, मगर कर्मबन्ध की प्रक्रिया में मन की विशुद्धि-अविशुद्धि भी एक महत्त्वपूर्ण तथ्य है। मन कर्मबन्ध में सक्रिय भूमिका निभाता है। यहां मन का अर्थ चित्त है। कर्मशास्त्रीय भाषा में मन के जुड़ने पर मोहनीय कर्म की बन्धस्थिति का कालमान तक बढ़ जाता है। कहा गया है कि मात्र काययोग से मोहनीय जैसे कर्म का बन्ध उत्कृष्ट रूप से एक सागर की स्थिति का हो सकता है। वचनयोग मिलते ही पच्चीस सागर की स्थिति का उत्कृष्ट बन्ध हो सकता है। प्राणेन्द्रिय यानी नासिका के मिलने पर पचास सागर, चक्षु के मिलते ही सौ सागर की स्थिति का बन्ध हो सकता है और जब अमनस्क पंचेन्द्रिय की दशा में कान मिलते हैं तो हजार सागर तक बन्ध संभव है लेकिन यदि मन मिल गया और उत्कृष्ट मोहनीय कर्मबन्ध होने लगा तो वह लाख और करोड़ सागर को पार कर जाता है। सत्तर कोड़ाकोड़ी सागरोपम का सर्वोत्कृष्ट मोहनीय कर्म का बन्ध मन मिलने पर ही होता है।[3]

इसलिए मन की शुद्धता यानी मन का निग्रह अत्यावश्यक माना गया। व्यक्ति के भीतर जब शुभ लेश्याओं के भाव जागते हैं तब उस समय होने वाले कर्मबन्ध की स्थिति, विपाक, अनुभाग सभी बदल जाते हैं।

---

1. सूत्रकृतांग 2/2/10;
2. सूत्रकृतांग चूर्णि पृ. 343, वृत्ति 50, 51
3. उद्धृत – डॉ. सागरमल जैन, जैन-बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन। पृ. 482

भगवान महावीर ने मानसिक भावों के आरोह-अवरोह का जिम्मेदार सूत्र भावधारा (आत्मपरिणाम) को माना। इस सन्दर्भ में प्रसन्नचन्द्र राजर्षि का घटनाक्रम देखा जा सकता है।

प्रसन्नचन्द्र राजर्षि[1] ध्यान की मुद्रा में खड़े थे। राजा श्रेणिक की सवारी उनके पास से गुजरी। किसी ने व्यंग्य किया – कैसा ढोंगी है ? स्वयं शत्रुओं से घबराकर संन्यासी हो गया और दुधमुहे बच्चे को मौत के मुंह में ढकेल आया। व्यंग्य को सुन राजर्षि स्वयं को भूल गए। वे भाव स्तर पर शत्रु राजा से युद्ध करने लगे और तब उनकी लेश्याएं अप्रशस्त होती गईं।

राजा श्रेणिक महावीर के उपपात में पहुंचे और वन्दन कर पूछा – भन्ते ! इस समय प्रसन्नचन्द्र राजर्षि आयुष्य पूरा करें तो कहां जायेंगे ? 'सातवीं नरक में' – महावीर के इस उत्तर ने श्रेणिक को आश्चर्य में डाल दिया।

कुछ क्षणों के बाद भगवान ने कहा – यदि प्रसन्नचन्द्र राजर्षि अब आयुष्य पूरा करे तो सर्वोच्च देवलोक में जाएगा, क्योंकि उसकी भावधारा बदल गई है। निषेधात्मक भावों के स्थान पर विधेयात्मक भाव स्वीकृत हो गए हैं। प्रशस्त लेश्याओं में आरोहण करते-करते परम शुक्ल लेश्या में पहुंच गए हैं। अब वे सोच रहे हैं – कौन किसका शत्रु है और कौन किसका मित्र ? संसार के सारे रिश्ते अशाश्वत हैं, मेरी आत्मा ही शाश्वत है।

बिना भाव बदले मन नहीं बदलता

राजा श्रेणिक ने प्रतिदिन पांच सौ भैंसों को मारने वाले काल शौकरिक को अहिंसक बनाने का प्रयत्न किया। हिंसा से विरत हो सके, इस हेतु एक खाली कुएं में जबरन उतार दिया। यद्यपि कालशौकरिक के हाथ हिंसा के लिए रुक गए पर मन नहीं थमा। वह वहीं पसीने के साथ शरीर का मैल उतार-उतार कर उससे भैंसें बनाता गया, एक-एक गिनती के साथ शाम तक पांच सौ भैंसों को मारने का संकल्प पूरा कर लिया। कालशौकरिक अहिंसक नहीं बन सका, क्योंकि उसके भाव नहीं बदल पाए। अचेतन मन के संस्कार निरन्तर अप्रशस्त लेश्या को गति दे रहे थे।

पाप का बन्ध मूर्च्छा से होता है और मूर्च्छा इतनी सघन होती है कि व्यक्ति बाहर से चेतना-शून्य होकर भी मूर्च्छा का हाथ पकड़ कर कोसों दूर चला जाता है। जैन दर्शन में स्त्यानर्द्धि नाम की निद्रा का उल्लेख है। इस निद्रा में प्राणी पूर्णत: चेतना शून्य होता है। कहीं भी जागृति नहीं, फिर भी निरन्तर अठारह पापों का कर्मबन्ध करता रहता है। मूर्च्छा और अज्ञानता से प्रेरित मन क्रिया न करके भी सिर्फ भावों के आधार पर कर्मसंस्कारों का संचयन कर लेता है। पापार्जन की प्रक्रिया अचेतन मन के स्तर पर होती है। अध्यवसायों की अप्रशस्तता और लेश्याओं की संक्लिष्टता से बिना क्रिया के मात्र भावों से व्यक्ति असत्संस्कारों से भर जाता है।

---

1. त्रिषष्टिशलाकापुरुष चरित्रम्, पर्व-10, सर्ग-9

अध्यवसाय, लेश्या और परिणाम

अचेतन मन के संस्कारों की विशुद्धि के सन्दर्भ में लेश्या, अध्यवसाय और परिणाम का परस्पर घनिष्ठ संबंध ज्ञातव्य है। जहां परिणाम शुभ होते हैं और अध्यवसाय प्रशस्त होते हैं वहां लेश्या विशुध्यमान होती है और जहां परिणाम अशुभ और अध्यवसाय अप्रशस्त होते हैं, वहां लेश्या अविशुध्यमान होती है। आगमों में विशुद्धि के सन्दर्भ में इन तीनों का एक साथ प्रयोग अपने आप में महत्त्वपूर्ण है।

शुभ-अशुभ परिणाम आत्मा की क्रियात्मक शक्ति के प्रवाह हैं। दोनों एक साथ नहीं रहते, पर दोनों में से एक अवश्य रहता है। कर्मशास्त्र की भाषा में शरीर नाम कर्म के उदयकाल में चंचलता रहती है। उसके द्वारा कर्म परमाणुओं का आकर्षण होता है। कायऋजुता, भावऋजुता, भाषाऋजुता और अविसंवादयोग रूप शुभ परिणति के समय शुभ और अशुभ परिणति के समय अशुभ कर्मपरमाणुओं का आकर्षण होता है। आचार्य कुन्दकुन्द लिखते हैं –

लेस्सासोधी अज्झवसाणविसोधीए होई जीवस्स ।
अज्झवसाणविसोधी, मन्दकसायस्स णादव्वा ॥

जिसके मोह, राग-द्वेष होते हैं उनके अशुभ परिणाम होते हैं और जिसके चित्तप्रसाद निर्मल चित्त होता है, उसके शुभ परिणाम होता है।[1] जैन सिद्धान्त मानता है कि लेश्या की शुद्धि अध्यवसाय से होती है और अध्यवसाय की शुद्धि मन्द कषाय से।[2]

अध्यवसाय लेश्या से सूक्ष्म होता है इसलिए जहां पर्याप्त असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों में तीन अशुभ लेश्याएं होती हैं, वहां अध्यवसाय प्रशस्त/अप्रशस्त दोनों होते हैं।[3] अध्यवसाय सीधा आत्मा के आन्तरिक स्तर से यानी स्वभाव से जुड़ा है।

आचारांग में उल्लेख मिलता है कि भगवान महावीर ने अभिनिष्क्रमण के समय जब पालकी में आरोहण किया, उस समय उनके दो दिन का उपवास था, अध्यवसाय शुभ थे और लेश्यायें विशुद्धमान थीं।[4] विशुद्धि की उत्कृष्टता पर आवश्यक निर्युक्ति में उल्लेख मिलता है कि सम्यक्त्व श्रुत की प्राप्ति सब लेश्याओं में होती है परन्तु चरित्र की प्राप्ति तीन शुभ लेश्याओं में होती है और चरित्र की प्राप्ति के बाद छहों में से कोई भी लेश्या हो सकती है।[5]

जैन दर्शन का कर्मसिद्धान्त मिथ्यात्वी में भी छहों लेश्याओं की अवस्थिति मानता है। यद्यपि नारकी में तीन अशुभ लेश्याएं और देवता में शुभ लेश्याएं मानी गई हैं परन्तु प्रज्ञापना की टीका में कहा गया है कि भावपरावृत्ति होने से देव और नारक में भी छः लेश्याएं होती हैं।[6]

---

1. पंचास्तिकाय, 2/131; 2. भगवती आराधना 1905; 3. भगवती 24/12, 25
4. आचारांग 2/15/121; 5. आवश्यक निर्युक्ति 882
6. प्रज्ञापना 17/5/1251 टीका में उद्धृत

जैन सिद्धान्त के अनुसार चाहे सम्यग्दृष्टि जीव हो या मिथ्यादृष्टि जीव, सभी के ज्ञान उत्पत्ति के समय विशुद्धलेश्या, प्रशस्त अध्यवसाय और शुभ परिणाम आदि का उल्लेख मिलता है। प्रज्ञापना में लिखा है कि मरुदेवा का जीव जीवन्तपर्यन्त वनस्पति रूप में था।[1] (क) ततो यद मीयते सिद्धति-मरुदेवा जीवो यावज्जीवभावं वनस्पतिरासीदिति, (ख) मरुदेवा हि स्वामिनी आससारं त्रसत्वमात्रमपि नानुभूतवती किं पुनर्मानुषत्वं तथापि योगबलसमृद्धेन शुक्लध्यानाग्निना चिरसंचितानि कर्म्मेन्धनानि भस्मसात्कृतवती। तदाह – जह एगा मरुदेवा ऊच्चंतं थावरा सिद्धा ..... ननु जन्मान्तरे पि अकृतक्रूरकर्मणां मरुदेवादीनां योगबलेन युक्तः कर्म्मक्षयः।[2] ऐसा जीव भी सम्यक्त्व प्राप्त कर केवल आत्म परिणामों की शुद्धि से केवलज्ञान प्राप्त कर लेता है। जब मरुदेवा भगवान ऋषभ के केवलज्ञान उत्पन्न होने पर उनके दर्शनार्थ आई तब अपूर्व समवसरण को देखा। परिणामों की विशुद्धि होती गई और अन्ततः कैवल्य लाभ और सिद्धि प्राप्त हो गई।

गुणस्थानों का अवरोहण भी बिना लेश्या विशुद्धि के सम्भव नहीं। सम्यक्त्व प्राप्ति की अनिवार्यतम अपेक्षा है – शुभ परिणाम, शुभ अध्यवसाय, शुभ लेश्या। सातवीं नारकी में जीव को अन्तराल काल में सम्यक्त्व की प्राप्ति सम्भव है इस बात की पुष्टि षट्खण्डागम करता है कि मोहनीय कर्म की अट्ठाईस प्रकृति की सत्ता वाला कोई एक मिथ्यादृष्टि जीव सातवीं नारकी में कृष्णलेश्या के साथ उत्पन्न होता है। छह पर्याप्तियां पूर्णकर, विश्राम ले, विशुद्ध होकर सम्यक्त्व को प्राप्त करता है।[3]

आत्मविकास का पहला चरण सम्यक्दर्शन-सम्यक्त्व प्राप्ति माना गया है। जैन आगमों में लिखा है कि सम्यक्त्व की उपलब्धि शुभ परिणाम, शुभ अध्यवसाय और विशुद्ध भावलेश्या के बिना नहीं होती। आचार्य मलयगिरि का कहना है कि सम्यक्त्व, देशविरति तथा सर्वविरति की उपलब्धि के समय अन्तिम तीन शुभ लेश्याएं होती हैं, उत्तरवर्ती काल में छहों लेश्याएं पायी जाती हैं।[4]

जातिस्मृतिज्ञान में लेश्या का उत्तरोत्तर विशुद्ध होना एक अनिवार्य अंग माना गया है। मृगापुत्र झरोखे में बैठा-बैठा ज्योंहि तप-संयमधारी, शील-समृद्ध और गुणों के मुनि को आकर देखते हैं, अपना पूर्वजन्म और पूर्वकृत श्रामण्य याद आ जाता है। उस समय प्रशस्त अध्यवसाय और विशुद्ध लेश्या परिणामों के होने से तथा मोहनीय कर्म के क्षयोपशम से उन्हें जातिस्मृति ज्ञान उपलब्ध होता है।[5]

भगवान महावीर के शिष्य मेघकुमार को विशुद्ध अध्यवसाय लेश्या परिणामों में ही पूर्वभव का ज्ञान प्राप्त होता है। ज्ञातासूत्र में लिखा है कि जितशत्रु आदि राजाओं का मल्लिकुमारी द्वारा विविध वैराग्य रस-भरी बातों का उपदेश दिया गया तथा उन्हें पूर्वकृत श्रामण्य की याद करवायी गयी, उस समय उन्हें शुभ अध्यवसाय, परिणाम और लेश्या

---

1. योगशास्त्र टीका 1/11; 2. षट्खण्डागम – 1, 5, 290 पु. 4, पृ. 430
3. पंचसंग्रह – भाग-1, सूत्र 31 की टीका; 4. उत्तराध्ययन 19/7
5. ज्ञातासूत्र 1/190 – अंगसुत्ताणि, भाग-3, पृ. 65

में जातिस्मृतिज्ञान उपलब्ध हुआ।[1] केवल मनुष्य ही नहीं, तिर्यञ्च तक को आत्म गवेषणा के क्षणों में जातिस्मृति ज्ञान होता है और उस समय उनके भी अध्यवसाय, परिणाम और लेश्या शुभ होती है।

औपपातिक सूत्र में उल्लेख मिलता है कि वीर्यलब्धि, वैक्रियलब्धि के साथ अवधि ज्ञान-लब्धि की प्राप्ति[2] तथा ज्ञातासूत्र के अनुसार चतुर्दश पूर्वों की विद्या प्राप्ति प्रशस्त अध्यवसाय, शुभ परिणाम और विशुद्ध लेश्या में होती है।[3]

परिणामों की विशुद्धता अविधज्ञान, मन:पर्यवज्ञान और केवलज्ञान में भी अत्यावश्यक मानी गई है। भगवान महावीर को छद्मस्थावस्था के पांचवें चातुर्मास में भद्दिलपुर नगर में शुभ अध्यवसाय आदि से लोक प्रमाण अवधिज्ञान प्राप्त हुआ था।[4]

प्रज्ञापना में लिखा है कि कृष्णलेशी के दो ज्ञान – मति, श्रुतज्ञान, तीन ज्ञान – मति, श्रुत, अवधि या मन:पर्यवज्ञान होते हैं। यही क्रम पद्मलेशी तक होता है। शुक्ललेशी के दो, तीन, चार, ज्ञान हो तो कृष्णलेशी के समान और एक ज्ञान हो तो केवलज्ञान होता है।[5] प्रश्न उभरता है कि कृष्ण लेश्यावान में मन:पर्यवज्ञान कैसे ? यह ज्ञान तो अति विशुद्ध परिणाम वाले व्यक्ति को होता है और कृष्णलेश्या संक्लेशमय परिणाम रूप होती है।

ऐसी स्थिति में कृष्णलेश्या वाले जीव में मन:पर्यवज्ञान कैसे सम्भव हो सकता है ? इसका समाधान दिया गया कि प्रत्येक लेश्या के अध्यवसाय स्थान असंख्यात लोकाकाशप्रदेश जितना है उनमें से कोई-कोई मन्द अनुभाव वाले अध्यवसाय स्थान होते हैं जो प्रमत्तसंयत में पाए जाते हैं। यद्यपि मन:पर्यवज्ञान अप्रमत्तसंयत के ही उत्पन्न होता है परन्तु उत्पन्न होने के बाद वह प्रमत्तदशा में भी रहता है। इस दृष्टि से कृष्णलेश्या वाला जीव भी मन:पर्यवज्ञानी हो सकता है।[6]

केवलज्ञान सिर्फ शुक्ल लेश्या में ही हो सकता है अन्य किसी में नहीं। अत: लेश्याविशुद्धि से जीव ज्ञान की उत्कृष्टता प्राप्त करता है।

आत्मविशुद्धता का संबंध व्यक्ति के भीतरी पक्षों से जुड़ा है। बाहिर की शुद्धि ही नहीं, आन्तरिक शुद्धि भी अर्थपूर्ण है। अत: कहा जा सकता है कि अध्यवसाय, लेश्या और परिणामों की शुद्धता पर जीवन की श्रेष्ठता आधारित है। •

---

1. ज्ञातासूत्र 8/181 – अंगसुत्ताणि भाग-3, पृ. 193
2. औपपातिक सूत्र 119 अंगसुत्ताणि खण्ड-1, पृ. 59
3. ज्ञातासूत्र 14/83 अंगसुत्ताणि भाग-3, पृ. 264
4. आवश्यक निर्युक्ति गाथा – 486; 5. प्रज्ञापना 17/1216
6. प्रज्ञापना मलयवृत्ति पत्रांक 357

तृतीय अध्याय

रंगों की मनोवैज्ञानिक प्रस्तुति

* रंग का भौतिक पक्ष
* मानसिक भूमिका पर रंग-प्रभाव
* रंग के विविध आयाम
* रंग की गुणात्मकता और प्रभावकता
* विविध उपमाओं के साथ लेश्या-रंग
* लेश्या : समय, लम्बाई एवं वजन
* लेश्या और ऐन्द्रियक विषय
* रंगों का प्रतीकवाद
* रंग चिकित्सा

तृतीय अध्याय

रंगों की मनोवैज्ञानिक प्रस्तुति

जैन साहित्य में लेश्या का सिद्धान्त अपनी मौलिक अवधारणा के साथ प्राणीमात्र के भाव जगत् का उल्लेख करता है। यद्यपि प्राचीन आचार्यों ने इसके सैद्धान्तिक पक्ष पर ज्यादा प्रकाश डाला, इसलिये सम्पूर्ण वाङ्मय में कर्म से जुड़ा लेश्या का गहरा व सूक्ष्म विश्लेषण अधिक उपलब्ध है जबकि मनोविज्ञान के सूत्रों की व्याख्या कम उपलब्ध होती है। आज यदि हम लेश्या के भावात्मक पक्ष की रंग मनोविज्ञान के सिद्धान्तों और अनुभवों के साथ तुलना करें तो लेश्या का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण स्वयं मनुज मन की व्याख्या में एक सार्थक सिद्धान्त सिद्ध हो सकता है।

रंग विज्ञान के अध्येताओं ने रंग के अस्तित्व को जीवन के हर कोण से देखा, जाना और अनुभव किया। उसके प्रायोगिक परिणामों ने व्यक्तित्व के गुण-दोषों की मीमांसा की। एक ओर रंग का आध्यात्मिक अर्थ ब्रह्माण्डीय किरणों (Cosmic Rays) से जोड़ा गया तो दूसरी ओर त्रिपार्श्व कांच (Prism) द्वारा अभिव्यक्त होने वाली सप्त रंगीन-किरणों का मनुष्य के शरीर, मन और आत्मा तीनों के साथ संबंध स्थापित किया गया। लेश्या के रंग मनोविज्ञान के सन्दर्भ में आधुनिक रंगविज्ञान द्वारा रंग प्रभावों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण महत्त्वपूर्ण है।

रंग एक माध्यम है हमारे विचारों, आदर्शों, संवेगों, क्रियाओं और इन्द्रिय जन्य ज्ञान/अनुभूति को अभिव्यक्त करने का। रंग में वह ऊर्जा है जो स्वास्थ्य, विश्राम, प्रसन्नता और सुरक्षा को प्रभावित करती है। फेबर बिरेन (Faber Birren) रंग को संवेदन, ज्ञान और चिन्तन का परिणाम मानते हैं। उन्होंने लिखा है कि साउथऑल (Southall) का मानना है कि रंग न तो चमकदार वस्तु का गुण है और न ही चमकदार विकिरण का, यह सिर्फ चेतना का विषय है।[1]

रंग की जागरूकता एक मानसिक प्रक्रिया है, क्योंकि रंग हमारी चेतना का हिस्सा है। जब पदार्थ की किरणें हमारी आंखों पर पड़ती हैं तो यह संवेदन मस्तिष्क तक जाता है और हम रंग को पहचानने लगते हैं। इसका कारण यह है कि हमारे भीतर पहले से

---

1. Faber Birren, Colour Psychology and Colour Therapy, p. 184

ही ब्रह्माण्डीय रंग किरणें व्याप्त रहती हैं। जैसे-जैसे व्यक्ति विकास करता है उसकी रंग चेतना बढ़ती चली जाती है।

रंग का भौतिक पक्ष

ब्रह्माण्डीय प्रकाश को हमारी स्थूल आंखें नहीं देख सकती, परन्तु हमारे ग्रह पर इसकी भौतिक प्रस्तुति सूर्य के प्रकाश के माध्यम से होती है। सूर्य का प्रकाश शक्ति और ऊर्जा का स्रोत है।

सूर्य का प्रकाश त्रिपार्श्व कांच में से गुजरने पर प्रकाश विक्षेपण के कारण सात रंगों में विभक्त होता है। इन सात रंगों (लाल, नारंगी, पीला, हरा, नीला, जामुनी और बैंगनी) को स्पेक्ट्रम (Spectrum) कहते हैं। प्रकृति में स्पेक्ट्रम का सबसे अच्छा उदाहरण इन्द्रधनुष है। स्पेक्ट्रम के सातों रंगों की अपनी तरंग दीर्घता है। प्रकाश तरंग रूप में होता है और प्रकाश का रंग उसके तरंगदैर्घ्य पर आधारित है। तरंगदैर्घ्य और कम्पन की आवृत्ति विपरीत प्रमाण (Inverse Proportion) से संबंधित है अर्थात् तरंगदैर्घ्य के बढ़ने के साथ कम्पन की आवृत्ति कम होती है और तरंगदैर्घ्य के घटने पर आवृत्ति बढ़ती है। लाल रंग की तरंगदैर्घ्य सबसे अधिक व बैंगनी रंग की तरंगदैर्घ्य सबसे कम होती है और लाल रंग की कम्पन आवृत्ति सबसे कम व बैंगनी रंग की सबसे ज्यादा होती है। पदार्थ में सहज गुण होता है कि वह विशेष तरंगदैर्घ्य को छोड़कर शेष तरंगों को अपने में अवशोषित करता है। कोई भी पदार्थ काला तब दीखता है जब वह पूरी तरह से आवृत्ति की प्रत्येक विकिरित ऊर्जा को अपने में अवशोषित कर लेता है और सफेद तब नजर आता है जब वह पूरी तरह से उन्हें परावर्तित कर देता है।

लेश्या सिद्धान्त में भी तरंगदैर्घ्य और आवृत्ति संबंधी रंग के वैज्ञानिक सिद्धान्त की झलक देखी जा सकती है। कषायों के तीव्र और अल्प प्रकम्पनों के आधार पर लेश्या प्राणीमात्र के अच्छे-बुरे व्यक्तित्व को निर्धारित करती है। आचार्य महाप्रज्ञ ने अपनी पुस्तक 'आभामण्डल' में लिखा है कि कृष्ण लेश्या में आवृत्ति ज्यादा और तरंगें छोटी होती हैं। नील लेश्या में तरंग की लम्बाई बढ़ जाती है, आवृत्ति कम हो जाती है। कापोत लेश्या में तरंग की लम्बाई और बढ़ जाती है तथा आवृत्ति और कम हो जाती है। तेजो लेश्या में आते ही परिवर्तन शुरू हो जाता है। पद्म लेश्या में और शुक्ल लेश्या में पहुंचते ही आवृत्ति कम हो जाती है, केवल तरंग की लम्बाई मात्र रह जाती है। इस लेश्या में व्यक्तित्व का पूरा रूपान्तरण हो जाता है।[1]

मानसिक भूमिका पर रंग-प्रभाव

रंग के मनोवैज्ञानिक प्रभाव का आधार विकिरित ऊर्जा की विशिष्ट तरंग दैर्घ्यता है। American Society for Photobiology के पूर्व अध्यक्ष केन्ड्रीक सी. स्मिथ

1. आचार्य महाप्रज्ञ, आभामण्डल, पृ. 57, 58

(Kendric C. Smith) लिखते हैं कि मस्तिष्क में प्रवेश किए गए प्रकाश से जैविक प्रक्रिया होती है जो मानसिक व्यवहार को प्रभावित करती है। प्रकाश की सघनता और तरंग दीर्घता सृजनात्मकता और भाव दशाओं को बदल सकती है।[1]

फेबर बिरेन (Faber Birren)ने जे. पी. गिलफोर्ड का मत उद्धृत करते हुए लिखा है कि रंग संवेदन का सीधा संबंध हमारे मस्तिष्क से जुड़ा है। उन्होंने बताया कि जीवित ऊतक विशेषत: मस्तिष्क के ऊतक रंग और प्रियता-अप्रियता को उत्पन्न करते हैं ठीक वैसे ही जैसे कि दूसरे पदार्थ ऊष्मा, चुम्बकीय शक्ति तथा विद्युत पैदा करते हैं।[2]

मनुष्य और रंग दोनों आन्तरिक स्तर पर एक-दूसरे से बहुत अधिक जुड़े हुए हैं। आज के मनोवैज्ञानिकों का कहना है कि व्यक्ति के अवचेतन स्तर को और मस्तिष्क को सबसे अधिक प्रभावित करने वाला तत्त्व है – रंग। रंग मनुष्य का स्वभाव बतला देता है। यह रहस्यवादी तथा विकृत मन वाले लोगों से प्रत्युत्तर निकलवा लेने की क्षमता रखता है। यह अन्दर के अवरोधकों को समाप्त कर आन्तरिक संवेगों को बाहर आने देता है।

रंग की प्रायोगिक भूमिका वैज्ञानिक आधार लिए हुए है। हर आदमी स्वयं को रंग के माध्यम से व्यक्त करता है। अपनी पहचान भी वह इसी माध्यम से बनाता है। स्वयं अपने आपको जानकर योग्यताओं तथा कमजोरियों को पकड़ता है।

रंग विज्ञान में मान्य मुख्य सात रंग-किरणों द्वारा मनुष्य की आधारभूत मानसिकता और प्रवृत्ति का उद्‌भव होता है। रंग की सही पहचान, सही प्रयोग और सही परिणाम के लिये मनोवैज्ञानिकों ने इस क्षेत्र में गहरा अध्ययन, परीक्षण और प्रयोग किया तथा निष्कर्ष रूप में कुछ रंगों से जुड़ी विशेषताओं का उल्लेख किया है –

	रंग	विशेषता
1.	बैंगनी	आध्यात्मिकता
2.	जामुनी	अन्त:प्रेरणा
3.	नीला	धार्मिक रुचि
4.	हरा	सामंजस्य और सहानुभूति
5.	पीला	बौद्धिकता
6.	नारंगी	ऊर्जा
7.	लाल	जीवन्तता।[3]

1. Faber Birren, Colour and Human Response, p. 44
2. Ibid. Colour Psychology and Colour Therapy, p. 139
3. S.G.J. Ouseley, Colour Meditations, p. 23

ये ही किरणें आगे जाकर उपरंगों में विभक्त हो जाती हैं। रंग चेतना के सभी स्तरों पर प्रवेश कर भौतिक तथा आध्यात्मिक प्रभाव दिखाता है। इसीलिये ऑसले (Ouseley) ने प्रत्येक रंग के सात पहलू माने हैं –

1. शक्ति 2. चेतना 3. चिकित्सा
4. प्रकाश 5. आपूर्ति 6. प्रेरणा 7. पूर्णता।[1]

जीवन के निर्माण एवं समायोजन में मनोवैज्ञानिकों ने रंग प्रभाव की तीन स्तरों पर व्याख्या की है। उनका कहना है कि रंगों का प्रभाव आरामदायक, पुनर्शक्तिदायक और प्रेरणादायक व उद्दीपक होता है।

रंग विश्रामदायक तब बनता है जब व्यक्ति शांत, एकाग्र और अच्छे चिन्तन में डूबा होता है। इसके लिए हरा रंग सबसे अच्छा माना गया है। इसकी विशिष्ट छवि का चयन व्यक्ति पर निर्भर करता है।

रंग पुनर्शक्तिदायक तब बनता है जब यह जीवन में परिवर्तन, सन्तुलन, विस्तार, सन्तोष और सामंजस्य की स्थितियां पैदा करता हो। इसके लिये लाल और हरा रंग अच्छा माना गया है।

रंग प्रेरणादायी तब होता है जब यह आशा, सक्रियता, महत्त्वाकांक्षा को जगाने वाला हो या शान्ति, प्रसन्नता, अन्त:प्रेरणा, अनुभूति एवं आत्मा के उच्चतर कार्यों के माध्यम से विचारों और भावनाओं से मुक्ति दिलाने वाला हो। इसके लिये नीला रंग महत्त्वपूर्ण है।

रंग प्रकम्पन होते हैं। ये अपने आपको विशिष्ट धरातल पर प्रकम्पनों की विभिन्न गतियों के माध्यम से अभिव्यक्त करते हैं। शारीरिक धरातल निम्न प्रकम्पन एवं कम सघनता वाला होने के कारण गहरे लाल एवं नारंगी जैसे निम्न प्रकम्पन वाले रंगों को आकर्षित करता है। मानसिक धरातल कुछ ऊंचे प्रकम्पन वाला होने के कारण पीले जैसे चमकदार, उज्ज्वल और पारदर्शी रंगों को आकर्षित करता है। आध्यात्मिक धरातल के रंग बहुत तीव्र होते हैं अत: इनकी सादृश्यता बहुत चमकदार और उच्च प्रकम्पन वाले रंगों से होती है। विशेष स्पष्टता की दृष्टि से ऑसले ने तीनों धरातल के रंगों को तालिका के माध्यम से इस प्रकार अभिव्यक्त किया है –

	प्रभाव	शरीरिक धरातल	मानसिक धरातल	आध्यात्मिक धरातल
1.	आरामदायक	हरा रंग	हरा, जामुनी	चन्द्रमा के प्रकाश जैसा नीला रंग
2.	पुनर्शक्तिदायक	नारंगी रंग	चमकदार नीला, हरा	सुनहरा, गुलाबी
3.	प्रेरक/उद्दीपक	सिन्दूरी रंग	पीला, जामुनी	नील, लोहित बैंगनी[2]

1. S.G.J. Ouseley, Colour Meditations, p. 9
2. Ibid, p. 50-51

रोनाल्ड हन्ट (Ronald Hunt) ने भी चिकित्सा के सन्दर्भ में कहा कि जब व्यक्ति अपने विश्राम, सक्रियता और प्रेरणा के रंग जान जाता है तो दिन के रचनात्मक कार्यों के लिये उसे प्रेरणादायी रंग का श्वास, अपनी योजनाओं की उत्साहपूर्वक क्रियान्विति के लिये सक्रियता के रंग का श्वास तथा सायंकाल विश्राम के रंग का श्वास लेना चाहिए।[1]

रंगों की प्रियता-अप्रियता के सन्दर्भ में आज प्रयोगों ने यह सिद्ध कर दिया है कि उम्र और लिंग के अनुसार रंग चयन भिन्न-भिन्न होता है। बच्चे अधिकतर चमकदार व तेज रंगों के प्रति आकृष्ट होते हैं। उनका रंग-बोध लाल, पीला, हरा व नीले रंग तक ही सीमित होता है। गहरी छवियां बच्चों को बहुत कम आकर्षित करती हैं जबकि युवा लोग कई प्रकार के रंग पसन्द करते हैं, क्योंकि उनका रंग-बोध विकसित होता है। अध्ययन से ज्ञात हुआ है कि स्त्रियों का मन-पसन्द रंग अधिकतर लाल होता है जबकि पुरुषों का नीला। पुरुष अपने चारों ओर तेज रंग पसन्द करते हैं जबकि स्त्रियां हल्के रंग पसन्द करती हैं।[2]

रंग के विविध आयाम

रंग विज्ञान ने अभिव्यक्ति में छवि (Hue), शुभ्रता (Lightness), विशदता (Saturation) इन तीन आयामों को मुख्यता दी है। रंग क्षेत्र में इन तीनों को भौतिक विधियों से मापने का प्रयास किया गया है। छवि को प्रबल तरंग दैर्घ्य प्रणाली से, शुभ्रता को सम्पूर्ण प्रकाश पद्धति से तथा विशदता का अंकन रंग की शुद्धता देखकर किया जाता है।[3]

रंगों का संवेगात्मक प्रभाव इसकी प्रकृति, गुण और क्षमता पर आधारित होता है। संक्षिप्त में कुछ बिन्दुओं का उल्लेख किया जा सकता है –

- रंगों की प्रकृति गर्म/ठण्डी, शांतिद्रायक/उत्तेजक, चमकदार/उदासीन, प्रसन्नता तथा संताप देने वाली है।
- रंग के मुख्यत: चार तरह के प्रभाव हैं – गर्म/हल्का, गर्म/गहरा, ठण्डा/हल्का, ठण्डा/गहरा।
- रंग में शक्ति, क्रिया, विधायकता, नमी, ताप, ठण्डक एवं वजन होता है।
- भावदशा से जुड़े स्पेक्ट्रम के लाल रंग और इससे मिलते-जुलते रंग गर्म, सक्रियता तथा उत्तेजनात्मक माने गए हैं। नीला, बैंगनी और हरा रंग ठण्डा, निष्क्रिय और शांत माना गया है।
- आक्रामक एवं उत्तेजनात्मक होने के कारण गर्म रंग की अधिकतम क्षमता चमकदार प्रकाश में होती है और ठण्डे रंग की निष्क्रिय एवं शान्त होने की क्षमता हल्के रंग में होती है।

---

1. Ronald Hunt, The Seven Keys to Colour Healing, An Exhaustive Survey Compiled by Health Research. Colour Healing, p. 65
2. Alex Jones, Seven Mansions of Colour, p. 97
3. Encyclopedia American, Vol. VII, p. 305

- रंग में गति होती है। कुछ रंग आगे बढ़ने वाले (Advancing) और कुछ पीछे हटने वाले (Receding) होते हैं। लाल, नारंगी और पीला आगे बढ़ने वाले रंग हैं, इनमें कमरा छोटा प्रतीत होता है जबकि बैंगनी, नीला, जामुनी रंग पीछे हटने वाले होने के कारण इनमें कमरा बड़ा और लम्बा दिखाई देता है। गर्म रंग केन्द्र से बाहर की ओर गति करते हैं। ठण्डे रंग केन्द्र की ओर गति करते हैं।

प्रयोगकर्त्ताओं ने परीक्षण के बाद यह तथ्य स्वीकार किया कि संवेगात्मक, दृढ़प्रतिज्ञ तथा पदार्थोन्मुखी व्यक्ति सामान्यत: तेज, चमकदार रंग पसन्द करते हैं जबकि शान्त, ध्यानी तथा आध्यात्मिक मन वाले व्यक्ति कोमल रंग तथा उनकी छवियों की मांग करते हैं।

फेलिक्स ड्युट्च (Felix Deutsch) ने अपनी रंग और प्रकाश संबंधी खोज के निष्कर्ष में निम्न बिन्दुओं का उल्लेख किया है, जिसे फेबर बिरेन (Feber Birren) ने अपनी पुस्तक "कलर साइकॉलोजी एण्ड कलर थेरेपी" में उद्धृत किया है –

1. रंग भावनाओं एवं संवेगों के माध्यम से रक्त परिसंचरण संस्थान पर सहज क्रिया करता है।
2. रंग का प्रभाव प्रत्येक व्यक्ति के लिये अलग-अलग होता है। गर्म रंग किसी व्यक्ति को शांत कर देता है तो किसी को उत्तेजित। इसी प्रकार ठण्डा रंग किसी एक को उत्तेजित, तो दूसरे को निष्क्रिय बना देता है।
3. लाल और हरे प्रकाश की चमक रक्त-चाप को बढ़ा सकती है और नाड़ी गति को तेज कर सकती है या इसके विपरीत भी हो सकता है। यह इस बात पर निर्भर करता है कि व्यक्ति के मन की रचना कैसी है ?[1]

रंग की गुणात्मकता और प्रभावकता

शारीरिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक धरातल पर रंग के प्रभाव की सम्पूर्ण व्याख्या रंग विज्ञान की दृष्टि से इस बात पर निर्भर करती है कि रंग कैसा है ? जैन तत्त्व चिन्तन में भी लेश्या सिद्धान्त की रंग अवधारणा व उसकी गुणात्मक व्याख्या इस बात पर निर्भर करती है कि लेश्या अच्छी है या बुरी ? इस सन्दर्भ में आगम ने लेश्या की प्रकृति का उल्लेख निम्न प्रकार से किया है –

द्रव्यलेश्या की अपेक्षा से लेश्या दुर्गन्धवाली/सुगन्धवाली, अमनोज्ञ/मनोज्ञ, उष्ण/स्निग्ध, शीत/रुक्ष, अविशुद्ध/विशुद्ध होती है।

भावलेश्या की अपेक्षा से लेश्या अप्रशस्त/प्रशस्त, संक्लिष्ट/असंक्लिष्ट, अविशुद्ध/शुद्ध, अधर्म/धर्म, दुर्गतिगामी/सुगतिगामी होती है।[2]

---

1. Faber Birren, Colour Psychology and Colour Therapy, p. 156
2. ठाणं 3/सू. 515-518

रंग स्वयं में कुछ नहीं होता, उसकी विशुद्धता तथा चमक पर उसकी विशेषता का अंकन किया जाता है। सूत्रकृतांग की चूर्णि में लिखा है कि स्निग्ध छाया वाला तथा तेजस्वी श्यामवर्ण (नील वर्ण) भी सुवर्ण है और परुष स्पर्शवाला गौरपूर्ण भी दुर्वर्ण है।[1] दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि अन्धकार का काला, नीला, कापोती रंग खराब होता है जबकि प्रकाश का काला, नीला, कापोती रंग अच्छा माना जाता है। इसी प्रकार प्रकाश का पीला, लाल, सफेद रंग अच्छा होता है जबकि अंधकार का पीला, लाल, सफेद रंग अच्छा नहीं माना जाता।

लाल रंग स्वास्थ्य, अग्नि, गर्मी, रक्त, क्रोध, मिजाज़, खतरा और विनाश को दर्शाता है। मनोवैज्ञानिकों ने लाल रंग को ऊर्जा, शक्ति, साहस और प्राणशक्ति का प्रतीक माना है। यह दृढ़ निश्चय और अध्यवसाय का रंग है। इसके कुछ प्रकम्पन मौलिक मूल प्रवृत्तियों और इच्छाओं को जागृत कर अवचेतन मन पर प्रभाव डालते हैं। लाल विकिरण जीवनी-शक्ति, ऊर्जा और शारीरिक बल प्रदान करती है। यह साहस, प्रेम, जोखिम उठाने, उत्साह जैसे नेतृत्व के गुणों को बढ़ाती है। यह रंग उत्तेजक होने के कारण वासनाएं पैदा करता है जिससे नैतिक पतन की संभावना बनती है।

लाल रंग को पसन्द करने वाले बहिर्मुखी होते हैं। उनमें गहरी सहानुभूति और मानवता के लिए खून बहाने की तैयारी होती है। उनके लिये जिन्दगी का बहुत बड़ा अर्थ होता है, क्योंकि वे जीना चाहते हैं। रोमांचक घटना भरे अस्तित्व को वे स्वीकार करते हैं। लाल रंग को पसन्द करने वाले व्यक्ति कुण्ठित, पराजित, इच्छाओं की पूर्ति न होने पर क्रोधी व तीखे होते हैं। ऐसे व्यक्ति सफल और प्रसन्न जीवन से वंचित होकर शारीरिक नहीं, तो मानसिक रूप से परेशान रहते हैं।

प्रत्येक रंग की विभिन्न छवियां होती हैं। रंगों की बदलती छवियों के साथ इसके अर्थ भी बदल जाते हैं। स्पष्ट चमकदार लाल रंग उदारता, महत्त्वाकांक्षा और प्रेम को दर्शाता है। गहरा लाल वासना, प्रेम, साहस, घृणा, क्रोध आदि का, गहरा धुंधला लाल पाप और दुष्टता का, भूरा लाल सांसारिकता और इन्द्रिय सुख का, बहुत ज्यादा समृद्ध लाल स्वार्थपरता का, धब्बेदार (Cloudy) लाल लालच और क्रूरता का, किरमिची लाल निम्न वासना और इच्छा का संकेतक माना गया है।

नारंगी रंग ताप, अग्नि, संकल्प और भौतिक शक्तियों को दर्शाता है। लाल और पीले रंग की विकिरणों का मिश्रण होने के कारण इसमें लाल रंग की शक्ति व उत्तेजना और पीले रंग की आनन्द व प्रसन्नता सन्निहित है। यह उत्साह, समृद्धि, बहुलता, कीर्ति, दयालुता और विस्तार की प्रतीक है।

---

1. काला अपि स्निग्धच्छायान्तस्तेजस्विनश्च सुवर्णाः अवदाता अपि फरुसच्छविणो दुवण्णा। सूत्रकृतांग चूर्णि, पृ. 314

नारंगी रंग को पसन्द करने वाले व्यक्ति अत्यधिक प्रसन्न रहते हैं। इनमें समायोजन की विशिष्ट क्षमता होती है। ये मिलनसार, हंसमुख, प्रत्युत्पन्न बुद्धि के धनी, भीड़ में रहने वाले और कुशल वक्ता होते हैं। इस रंग को नापसन्द करने वाला व्यक्ति दिखावटी, दुनिया से परे गम्भीर और एकाग्र होकर रहता है।

नारंगी रंग की भी विविध छवियां अपना अलग-अलग अर्थ दर्शाती हैं। चमकदार और स्पष्ट नारंगी रंग स्वास्थ्य और शक्ति का, गहरा नारंगी घमण्ड का और धुंधला धब्बेदार नारंगी मन्द बुद्धि का अर्थ प्रकट करता है। सुनहरी नारंगी रंग विवेक और शक्ति का अर्थ रखता है। इसमें मानसिक तथा आध्यात्मिक योग्यता बढ़ाने की क्षमता है। यह उच्च आध्यात्मिक प्रकम्पन वाला रंग है तथा यह आत्म-नियन्त्रण को व्यक्त करता है। भूरा नारंगी महत्त्वाकांक्षा की कमी, अलसता एवं शमन (Repression) का अर्थ देता है।

पीला रंग जीवन शक्ति प्रदान करने वाला है। यह तर्क की अपेक्षा ज्ञान पर अधिक बल देता है। यह प्रसन्नता, आनन्द और हर्ष का प्रतीक है। इस रंग द्वारा शरीर और मन की स्वस्थता अभिव्यक्त होती है।

बदलती हुई रंग छवियां अपना भिन्न-भिन्न प्रभाव व्यक्त करती हैं। सुनहरा पीला रंग उच्च आत्मिक गुणों का, कान्तिहीन बसन्ती पीला रंग महान् बौद्धिक शक्ति का, गहरा धुंधला पीला रंग ईर्ष्या और सन्देह का, मुरझाया-सा पीला रंग झूठी आशावादिता व काल्पनिक मानसिकता का परिचायक है। लाल मिश्रित पीला रंग कायरता का संकेतक है। नीम्बू पीला मानसिक शक्ति, कलात्मकता एवं वैज्ञानिक अभिमुखता को लिये सृजनात्मक क्षमता का संसूचक है। बहुत अधिक कान्तिहीन नीम्बू पीला शारीरिक बीमारी को बताता है।

पीले रंग को पसन्द करने वाले ऐसे व्यक्ति अन्तर्निरीक्षक, विवेकशील, श्रेष्ठ और गम्भीर मन वाले होते हैं। इन्हें दूसरों द्वारा प्रशंसा पाने की चाह रहती है। ये वफादार मित्र और विश्वसनीय होते हैं। साथ ही ये नवीनता, मौलिकता एवं बौद्धिकता प्रिय होते हैं। कुछ लोग इस रंग को नापसन्द करते हैं, क्योंकि पश्चिमी जगत् में इसे कायरता, आग्रहवादिता और उपद्रव का रंग माना जाता है।

हरा रंग ऊर्जा, यौवन, विकास, अपरिपक्वता, सृजनात्मकता, आशा और नए जीवन का प्रतीक माना गया है। हरा रंग पीले और नीले रंग का मिश्रण है, इसलिए बुद्धि और सत्य की सहायता से मन और आत्मा के द्वार खुलते हैं। हरे रंग के प्रकम्पन आरामदायक होते हैं। इसे सार्वभौमिक दृष्टि प्रदान करने वाला, औरों की समस्याओं को सुलझाने की क्षमता रखने वाला, सहिष्णुता और उदारता का रंग माना गया है। इसमें नवीनता, जीवन का सातत्य, चिकित्सा की शक्ति निहित है। यह मैत्री, सहयोग, सेवा, परोपकार, दया, आशा, शान्ति और विश्वास का संसूचक रंग है। आध्यात्मिक क्षेत्र में यह एकाग्रता, ध्यान और स्थिर कार्यों के लिये आदर्श वातावरण तैयार करता है। इस रंग को प्रकृति, सन्तुलन और सहजता का रंग माना गया है।

हरे रंग को पसन्द करने वाले व्यक्ति में सामाजिक समायोजन करने की शक्ति होती है। ये सभ्य एवं पारम्परिक होते हैं। हरे रंग की नापसन्दगी मानसिक विक्षिप्तता को दर्शाती है। ऐसे लोग सामाजिक परिवेश से दूर रहते हैं। उनमें सन्तुलन की कमी रहती है। ऐसे व्यक्ति प्राय: अकेले पड़ जाते हैं।

इस रंग की विविध छवियों के अर्थ इस प्रकार बताए गए हैं – स्पष्ट व चमकदार हरा रंग श्रेष्ठ गुणों का, हल्का हरा समृद्धि और सफलता का, मध्यम हरा समायोजनशीलता व चपलता का, साफ हरा सहानुभूति का, गहरा हरा विश्वासघात का अर्थ प्रकट करता है। काला मिश्रित हरा ईर्ष्या, स्पर्धा और अन्धविश्वास का अर्थ देता है।

नीला रंग सत्य, भक्ति, शांति और वफादारी का रंग है। यह ठण्डा, सौम्य और शांत होता है। इसे आध्यात्मिकता और ध्यान का रंग माना गया है। यह मन को तनावमुक्त करता है तथा आध्यात्मिक व दार्शनिक विषयों के प्रति प्रेरित करता है। इस रंग का प्रभाव जब मन पर पड़ता है तो मनुष्य दूसरों के प्रति संवेदनशील होता है। अति उत्साह के भाव पर नियन्त्रण की क्षमता प्राप्त होती है। पाप के प्रति पश्चात्ताप जागता है।

नीला रंग पसन्द करने वाले अन्तर्मुखी होते हैं। ये स्वभावत: यथास्थिति को चाहने वाले होते हैं। ऐसे लोगों का चरित्र उनके स्वयं के लिए वजनी होता है। ऐसे व्यक्ति सजग, नियमित और प्रशंसा के पात्र होते हैं। ये अपने इन गुणों के प्रति जागरूक होते हैं। इस रंग को पसन्द न करने वालों में विद्रोह, अपराध, असफलता की भावना, दूसरों की सफलता पर क्रोध करने की स्थिति रहती है। ऐसे व्यक्ति कठिन परिश्रम करने पर भी पुरस्कृत नहीं हो पाते हैं। इस रंग की उपेक्षा खिन्न मन:स्थिति का द्योतक है।

छवियों के प्रभाव की दृष्टि से गहरा स्पष्ट नीला रंग पवित्र धार्मिक अनुभूति का, कान्तिहीन नीला रंग आदर्श विचारों के प्रति समर्पण भाव का, चमकदार नीला वफादारी और ईमानदारी का सूचक है। बैंगनी झांईयुक्त नीला रंग सही निर्णय को दर्शाता है।

जामुनी रंग पवित्र व प्रेरणादायी होता है। यह नीले और बैंगनी रंग का मिश्रण है। यह मन और आत्मा को उत्प्रेरित एवं पुनर्जागृत कर आन्तरिक स्तर तक पहुंच कर ज्ञान और बोध के नए क्षेत्र खोलता है। व्यक्तित्व और चरित्र से जुड़ा यह रंग कुण्ठा, भय, सामान्य निषेधात्मक स्थितियों का निरोधक है। यह सूक्ष्म शरीर के मनस् प्रकम्पन (Psychic Currents) को शासित करता है। इसके द्वारा आज्ञाचक्र, जिसको तीसरा नेत्र भी कहा जाता है, संचालित होता है। यह शारीरिक, सांवेगिक तथा आध्यात्मिक स्तर पर दृष्टि, श्रवण और गन्ध को प्रभावित करता है।

बैंगनी रंग उच्च आध्यात्मिक स्तर पर भक्ति और पूजा का प्रतीक है परन्तु शारीरिक स्तर पर यह विषाद उत्पन्न करने वाला है। यह रंग उदासी, धर्मनिष्ठा और भावुकता से जुड़ा है। प्राचीन काल में लोग इसे देवता के वस्त्र एवं पवित्रता का प्रतीक मानते थे। लाल और पीले का मिश्रण होने के कारण इसमें दोनों के गुण विद्यमान हैं।

यह प्रेरणा तथा आध्यात्मिकता का रंग है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह हिंसक पागलपन के अतिरेक को शांत करने वाला श्रेष्ठ रंग माना गया है। सामान्य व्यक्ति का क्रोध इसके द्वारा शांत होता है। यह आत्मिक गुण, रहस्यवादिता, आध्यात्मिक प्रेरणा और आदर्शवादिता को उजागर कर मन को प्रेरित करता है। यह संवेदनशील तथा आत्म-जागृत व्यक्तियों द्वारा पसन्द किया जाने वाला रंग है। इसके साथ आध्यात्मिक चेतना, अतीन्द्रियज्ञान और मानसिक संवेदनशीलता का विकास जुड़ा है।

सफेद और काला रंग

यद्यपि एक भौतिक शास्त्री के लिए सफेद और काला रंग कोई महत्त्व नहीं रखता। उसकी नजर में सफेद का अर्थ है सभी रंगों की उपस्थिति और काले का अर्थ है सभी रंगों की अनुपस्थिति। सफेद रंग सभी रंगों को परावर्तित तथा काला सभी रंगों को शोषित करता है परन्तु मनोविज्ञान की दृष्टि में सफेद और काला दोनों रंग मानसिक संवेदन से जुड़े हैं। इनके प्रतीकात्मक अर्थ होते हैं और इनका प्रभाव स्पष्टत: जीवन में देखा भी जाता है।

सफेद रंग में सभी रंग सन्निहित होने के कारण यह एकता का परिचायक है। इसका दूसरा नाम प्रकाश है। यह पवित्रता, विकास तथा दैविक शक्ति के ज्ञान का प्रतीक है। सफेद रंग की भी कई छवियां होती हैं एवं अपना विशिष्ट अर्थ रखती हैं। मोती जैसा सफेद रंग दयालुता, भद्रता और क्षमा के भाव को दर्शाता है। सीप जैसा सफेद इस ओर संकेत करता है कि आत्मा स्वयं को अनावृत्त करने में चेष्टारत होती है। स्फटिक सफेद आत्मा की पूर्णता की स्थिति को व्यक्त करता है जो कि अत्यन्त दुर्लभ होती है। काला रंग बुराई, भय, विनाश, भौतिकता तथा निषेधात्मक भावों का प्रतीक माना गया है।

काला रंग दूसरों के प्रभाव से बचाता है। रंग चुनाव के प्रति मनोवैज्ञानिक बहुत जागरूक रहते हैं। जजों और वकीलों के लिए काली पोशाक का चयन बहुत अर्थवान है। यह रंग न्यायाधीशों को अप्रभावित रहने के लिए चुना गया। यदि न्यायाधीश के लिए लाल कपड़े चुने गए होते तो वह औरों की बात कम सुनता और उत्तेजित होकर अपनी बात सुनाना ज्यादा पसन्द करता जबकि ऐसा करना अन्यायसंगत माना जाता है।

इसी क्रम में गौण रंग छवियों के अर्थ का भी उल्लेख प्राप्त होता है। हल्का स्लेटी – भय का, गहरा स्लेटी – रूढ़िवाद और औपचारिकता का, भारी स्लेटी – कल्पना की अल्पता व अर्थहीनता का, भूरा हरा – धोखा और दुहरेपन का, भूरा स्लेटी – उदासी का भाव प्रदर्शित करता है। गुलाबी रंग भद्रता, नि:स्वार्थता का, चांदनी रंग चपलता, सजीवता व गत्यात्मकता का, हल्का भूरा रंग व्यावहारिक कुशल मन का, धुंधला स्लेटी भूरा रंग स्वार्थपरता का और स्पष्ट भूरा रंग लोभ का प्रतीक माना गया है।

रंग मनोविज्ञान में एक ही रंग की विभिन्न छवियों के भिन्न-भिन्न प्रभाव की अवधारणा लेश्या सिद्धान्त में लेश्यागत भावों की तरतमता में खोजी जा सकती है। आगम साहित्य में यह तरतमता इस प्रकार बताई गई है –

कृष्णलेश्या	अशुद्धतम	क्लिष्टतम
नीललेश्या	अशुद्धतर	क्लिष्टतर
कापोतलेश्या	अशुद्ध	क्लिष्ट
तेजोलेश्या	शुद्ध	अक्लिष्ट
पद्मलेश्या	शुद्धतर	अक्लिष्टतर
शुक्ललेश्या	शुद्धतम	अक्लिष्टतम

विविध उपमाओं के साथ लेश्या-रंग

प्रज्ञापना सूत्र में लेश्या के सही रंगों की पहचान हेतु विविध उपमाओं का उल्लेख किया गया है। यद्यपि वर्ण के पांच प्रकार बतलाये हैं किन्तु तारतम्यता की दृष्टि से उसके अनेक स्तर संभावित हैं। प्रज्ञापना में द्रव्यलेश्या के पौद्गलिक पांच वर्णों का उल्लेख है पर इस रंग को जिन उपमाओं से उपमित किया है उन उदाहरणों से यह ज्ञात होता है कि एक रंग के कई स्तर होते हैं।

कृष्ण लेश्या का वर्ण काला होता है। यह कालापन वर्षारम्भकालिक मेघ, अंजन (आंखों में आंजने का सौवीरादि काला सुरमा का अंजन नामक रत्न), खंजन (गाड़ी की धुरि में लगा हुआ कीट-औंधन या दीवट के लगा मैल), कज्जल गवल (भैंस का सींग), जामुन का फल, गीला अरीठा, परपुष्ट (कोयल), भ्रमर, भ्रमर-पंक्ति, हाथी का बच्चा, काले केश, आकाशथिग्गल (शरदऋतु के मेघों के बीच का आकाशखण्ड), काला अशोक, काला कनेर, काला बन्धुजीवक (विशिष्ट वृक्ष) से भी ज्यादा कालापन लिये होता है।

नील लेश्या का वर्ण नीला होता है। यह नीलापन भृंग (पक्षी), भृंगपत्र, पपीहा (चास पक्षी), चास पक्षी की पांख, शुक (तोता), तोते की पांख, श्यामा (प्रियंगुलता), वनराजि, दन्तराग (उच्चन्तक), कबूतर की ग्रीवा, मोर की ग्रीवा, हलधर (बलदेव) का (नील) वस्त्र, अलसी का फूल, वण (बाण), वृक्ष का फूल, अंजनकेसि का कुसुम, नीलकमल, नील अशोक, नीलकनेर, नीला बन्धुजीवक वृक्ष से भी ज्यादा नील वर्ण वाला होता है।

कापोत लेश्या का वर्ण कापोती काला और लाल होता है। इसका कापोती रंग खदिर (खेर-कत्था) के वृक्ष का मध्यवर्ती भाग, धमासवृक्ष का सार, ताम्बा, ताम्बे का कटोरा, तांबे की फली, बैंगन का फूल, कोकिलच्छद (तैलकुंटक) वृक्ष का फूल, जवासा का फूल कलकुसुम जैसा होता है।

तेजो लेश्या का वर्ण रक्तवर्ण होता है। यह लालिमा खरगोश, मेष (मेढे), सुअर, सांभर और मनुष्य के रक्त जैसी होती है। इन्द्रगोप (वीर बहूटी) नामक कीड़ा, बाल-इन्द्रगोप, बाल सूर्य (उगते सूरज की आभा), सन्ध्याकालीन लालिमा, गुंजा (चिरमी) के आधे भाग की लालिमा, उत्तम हिंगलू, प्रवाल (मूंगे) की अंकुर, लाक्षारस, लोहिताक्षमणि, किरमिची रंग का कम्बल, हाथी का तलवा, चीन नामक रक्तद्रव्य के आटे की राशि, पारिजात फूल,

जपापुष्प, किंशुक (टेसू) के फूल समूह, लाल कमल, लाल अशोक, लाल कनेर, लाल बन्धुजीवक से भी ज्यादा रक्तवर्णवाली तेजोलेश्या होती है।

पद्म लेश्या का वर्ण पीला होता है। यह पीलापन चम्पा, चम्पक की छाल, चम्पक का टुकड़ा, हल्दी, हल्दी की गुटिका, हस्ताल, हरताल की गुटिका, हरताल का टुकड़ा, चिकुर नामक पीत वस्तु, चिकुर का रंग, स्वर्ण की सीप, उत्तम स्वर्ण-निकष, श्रेष्ठ पुरुष (वासुदेव) का वसन, अल्लकी का फूल, चम्पा का फूल, कनेर का फूल, कूष्माण्ड (कोले) की लता का पुष्प, कुसुम, सुवर्णजूही, सुहिरिण्य का कुसुम, कोरंट के फूलों की माला, पीत अशोक, पीत कनेर, पीत बन्धुजीवक से भी ज्यादा पीत रंग वाला होता है।

शुक्ल लेश्या का श्वेत वर्ण होता है। यह श्वेतता अंकरत्न, शंख, चन्द्रमा, कुंद (पुष्प), जल, जल की बूंद, दही, दहीपिण्ड, दूध, दूध का उफान, शुष्कफली, मयूरपिच्छ की मिंजी, अग्नि में तपा शुद्ध रजत पट्ट, शरद ऋतु का बादल, कुमुद का पत्र, पुण्डरीक कमल का पत्र, चावलों के आटे का पिण्ड, कुटज पुष्पराशि, सिन्धुवार के श्रेष्ठ फूलों की माला, श्वेत अशोक, श्वेत कनेर, श्वेत बन्धुजीवक से भी ज्यादा श्वेतवर्ण वाली होती है।[1]

वर्णप्रधान वस्तुओं के आधार पर दी गई उपमापरक आगम प्ररूपणा वस्तुतः लेश्या की सही पहचान का सूक्ष्म विश्लेषण करती है। यह व्याख्या रंग के विविध स्तरों की सूचक है। मन के साथ जुड़ने पर एक ही वर्ण का कौनसा रंग कितना प्रिय-अप्रिय अनुभव होता है, यह हमारी मानसिक संवेदना पर निर्भर करता है।

आगमों में लेश्या के अनेक स्थान/भेद यानी छवियों का उल्लेख इसी बात का प्रतिपादन करता है कि एक ही रंग की अनेक छाया होती हैं और उनमें तारतम्यता होती है। एक ही लेश्या के आत्मपरिणाम में तारतम्यता देखी जा सकती है। चौथे गुणस्थानवर्ती जीवों में शुक्ल लेश्या पाई जाती है और तेरहवें गुणस्थानवर्ती वीतराग में भी शुक्ल लेश्या होती है। किन्तु आत्म-परिणामों की पवित्रता में बहुत अन्तर आ जाता है। इसलिये कृष्णलेश्या से लेकर शुक्ललेश्या तक के असंख्यात स्थान/भेद कहे गए हैं।

असंख्यात कालमान को समझाने के लिए सूत्रों में उल्लेख मिलता है कि असंख्यात अवसर्पिणी तथा उत्सर्पिणी में जितने समय होते हैं और असंख्यात लोकाकाश के जितने प्रदेश होते हैं, उतने लेश्या के स्थान/स्तर/छवियां होती हैं।[2] यह वर्णन भावलेश्या के सन्दर्भ में किया जाता है। द्रव्यलेश्या के सन्दर्भ में लेश्या के असंख्यात भेद पुद्गल की मनोज्ञता/अमनोज्ञता, दुर्गन्धता/सुगन्धता, विशुद्धता/अविशुद्धता, शीतरुक्षता/उष्ण-स्निग्धता की हीनाधिकता के आधार पर कहे गए हैं।

---

1. प्रज्ञापना सूत्र, पद-17, सूत्र 123-28, उवंगसुत्ताणि खण्ड-2, पृ. 230-31
2. उत्तराध्ययन 34/33;

भावलेश्या और द्रव्यलेश्या का परस्पर गहरा संबंध है। द्रव्यलेश्या के स्थान के बिना भावलेश्या का स्थान नहीं बन सकता। जितने द्रव्यलेश्या के स्थान हैं, उतने ही भावलेश्या के स्थान होने चाहिए।

रंग मनोविज्ञान मानता है कि रंग मनुष्य की आन्तरिक चेतना पर अधिक काम करता है इसलिए भावों के साथ रंग का गहरा संबंध है। इस तथ्य को आज का विज्ञान ही नहीं, हजारों वर्ष पूर्व जैन आगमों ने प्रस्तुत कर दिया था। गणधर गौतम ने भगवान महावीर से पूछा – भन्ते ! हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्म, परिग्रह, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि जितने मानसिक सूक्ष्म भाव हैं, क्या इनमें रंग/वर्ण होता है ? भगवान ने कहा – इनमें पांचों वर्ण/रंग होते हैं यानी प्रत्येक प्रवृत्ति का अपना एक विशेष रंग होता है।[1]

प्रज्ञापना में उल्लेख मिलता है कि भगवान से प्रश्न पूछा गया कि कृष्ण, नील, कापोत लेश्या के परिणाम प्रशस्त हैं या अप्रशस्त ? भगवान ने उत्तर दिया – कृष्ण, नील, कापोत लेश्या के समय हमारे आत्म-परिणाम प्रशस्त-अप्रशस्त दोनों होते हैं[2] सापेक्ष दृष्टि से कहा जाता है कि कृष्ण की अपेक्षा नीललेश्या विशुद्ध है, नील की अपेक्षा कापोतलेश्या विशुद्ध है।

इस सिद्धान्त का आधार परिणामों में संक्लेश-असंक्लेश का होना है। संक्लेश का अर्थ किया गया – चित्त की मलिनता, असमाधि, अविशुद्धि, अरति, राग-द्वेष की तीव्र परिणति।[3] इस सन्दर्भ में संक्लेश का चरम बिन्दु है – कृष्णलेश्या और असंक्लेश का चरम बिन्दु है – शुक्ललेश्या। विशुद्धि की जघन्य अवस्था है तेजोलेश्या, मध्यम है पद्मलेश्या, उत्कृष्ट है शुक्ललेश्या। अविशुद्धि की चरम स्थिति है कृष्ण, मध्यम है नील और जघन्य है कापोतलेश्या। इसलिए कहा जा सकता है कि सभी रंग अच्छे या बुरे नहीं होते। प्रत्येक रंग लेश्या का आधार उसकी कषायात्मक चेतना की अशुद्धता और योगप्रवृत्ति-जन्य चंचलता है या दूसरे शब्दों में रंगों की चमक और विशुद्धता है।

लेश्या : समय, लम्बाई एवं वजन

फेबर बिरेन (Faber Birren) ने गोल्डस्टेन (Goldstein) का मत बताते हुए कहा कि रंगों की गुणात्मक पहचान के सन्दर्भ में समय, लम्बाई और वजन तीनों की महत्त्वपूर्ण भूमिका मानी गई है। लाल प्रकाश के प्रभाव में समय की अनुभूति ज्यादा होती है जबकि नीले और हरे प्रकाश में समय की मात्रा कम अनुभूत होती है। गर्म रंग में वस्तु लम्बी और ठण्डे रंग में वस्तु छोटी दीखती है। इसी तरह लाल रंग में वजन ज्यादा और हरे रंग में वजन कम महसूस होता है।[4]

---

1. भगवती सूत्र 12/102-107
2. प्रज्ञापना पद 17/सूत्र 138 (उवंगसुत्ताणि खण्ड-2, पृ. 234)
3. ठाणं – टिप्पण – सूत्र 438, पृ. 280
4. Faber Birren, Colour Psychology and Colour Therapy, p. 146

आगम की भाषा में लेश्या के साथ इन तीनों बिन्दुओं की सादृश्यता देखी जा सकती है। सातवीं नारकी का कालमान छठी नारकी की अपेक्षा ज्यादा है। सर्वार्थसिद्धि की अपेक्षा छठे देवलोक का कालमान बहुत कम है। दूसरे शब्दों में नारकी और देवताओं का उत्कृष्ट समय बहुत ज्यादा होते हुए भी नारकी में वही समय जीव को ज्यादा लम्बा लगता है जबकि देवताओं का पलक झपकते ही समय गुजर जाता है।

लेश्या का एक गुण गुरुलघु कहा गया है।[1] भगवती सूत्र के अनुसार गुरुलघु का अर्थ है – अठारह पापों में प्रवृत्त जीव गुरु और अठारह पापों से निवृत्त जीव लघु कहलाता है।[2] कृष्णलेश्या का जीव पापों में निरत होने से गुरु और शुक्ललेश्या का जीव पापों से विरत होने के कारण लघु कहलाता है। वस्तु का गुरुत्व व्यक्ति को नीचे ले जाता है जबकि लघुत्व ऊपर की ओर खींचता है।

अशुभ लेश्या का विचार भारी होने के कारण जीव को नीचे की ओर तथा शुभलेश्या का विचार ऊपर की ओर खींचता है। जैन-दर्शन का मानना है कि सातवीं नारकी सबसे नीचे है, जहां परमकृष्ण लेश्या मिलती है। इससे ऊपर छट्ठी में कृष्णलेश्या, पांचवीं में कृष्ण-नील, चौथी में नील, तीसरी में नील और कापोत, दूसरी तथा पहली में कापोतलेश्या पाई जाती है। दूसरी ओर पहले-दूसरे में उत्तम तेजोलेश्या, तीसरे, चौथे-पांचवें में पद्मलेश्या, छट्ठे से नव ग्रैवेयक तक शुक्ल, इनसे ऊपर पांच अनुत्तर विमान में अधिक निर्मल शुक्ल लेश्या पाई जाती है।[3]

लेश्या और ऐन्द्रियक विषय

विज्ञान ने ऐन्द्रियक विषयों का रंग के साथ संबंध स्थापित कर मनुष्य पर पड़ने वाले प्रभावों पर प्रकाश डाला है। मनुष्य की संवेगात्मक एकरूपता ध्वनि, आकार, रूप, गंध, स्वाद और स्पर्श के साथ देखी जा सकती है। "इन्द्रियों की एकता" यह कथन इस बात को सिद्ध करता है कि रंग को देखा, सुना, सूंघा, चखा और छुआ भी जा सकता है।

रंग संवेदन मनुष्य की मन की रचना का एक आवश्यक अंग है। रंग को स्पेक्ट्रम के माध्यम से देखा जा सकता है। दृष्टि की संवेदना आंख के माध्यम से होती है। इनकी उत्तेजनाएं प्रकाश की तरंगें हैं। रंग संवेदनाओं में मौलिक चार रंग हैं – लाल, पीला, हरा और नीला। वर्णान्ध व्यक्ति रंग नहीं देख सकता, क्योंकि चक्षु द्वारा वर्ण की पहचान होती है।

---

1. भगवती सूत्र 1/384 (अंगसुत्ताणि, भा. 2, पृ. 65)
2. भगवती 1/244 संग्रहणी गाथा, पृ. 44
3. प्रज्ञापनामलयवृत्ति, पत्रांक 344

प्रत्येक रंग प्रकम्पन ध्वनि में बदल जाता है। इसे ऑरोटॉन (Aurotone) द्वारा सुना जा सकता है।[1] फेबर बिरेन (Faber Birren) लिखते हैं कि बहुत से ऐसे व्यक्ति पाए गए जो आन्तरिक स्तर पर या अचेतन स्तर पर ध्वनि में रंगों को देखते हैं।

सत्तरहवीं शताब्दी में प्रसिद्ध वैज्ञानिक न्यूटन ने (Diatonic Scale) के सात स्वरों का सात रंगों के साथ संबंध स्थापित किया। 'सी' के लिये लाल, 'डी' के लिये नारंगी, 'ई' के लिए पीला, 'एफ' के लिए हरा, 'जी' के लिए नीला, 'ए' के लिये जामुनी तथा 'बी' के लिये बैंगनी रंग निश्चित किए। सामान्य धीमा संगीत नीले रंग के साथ, तेज संगीत लाल रंग के साथ, उच्च स्वर हल्के रंगों के साथ तथा गहरे स्वर गहरे रंगों के साथ जुड़े हुए हैं।[2]

प्रयोगों से यह भी ज्ञात हुआ है कि जहां ध्वनि द्वारा शीतल रंगों (नीला, हरा, बैंगनी) का प्रभाव अधिक गहरा हो जाता है, वहां गर्म रंगों (लाल, नारंगी तथा पीला) का प्रभाव कम हो जाता है।

रंग और स्वाद के संदर्भ में आर.बी. एम्बर (R.B. Amber) का कहना है कि सूर्य की सात किरणें और पंच तत्त्वों की मात्रा और गुण की भिन्नता के आधार पर भोजन की संरचना एवं प्रभाव भिन्न-भिन्न पाए जाते हैं। हर भोजन का अपना स्वाद होता है। उसे छह रूपों में बताया गया है – मीठा, खट्टा, नमकीन, तीखा, कड़वा और कषैला। भोजन भी गर्म, ठण्डा एवं वायु की प्रकृति वाला होता है। गर्म भोजन जैसे तीखा, खट्टा व नमकीन अग्नि तत्त्व से जुड़ा है और रक्त परिसंचरण तंत्र द्वारा नियन्त्रित होता है। कड़वा, कषैला और मीठा क्रमशः एक-दूसरे से ज्यादा ठण्डा होता है और लसिका तंत्र द्वारा नियन्त्रित होता है। वायु प्रधान भोजन न ठण्डे होते हैं, न गर्म किन्तु मस्तिष्क एवं सुषुम्ना तंत्र को प्रभावित करते हैं।[3] फेबर बिरेन (Faber Birren) का मत है कि हल्का पीला, लाल, नारंगी, भूरा, गर्म पीला, साफ हरा – ये भूख के रंग हैं। गुलाबी, हरा-नीला और बैंगनी रंग निश्चित रूप से मीठे हैं।[4]

भोजन का स्वाद सिर्फ शरीर रसायन से ही नहीं जुड़ा है, इसका प्रभाव मन पर भी पड़ता है। जैन-दर्शन में रसना इन्द्रिय को रस लोलुपता, अजितेन्द्रियता, बहिर्मुखता का प्रतीक माना गया है। लेश्या के सन्दर्भ में शुभ-अशुभ भावों की पहचान भी रस के साथ जुड़ी है। उत्तराध्ययन में स्पष्ट कहा गया है कि कृष्णलेश्या का रस तूंबे से अनन्तगुना कड़वा, नीललेश्या का त्रिकटु से अनन्तगुना तीखा, कापोतलेश्या का केरी से अनन्तगुना

1. Corinne Heline, Healing and Regeneration through Colour, An Exhaustive Survey compiled by Health Research, Colour Healing, p. 42
2. Faber Birren, Colour Psychology and Colour Therapy, p. 163, 164
3. R.B. Amber, Colour Therapy, p. 197, 198
4. Faber Birren, Colour Psychology and Colour Therapy, p. 167

कसैला होता है जबकि तेजोलेश्या का पके आम से अनन्तगुना अम्लमधुर, पद्मलेश्या का आस्रव से अनन्तगुना अम्ल, कसैला और मधुर तथा शुक्ललेश्या का खजूर से अनन्तगुना मधुर माना गया है। खट्टा-मीठा स्वाद का रसायन व्यक्तित्व के अच्छे-बुरे पक्ष पर प्रभाव डालता है।[1]

किसी वस्तु को छूने पर वह या तो गर्म महसूस होगी या ठण्डी अथवा गीली या शुष्क। रंग विज्ञान ने रंग की गर्म/ठण्डी प्रकृति को स्पर्श इन्द्रिय के साथ जोड़कर उससे होने वाले शारीरिक तथा मानसिक प्रभावों का उल्लेख किया है। गर्म रंग जहां स्वत: संचालित स्नायुमण्डल, रक्तदबाव, धड़कन गति को उत्तेजित करते हैं, वहीं ठण्डे रंग इन क्रियाओं को उत्तेजना से मुक्त करते हैं। भावात्मक स्तर पर गर्म रंग बहिर्मुखता का तथा ठण्डा रंग अन्तर्मुखता का प्रतीक माना गया है।

जैन-दर्शन के अनुसार लेश्या स्पर्शवान मानी गई है। इसका स्पर्श आठ प्रकार का होता है – कर्कश/मृदु, गुरु/लघु, शीत/उष्ण, रुक्ष/स्निग्ध। उत्तराध्ययन में अशुभ लेश्या का स्पर्श गाय की जीभ से अनन्तगुना कर्कश और शुभलेश्या का स्पर्श नवनीत से अनन्तगुना मृदु कहा गया है।[2] स्पर्श के साथ रंगों की भावात्मक व्याख्या रासायनिक परिवर्तन की ओर संकेत करती है। रंगों द्वारा केवल शारीरिक रसायन ही नहीं बदलते, आन्तरिक क्रोध, मान, माया, लोभ जैसे मानसिक रसायन भी अध्यात्म क्षेत्र में बदलते देखे गए हैं। इसीलिये रंग चिकित्सकों ने इन्द्रियों तथा उनके विषयों का रंग निर्धारण कर भिन्न-भिन्न रंगों में उनका प्रयोग किया है।

पदार्थ और मनुष्य की विशेषताओं का उल्लेख गन्ध के माध्यम से भी किया जा सकता है। यद्यपि रंग और गन्ध के बीच स्पष्ट संबंध नहीं देखा गया है किन्तु यह मनुष्यों के अनुभवों में व्यक्त होता है। सामान्यत: देखा जाता है कि गुलाबी, पीला और हरा रंग अच्छी सुगन्ध वाले और स्लेटी, भूरा, काला तथा गहरी छवियों के रंग दुर्गन्ध वाले माने जाते हैं।[3]

जैन साहित्य में लेश्या के साथ गन्ध का उल्लेख मिलता है। बुरे भावों की गन्ध, अच्छे भावों की गन्ध व्यक्तिगत चरित्र की स्वयं पहचान बनती है। कृष्णलेश्या का वर्ण ही काला नहीं होता अपितु आगमों ने उसके परमाणुओं में दुर्गन्ध का भी उल्लेख किया है। उत्तराध्ययन सूत्र में बताया गया है कि अशुभ लेश्या (कृष्ण, नील व कपोत) की दुर्गन्ध मरे हुए कुत्ते की सड़ांध से अनन्तगुना अधिक होती है और शुभलेश्या (तेज, पद्म और शुक्ल) की सुगन्ध सुरभि कुसुम की गन्ध से अनन्तगुना मनोज्ञ होती है।[4]

---

1. उत्तराध्ययन 34/10-15; 2. वही, 34/18-19
3. Faber Birren, Colour Psychology and Colour Therapy, p. 166
4. उत्तराध्ययन 34/16-17

लेश्या द्वारा मन के भीतरी रसायनों का पता लगाया जा सकता है। इस सन्दर्भ में अनेक वैज्ञानिक परीक्षण किए गए हैं। व्यक्ति का आचरण पसीने की गंध द्वारा जाना जा सकता है। जो व्यक्ति क्रोधी, ईर्ष्यालु, झगड़ालू, दूषित मनोभाव वाला होता है उसकी गन्ध में और जो सरल, निष्कपट, पवित्र आचरण वाला होता है, उसके पसीने की गन्ध में स्पष्टत: अन्तर पाया जाता है। जैन तीर्थंकरों के शारीरिक अतिशयों की पहचान में सुगन्ध को भी एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व माना गया है। उल्लेख मिलता है कि तीर्थंकर के शरीर से कमल के फूल जैसी गन्ध आती है।[1] यह गन्ध शुभ भावों की प्रतीक है।

रंग मनोविज्ञान और लेश्या-मनोविज्ञान के सन्दर्भ में आज अनेक तथ्य मनोवैज्ञानिकों ने और अध्यात्मवेत्ताओं ने प्रस्तुत किए हैं। आज भी इस दिशा में व्यक्तित्व बदलाव से जुड़ी अनेक संभावनायें उजागर हो सकती हैं यदि शोध, परीक्षण, प्रयोग को अन्वेषक दृष्टि और सही दिशा मिले। इस ग्रन्थ को लिखते समय मुझे अनेक लेखकों, शोधकर्त्ताओं एवं प्रयोगकर्त्ताओं द्वारा लिखित साहित्य को पढ़ने का अवसर मिला। जो पढ़ा, समझा वही संक्षिप्त संकलन के रूप में प्रस्तुत किया गया। यूं तो अब भी यह विषय शोध की व्यापकता से जुड़ा है, क्योंकि ज्ञान की कोई सीमा नहीं होती। फिर भी जो लेखक एवं ग्रंथ सहयोगी बने हैं वे सभी मेरे लिए आदरास्पद बने हैं –

- Alex Jones, Seven Mensions of Colour
- R.B. Amber, Colour Therapy
- Faber Birren, Colour Psychology and Colour Therapy
- Audrey Kargere, Colour and Personality
- C.G. Sander, Colour in Health and Disease
- Linda Clark, The Ancient Art of Colour Therapy
- S.G.J. Ouseley, Colour Meditations
- Faber Birren, Colour and Human Response
- Orcella Rexford, How to make colour work

1. अभिधान चिन्तामणि 1/49

रंगों का प्रतीकवाद

रंग की अवधारणा सदियों पुरानी है। प्रत्येक धर्म, दर्शन, साहित्य, कला, संस्कृति, परम्परा और लोकजीवन के हर पक्ष ने रंगों की भाषा में सृष्टि के स्थूल और सूक्ष्म जड़-चेतन को अभिव्यक्ति दी है। देश और काल का सीमाओं से हटकर रंग के अस्तित्व को स्वीकार किया है। भले ही प्राचीन समय में रंगों का मनोविज्ञान इतना विकसित और विश्लेषित नहीं हो पाया हो किन्तु प्रतीकों में उभरता रंग-ज्ञान पूर्वी और पश्चिमी सभी देशों में अपना प्रभाव जमाए हुए है।

प्राचीन मिस्र में कुछ पवित्र पाण्डुलिपियां रंगों में लिखी गई थीं। उसके प्रतीकों की सही महत्ता केवल धर्मगुरु ही जानते थे। मिस्रवासियों और चीनी लोगों ने रंगों को विभिन्न देवताओं के साथ जोड़ा। उन्होंने बताया कि नीला, पीला और लाल रंग व्यक्ति की शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक शक्ति को सक्रिय करने वाला है। नीली किरणों को मिस्र के देवता THOTH के साथ जोड़ा जो आध्यात्मिक केन्द्रों को जगाने वाला है। पीली किरणों के साथ देवता ISIS को जोड़ा गया। यह मनुष्य की मानसिक शक्तियों को उजागर करने वाला है। लाल किरणों को देवता OSIRIS से जोड़ा, जो मनुष्य को प्राण शक्ति प्रदान करता है।[1]

भारतीय वैदिक परम्परा में भी देवी-देवताओं से जुड़ा रंगों का प्रतीकवाद उपलब्ध होता है। वैदिक ऋचाओं में सप्तरश्मि, सप्तर्चि, सप्तर्षि, सप्ताश्व जैसे शब्दों का प्रयोग स्वयं रंगों की प्राचीनता पर प्रकाश डालता है। सूर्य देवता को रंगों का मूल स्रोत माना गया है। सूर्य के प्रकाश में सात रंगों का अस्तित्व सन्निहित है। कूर्म पुराण में लिखा है कि सूर्य का रंग मौसम के साथ बदलता देखा गया है। वह बसन्त ऋतु में कपिलवर्ण, ग्रीष्म में सुनहरा, वर्षा में श्वेत, शरद् में धूसर, हेमन्त में ताम्र और शिशिर में लोहित वर्ण जैसा हो जाता है।[2]

वैदिक उपासना पद्धति में समग्र ब्रह्माण्डीय शक्ति का प्रतीक ब्रह्मा, विष्णु और महेश को माना गया है। ब्रह्मा को सृष्टि का रचयिता, विष्णु को संचालक और शंकर को संहारक की पहचान दी गयी। इन तीन विराट् शक्तियों को क्रमशः लाल, काला और सफेद रंगों में दर्शाया गया। लाल रंग ऊर्जा, सक्रियता और चेतना का प्रतीक है, काला संरक्षण का प्रतीक है और सफेद विनाश यानी शून्य का प्रतीक है।

---

1. R.B. Amber, Colour Therapy, p. 53
2. कूर्मपुराण 1/41/23

शास्त्रों में शिव को सत्यं-शिवं-सुन्दरं का प्रतीक मानकर सफेद रंग में इसलिए अभिव्यक्ति दी कि शिव के मस्तक पर अर्ध चन्द्राकार चांद की धवलिमा अध्यात्म आनन्द और अनुग्रह की अर्थवत्ता लिए हुए है। ब्रह्मा के सन्दर्भ में भी उल्लेख मिलता है कि उनके दायीं ओर सरस्वती श्वेत परिधान में अधिष्ठित है जो ज्ञान और विद्या की प्रतीक है। बायीं ओर सावित्री पीले या चमकदार नीले वस्त्रों में स्थित है जो विकास और समृद्धि का अर्थ लिए हुए है। पौराणिक भाषा में कहा जाए तो ब्रह्मा से बढ़कर कौन बड़ा ज्ञानी होगा, अत: ब्रह्मा को सृष्टिकर्त्ता कहने में सृष्टि की कामजा शक्ति और उस पर ज्ञान द्वारा नियन्त्रण तथा विकास की सन्तुलन शक्ति प्रकट की गई है।

मानसार शिल्पशास्त्र में सप्तर्षि को रंगों में दर्शाया गया – 1. अगस्त्य – चमकदार हरा, 2. काश्यप – पीला, 3. भृगु – अन्धकारमय, 4. वशिष्ठ – लाल, 5. भार्गव – भूरा, 6. विश्वामित्र – लाल, 7. भारद्वाज – हरा।[1]

भारतीय दर्शन साहित्य में सृष्टि के रहस्यात्मक पहलू के साथ-साथ रंगों की चर्चा अपना विशेष अर्थ रखती है। वैदिक मान्यता के अनुसार सम्पूर्ण सृष्टि पंच तत्वों से बनी है और इन तत्त्वों का प्राणी पर प्रभाव पड़ता है। इन तत्त्वों के रंगों का शिव स्वरोदय में उल्लेख मिलता है। जल, पृथ्वी, अग्नि, वायु और आकाश का वर्ण क्रमश: श्वेत, पीला, लाल, नीला और सर्ववर्णक है।[2]

सांख्य दर्शन में सृष्टि की सार्वभौमिक सत्ता के रूप में प्रकृति को त्रिगुणात्मक माना गया है। सत्व, रजस्, तमस गुणों के आधार पर सम्पूर्ण जगत् की रचना, संरक्षण और प्रलय होता रहता है। तीन गुणों के भी अपने रंग हैं। श्वेताश्वतर उपनिषद् में भी त्रिगुणात्मक प्रकृति को लोहित, शुक्ल और कृष्ण कहा गया है।[3] साख्य दर्शन इसका कारण बताते हुए कहता है कि सत्वगुण निर्मल और प्रकाशक है इसीलिए सफेद है। रजस् गुण रागात्मक, सक्रिय, चंचल है इसलिए लाल है। तमोगुण अज्ञानरूप तथा आवरक है इसलिये काला है।[4]

आयुर्वेद शास्त्र में इन्हीं तीन गुणों के साथ तीन दोषों वायु, पित्त, कफ की व्याख्या की गई है। वहां मनुष्य शरीर के दोषों और प्रकृति के पंच तत्वों का सह-संबंध भी स्थापित किया गया है। पंच तत्त्वों और त्रिगुणों के साथ रंगों को जोड़ने की अवधारणा त्रिदोषों की गुणात्मकता पर प्रकाश डालती है।

---

1. मानसार, p. LVI, 7-10;
2. शिव स्वरोदय, भाषा टीका, श्लोक 156, पृ. 42
3. श्वेताश्वतर उपनिषद् 4/5;
4. सांख्य कौमुदी, पृ. 200

गुण	दोष	तत्व	रंग	विशेषता
सत्व	वायु	आकाश/वायु	नीला/बैंगनी	जीवन, प्रकाश, ताजगी, अच्छाई, नैतिक गुण, प्रोटॉन तत्त्व
रजस	पित्त	अग्नि	लाल/पीला	सक्रियता, इलेक्ट्रोन तत्त्व
तमस	कफ	जल/पृथ्वी	जामुनी/हरा/नारंगी	नींद, मन्दता, न्यूट्रॉन तत्त्व

संसार में जो कुछ भी ऊर्जा रूप है वह सारा रजस का परिणाम है। सारे पदार्थों का स्थायित्व तमस के कारण है और चेतना की जितनी भी अभिव्यक्तियां होती हैं, उनका कारण सत्व है। त्रिदोष त्रिगुणों की शक्तियों के साथ सम्पर्क स्थापित कर बदल जाते हैं। वायु चेतना की अभिव्यक्ति है। पित्त ऊर्जा है। कफ जड़ता है। तीनों का सन्तुलन जीवन है।[1]

रंगों का प्रतीकवाद सौरमण्डल से भी जुड़ा हुआ है। रहस्यवादी मानते हैं कि शरीर और मन सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की कॉस्मिक किरणों से संबंधित है। उनके प्रकम्पनों का प्रभाव सम्पूर्ण जीवन पर पड़ता है। अतः ग्रह, नक्षत्र, राशि, दिन, मास तथा रत्नों के साथ रंगों की प्रतीकात्मक अवधारणा जोड़ी गयी।

सात ग्रहों के साथ सात रंगों की चर्चा भी उपलब्ध होती है। सूर्य – लाल, चन्द्रमा – रूपहला चांदी-सा, मंगल – पीला, बुध – हरा, बृहस्पति – नीला, शुक्र – बैंगनी, शनि – जामुनी, राहू – अल्ट्रा वायलेट (पराबैंगनी), केतु – इन्फ्रारेड।[2]

इसी के साथ राशियों का उल्लेख भी मिलता है। राशिशास्त्र (ज्योतिष शास्त्र) की मान्यता है कि आकाश में एक ऐसा कक्ष है जहां सूर्य, चन्द्रमा और ग्रह चक्कर लगाते रहते हैं। सूर्य वर्षभर में बारह राशियों की यात्रा कर लेता है। प्रत्येक राशि का अपना एक रंग प्रतीक होता है। फेबर बिरेन (Faber Birren) के अनुसार, मेष – लाल, वृष – हरा, मिथुन – भूरा, कर्क – चांदी-सा, सिंह – सुनहरा, कन्या – रंग-बिरंगा, तुला – हरा, वृश्चिक – सिन्दूरी, धनु – आसमानी नीला, मकर – काला, कुम्भ – सलेटी, मीन – समुद्री नीला।[3]

ग्रहों के दुष्प्रभावों से बचने के लिए रत्नों का प्रभाव भी अचिन्त्य माना गया है। मिस्रवासी और पूर्वी देशों में यह सिद्धान्त विकसित हुआ कि ग्रह शारीरिक, मानसिक,

1. Benoytosh Bhattacharya, The Science of Cosmic Ray Therapy or Teletherapy, p. 48
2. Ibid, p. 61
3. Faber Birren, Colour Psychology and Color Therapy, p. 12

संवेगात्मक तथा आध्यात्मिक रूप से मनुष्य के आचरण एवं व्यवहार पर प्रभाव डालते हैं। यद्यपि ग्रह भाग्य नहीं बदलते, किन्तु उनसे आने वाली किरणों को झेलने की क्षमता अवश्य देते हैं। रत्नों का जो प्रभाव हम पर होता है वह ग्रहों के रंगों और उनके प्रकाश से निकलने वाली किरणों की प्रकम्पन क्षमता के कारण है। रत्न एवं उनसे विकिरित होने वाले रंगों की चर्चा डॉ. भट्टाचार्य ने अपनी पुस्तक जैम थेरेपी में इस प्रकार की है :[1]

माणिक्य – लाल, मोती – नारंगी, मूंगा – पीला, पन्ना – हरा, पुखराज – नीला, हीरा – जामुनी, नीलम – बैंगनी।

चीन में मौसम के साथ रंगों का संबंध जोड़कर चिकित्सा के क्षेत्र में तत्त्व, दिशा और अंगों के निर्धारण करने का उल्लेख भी मिलता है।[2]

मौसम	रंग	तत्त्व	दिशा	अंग
बसन्त	हरा	लकड़ी	पूर्व	यकृत
ग्रीष्म	लाल	अग्नि	दक्षिण	हृदय
पतझड़	सफेद	धातु	पश्चिम	फेफड़े
शरद	नारंगी	जल	उत्तर	गुर्दे

रंगों के सन्दर्भ में सभी राष्ट्रों में जातीय स्वाभिमान के साथ रंग का ज्ञान जोड़ा गया। डार्विन ने अपनी पुस्तक 'डीसेन्ट ऑफ मैन' में लिखा – हर जाति के मनुष्यों में सुन्दरता का एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व शरीर के रंग को माना जाता है। सम्भवत: यही कारण होगा कि मिस्रवासी अपने को लाल जाति के सदस्य मानते हैं। लाल ही सौन्दर्य प्रसाधनों का प्रयोग करते हैं। स्वयं को लाल रंग में ही अभिव्यक्त करते हैं। मिस्रवासियों ने चार जातियों के चार रंग बतलाए – स्वयं का लाल, एशियावासियों का पीला, भूमध्यवासी क़ा सफेद तथा नीग्रो का काला रंग माना। अरबवासियों ने लाल और सफेद दो रंगों में ही जातियों को पहचान दी। भारत में भी मूलरूप से चार जातियां मानी गई हैं जिन्हें चार वर्ण कहते हैं। वर्ण का अर्थ रंग भी होता है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र – इन चार जातियों का क्रमश: सफेद, लाल, पीला और काला रंग माना गया है।

शरीर शास्त्रीय दृष्टि से भी शरीर के प्रत्येक अंग एवं विभिन्न संस्थानों विशेषत: अन्त:स्रावी ग्रंथि संस्थान की प्रत्येक ग्रंथि का रंग निर्धारित किया गया है। हेल्थ रिसर्च पब्लिकेशन की एक रिपोर्ट के अनुसार शरीर के अंगों तथा अन्त:स्रावी ग्रंथियों का रंग निर्धारण इस प्रकार किया है –

1. Benoytosh Bhattacharya, Gem Therapy, p. 21
2. R.B. Amber, Color Therapy, p. 92, 93

शरीर के अंग/ग्रंथियां	रंग
धमनियां	हल्का लाल
आँतें	हरीतिमा युक्त लाल के साथ पीला
मस्तिष्क	लालिमायुक्त
पैर	लाल, सभी गर्म रंग
सिर	नीला, सभी ठण्डे रंग
हृदय	गहरा लाल
पेट	पीले के साथ कुछ नीला
फेफड़े	नारंगी, लाल, कुछ पीला
स्नायु संस्थान	नीलिमायुक्त सफेद
नाभि क्षेत्र	समस्त इन्द्रधनुषी रंग
एड्रीनल	चमकदार बैंगनी, लाल
पीनियल	नीला
पीट्यूटरी	नीला-पीला
थाइमस	सुनहरा, गुलाबी
थाइरॉयड	सुनहरा, हरा

आध्यात्मिक दृष्टि से योग के क्षेत्र में चक्रों की चर्चा महत्त्वपूर्ण मानी गई है। योग साहित्य में इन चक्रों के भी रंग निर्धारित किए गए हैं –

रंग	चक्र
लाल	मूलाधार चक्र
नारंगी	स्वाधिष्ठान चक्र
पीला	मणिपुर चक्र
हरा	अनाहत चक्र
नीला	विशुद्धि चक्र
जामुनी	आज्ञा चक्र
बैंगनी	सहस्रार चक्र

रंगों की प्रतीकात्मक शैली धर्म, दर्शन, संस्कृति, साहित्य के क्षेत्र में ही विस्तार से उपलब्ध नहीं होती है अपितु इस परम्परा का निर्वहन मनोवैज्ञानिक प्रभावों के साथ भी जुड़ा हुआ है। रोमन कैथोलिक धार्मिक पूजा में जिन रंगों के कपड़ों का प्रयोग करते, उनका आधार मन:स्थिति के प्रतीक रूप में स्वीकृत किया गया है। उनके अनुसार –

सफेद रंग – निर्दोषता, पवित्रता, खुशी और ईश्वर की विद्यमानता का अर्थ लिए हुए प्रकाश का प्रतीक है।

लाल रंग – परोपकार और उच्च बलिदान का अर्थ लिए हुए साहस और युद्ध का प्रतीक है।

हरा रंग – शाश्वत जीवन की खुशी का अर्थ लिए प्रकृति का प्रतीक है।

बैंगनी रंग – दु:ख और उदासी को व्यक्त करता हुआ पीड़ा और उद्विग्नता का प्रतीक है।

काला रंग – मृत्यु के दु:ख और कब्र की कालिमा का प्रतीक है।

प्राचीन परम्परा के अनुसार लाल रंग साहस और उत्साह का, नीला रंग धर्मनिष्ठा और वफादारी का, पीला सम्मान और स्वामी-भक्ति का, हरा विकास और आशा का, सफेद कर्त्तव्य और पवित्रता का, काला रंग दु:ख-शोक-पश्चात्ताप का, नारंगी रंग क्षमा-सहनशीलता, शान्ति का और बैंगनी प्रतिष्ठा एवं गौरव का प्रतीक माना गया है।

रंगों के आधार पर मनुष्य के विचार, भाव, रुचि, जाति, तत्त्व, प्रकृति का ही प्रतीकात्मक वर्णन नहीं किया गया अपितु नाट्यशास्त्र में रसों को भी रंगों के आधार पर नई पहचान दी गई।[1]

शृंगार रस का रंग श्याम प्रेम संबंधी कामुकता को उद्दीप्त करता है।

हास्य रस का रंग सफेद विनोदप्रियता और मनमौजीपन का प्रतीक है।

करुण रस का कापोत रंग यानी हल्का नीला धूसर रंग जिसमें दया और करुणा के भाव सन्निहित रहते हैं।

रौद्र रस का लाल रंग आन्तरिक क्रोध को दर्शाता है।

वीर रस का गौरवर्ण वीरता/बलिदान का रंग है।

भयानक रस का कृष्ण वर्ण दिमाग में भय पैदा करता है।

बीभत्स रस का नील वर्ण नफरत, घृणा, विरोध, अनिच्छा को दर्शाता है।

अद्‌भुत रस का पीला रंग प्रकृति के रहस्यात्मक पहलू पर आश्चर्यमयी दृष्टि का निर्माण करता है।

स्टेनफोर्ड विश्वविद्यालय के डॉ. रोबर्ट आर. रॉस (Dr. Robert R. Ross) ने नाटक की गहनता एवं संवेगों के साथ भी रंगों का संबंध जोड़ा है। उन्होंने सलेटी, नीला और बैंगनी रंग को दु:खान्त नाटक से बहुत ज्यादा संबंधित माना है तथा लाल, नारंगी और पीला रंग सुखान्त के लिये अच्छा माना है। इसी प्रकार केलीफोर्निया के विलियम ए. वैलमेन (William A. Wellmann) ने नाटक मंच पर कार्य किया और उन्होंने बताया

---

1. भरत नाट्यशास्त्रम् – 6/42, 43

कि शक्ति का रंग लाल, गर्मी और खुशी का पीला, स्वास्थ्य और प्रचुरता का हरा, अध्यात्म और चिन्तन का नीला, उदासी का भूरा, बुढ़ापे का सलेटी, अति उत्साह और जागरूकता का सफेद और निराशा का काला रंग होता है।[1]

इसी सन्दर्भ में अमेरिका में सन् 1893 से विश्वविद्यालयों और कॉलेजों में अपने मुख्य शैक्षणिक विभागों को दर्शाने के लिए रंग-संकेत निर्धारित किए गए। अभिव्यक्ति के पीछे रंगों का प्रभावक पक्ष जुड़ा हुआ था। धर्मशास्त्र के लिये सिन्दूरी रंग, दर्शनशास्त्र के लिये नीला रंग, कला और साहित्य के लिये सफेद रंग, चिकित्सा के लिये हरा रंग, कानून के लिये बैंगनी रंग, विज्ञान के लिये सुनहरा पीला रंग, इंजीनियरिंग के लिये नारंगी रंग और संगीत के लिये गुलाबी रंग माना गया है।[2]

जैन साहित्य में भी लेश्या को रंगों की प्रतीकात्मक शैली में प्रस्तुत किया गया है। आगम साहित्य का प्रसिद्ध कथानक प्रेरणा देने वाला तथा मन की भावदशा का सही चित्रक माना गया है। छह मित्रों ने फलों से लदे वृक्ष को देखा और सभी ने फल खाने की इच्छा जाहिर की। वे वृक्ष के पास पहुंचे और सोचने लगे कि फल कैसे खाएं ? सभी ने अपने विचार प्रस्तुत किए।

प्रथम ने कहा – हमें जड़ सहित सम्पूर्ण वृक्ष काट देना चाहिए।

दूसरे ने कहा – नहीं, वृक्ष की टहनियां काटनी चाहिए।

तीसरे ने कहा – नहीं, वृक्ष की शाखा-प्रशाखाएं काटनी चाहिए।

चौथे ने कहा – नहीं, फलों से लदी शाखाएं काटनी चाहिए।

पांचवें ने कहा – नहीं, सिर्फ पके हुए फलों को ही तोड़ना चाहिए।

छट्ठे ने अन्तिम समाधान दिया – क्या जरूरत है कि हम वृक्ष को किसी प्रकार का नुकसान पहुंचाएं। खाने के लिए पर्याप्त फल जमीन पर बिखरे पड़े हैं, इन्हें खाना ही उचित रहेगा।[3]

चिन्तन यात्रा के ये छह पड़ाव लेश्या की सार्थक व्याख्या करते हैं। आगम प्रथम व्यक्ति को कृष्णलेशी मानता है, क्योंकि उसमें क्रूरता, हिंसा व स्वार्थ के साथ विनाश की भावना निहित है। ऐसा व्यक्ति औरों के अस्तित्व को मिटाकर चलता है। दूसरा, तीसरा, चौथा, पांचवां और छट्ठा व्यक्ति क्रमशः नीललेशी, कापोतलेशी, तेजोलेशी, पद्मलेशी व शुक्ललेशी है। इनमें क्रमशः वृक्ष के अस्तित्व को मिटाने की भावना का अन्त और सहज-सुलभ सामग्री का सन्तोषजनक उपयोग प्रकट होता है। लेश्या के भावों को अभिव्यक्ति देने वाला यह दृष्टान्त स्वयं अपने में महत्त्वपूर्ण माना जा सकता है।

---

1. Faber Birren, Colour Psychology and Colour Therapy, p. 141
2. Ibid, p. 173
3. (क) गोम्मटसार, गाथा 506; (ख) आवश्यक सूत्र 4/6 हरिभद्रीय टीका

जैन साहित्य में चौबीस तीर्थंकरों के भिन्न-भिन्न रंग बतलाए गए हैं। पद्मप्रभ और वासुपूज्य का रंग लाल, चन्द्रप्रभु और पुष्पदन्त का सफेद, मुनि सुव्रत और अरिष्टनेमि का रंग कृष्ण, मल्लि और पार्श्व का रंग नील और शेष सोलह तीर्थंकरों का रंग सुनहला था।[1]

जैन साहित्य में लेश्या रंगों के साथ मनुष्य के चरित्र की व्याख्या[2] इस बात की सूचक है कि यदि रंग अच्छे नहीं हैं और लेश्या शुभ नहीं है तो व्यक्तित्व का स्वरूप भी अच्छा नहीं होगा। रंग और भाव के साथ व्यक्ति का गुणात्मक पक्ष जुड़ा है।

प्राचीन धर्म, दर्शन, साहित्य में रंगों का प्रतीकवाद इस बात की सूचना देता है कि रंग सृष्टि की आत्मा है और इसका विकास आदिकाल से मान्य रहा है। सभ्यता और संस्कृति के साथ रंगों के प्रतीक मनुष्य के सम्पूर्ण जीवन दर्शन की व्याख्या करते हैं। इन्हीं प्रतीकों में सृष्टि के मनोवैज्ञानिक तथ्यों का रहस्य छिपा है।

रंग और भाव का आपसी संबंध व्यक्तित्व के बाहरी-भीतरी दोनों पक्षों से जुड़ा है। शारीरिक, मानसिक एवं भावात्मक स्वस्थता के सन्दर्भ में भी लेश्या एक चिकित्सा की भूमिका निभा सकती है। व्यक्ति आधि-व्याधि, उपाधि से मुक्त होकर समाधि तक पहुंच सकता है।

रंग चिकित्सा

विभिन्न प्रकाश-किरणों के प्रयोग से मन और शरीर की अस्वस्थ अवस्था का उपचार करने का नाम रंग चिकित्सा है। जीवन स्वयं में रंग है। सातों दृश्य और अदृश्य रंगों का सन्तुलन बनाए रखने के लिए उनका लयबद्ध प्रकम्पित होना जरूरी है। इस लयबद्ध सन्तुलन में किसी भी प्रकार की गड़बड़ी रोग का कारण बनती है। यह रोग भौतिक, मानसिक व आध्यात्मिक किसी भी स्तर पर हो सकता है। इस विषय में प्राचीन व आधुनिक दोनों विज्ञानों में काफी गवेषणा हुई है।

अनेक प्रयोगों द्वारा यह ज्ञात किया जा चुका है कि विभिन्न रंगों का व्यक्ति के रक्तचाप, नाड़ी गति, श्वसन क्रिया, मस्तिष्क के क्रियाकलाप तथा अन्य जैविक क्रियाओं पर विभिन्न प्रभाव पड़ता है। आज अनेक प्रकार की बीमारियों की चिकित्सा में विभिन्न रंगों का उपयोग किया जाने लगा है।

जब शरीर सामान्य व स्वस्थ स्थिति में होता है तब सूर्य के प्रकाश में से वह स्वत: अनुकूल प्रकम्पनों को ग्रहण कर लेता है परन्तु असामान्यता व अस्वस्थता की स्थिति में उसे आवश्यक रंग की पूर्ति बाहर से करनी पड़ती है।

रंग चिकित्सा पद्धति का प्रयोग प्राचीन मिस्रवासियों ने किया। ज्ञात होता है कि उनसे भी पहले रंग-चिकित्सा के मनोवैज्ञानिक तौर-तरीकों के आधार पर मनुष्य की चिकित्सा की जाती रही है। मिस्र के मन्दिरों में पुरातत्त्ववेत्ताओं को कुछ ऐसे प्रमाण मिले हैं जिनसे

---

1. अभिधान चिन्तामणि, 1/49
2. देखें – लेश्या और आभामण्डल अध्याय में

पता चलता है कि वहां कुछ कमरों में सूर्य की किरण को स्पेक्ट्रम के सात रंगों में विभाजित करने की व्यवस्था रही है। इन रंगों का प्रयोग चिकित्सा और पूजा के लिये किया जाता था। मिस्रवासी रोगियों को सूर्य किरण में कुछ समय रखे पानी को पिलाने का तरीका भी प्रयोग में लाते थे। यह प्रयोग भारत, चीन, दक्षिण अमेरिका आदि में भी प्रचलित हुआ।

रंग चिकित्सा में चीनवासियों का भी विशेष योगदान रहा है। चीनी डॉक्टर कई तकनीक प्रयोग में लाते थे, जिनमें से रंग भी एक था। उन्होंने पांच रंगों का चयन किया – हरा, पीला, लाल, सफेद और काला। उनको यह भी ज्ञान था कि किस मौसम में, किस रोग का, किस रंग से उपचार करना चाहिए। बसन्त मौसम में यकृत से संबंधित रोगों का हरे रंग से, ग्रीष्म ऋतु में हृदय से संबंधित रोगों का लाल रंग से, पतझड़ में फेफड़ों से संबंधित रोगों का सफेद रंग तथा शीत में गुर्दे से संबंधित रोगों का नारंगी रंग से उपचार करने की पद्धति थी।

प्रकाश और रंग शरीर में किस प्रकार प्रवेश करते हैं तथा कार्य करते हैं, यह निश्चित रूप से जानना आसान नहीं। रंग वैज्ञानिकों ने घरों, शैक्षणिक संस्थानों एवं औद्योगिक क्षेत्रों में प्रयोग करके रंगों के शारीरिक व मानसिक प्रभावों पर ध्यान दिया है। इन प्रभावों का कारण यह है कि रंग ऊर्जा है। यह प्रकाश के रूप में इलेक्ट्रो-चुम्बकीय स्पेक्ट्रम का एक हिस्सा है। जब आंखों पर बदलते हुए रूपों में इसका प्रभाव पड़ता है तो यह मांसपेशियों से संबंधित मानसिक और स्नायविक क्रियाशीलता को प्रभावित करता है और अन्तःस्रावी ग्रंथियों के स्राव को नियन्त्रित करता है।

ग्रंथि	उत्तेजक रंग
यकृत	लाल
थाइरॉइड	नारंगी
स्वर संबंधी	नारंगी
आंख की पुतली के अन्दर की झिल्ली	पीला
क्लोम ग्रंथि	नींबू पीला
थाइमस	नींबू पीला
पीट्यूटरी	हरा
पीनियल	नीला
पैराथाइरॉइड	जामुनी
प्लीहा	बैंगनी
गुर्दे	लाल गुलाबी
प्रोस्टेट	लाल गुलाबी
अण्डकोष	तीव्र लाल
अण्डाशय	तीव्र लाल[1]

1. Linda Clark. The Ancient Art of Color Therapy, p. 65-66

खोजों से यह ज्ञात हुआ है कि रंग विशेष की तरंग ग्रंथि विशेष को प्रभावित करती है, जैसे – सुप्रसिद्ध रंग चिकित्सक तथा भौतिक शास्त्री डॉ. ब्रनलर (Dr. Brunler) ने रंग चिकित्सा-क्षेत्र में बहुत से प्रयोग किए हैं। उनके अनुसार एक प्रसिद्ध नायिका स्कॉटलैण्ड से लन्दन में उनके पास इलाज के लिए आई। उसकी आवाज बिल्कुल बन्द हो गई थी। अन्य डॉक्टरों ने कहा कि वह लगभग 6 सप्ताह तक स्टेज पर नहीं आ पाएगी। उन्होंने उसके यकृत एवं स्वर तंत्र के स्थान पर पीले नारंगी रंग का प्रयोग किया। उसकी आवाज 40 मिनिटों में सामान्य हो गई।[1]

कोरिन हेलीन (Corinne Heline) ने लिखा है कि रंग बीमारी के उपचार में महत्वपूर्ण है। यह मनुष्य की आयु 10 वर्ष बढ़ा देता है यानी व्यक्ति उस शक्ति का अनुभव करता है जो उसमें 12 वर्ष पूर्व थी। रंग द्वारा किया गया उपचार उम्र से पहले आने वाली वृद्धावस्था और पहले की बीमारी से उत्पन्न मानसिक चिन्ता से व्यक्ति को लाभ पहुंचाता है।[2]

रंग चिकित्सा के क्षेत्र में विविध प्रयोगों द्वारा यह सिद्ध हो चुका है कि विभिन्न रंगों का सही प्रकार से प्रयोग करके कई बीमारियों पर नियन्त्रण पाया जा सकता है।

रंग चिकित्सा के साधनों को दो भागों में बांट सकते हैं – 1. भौतिक साधन 2. मानसिक साधन।

भौतिक साधनों में कपड़े का रंग, कमरे का रंग, बाहरी साज-सज्जा आदि सम्मिलित हैं। इसमें मुख्य है सूर्य किरण चिकित्सा। इस चिकित्सा में विभिन्न रंगों के कांच, रंगीन स्क्रीन/प्लेट अथवा रंगीन लैम्प द्वारा सूर्य किरणों को रोगों के शरीर पर जहां जैसी आवश्यकता हो, डाली जाती है।

प्राचीन काल में सूर्य को स्वास्थ्य का स्रोत माना जाता रहा है। शायद अचेतन मन में जमी इसी भावना के कारण लोग सूर्य की पूजा करते रहे हैं। आज भी सूर्य-पूजा और सूर्य-स्नान दोनों ही बहुत प्रचलित हैं। सूर्य किरण चिकित्सा में औषधि को सूर्य किरण एवं विद्युत किरणों द्वारा तैयार किया जाता है। जिस रंग से चिकित्सा करनी हो, उस रंग की कांच की बोतल में पानी भरकर धूप में रखकर सूर्य किरणों से भापित कर दवा तैयार की जाती है।

रंग द्वारा मालिश करके भी रोग का उपचार किया जाता है। इसमें चिकित्सक पहले हल्के गर्म पानी से हाथ धोता है फिर अपेक्षित रंग की लैम्प की किरणों के आगे हाथ रखता है। फिर तेजी से हाथ मलता है और शरीर के अंग विशेष पर उन हाथों से मालिश करता है।

---

1. Linda Clark, The Ancient Art of Color Therapy, p. 70
2. Ibid, p, 65, 66

भौतिक साधना के अन्तर्गत एक तरीका यह भी है कि रोगी को जिस रंग की अपेक्षा हो, उस रंग के रिबन या कपड़े के टुकड़े लेकर वह निर्निमेष दृष्टि से तब तक देखता रहता है जब तक उसे यह अनुभव न होने लगे कि यह रंग उसकी चेतना तक प्रवेश कर गया है।

मानसिक साधनों में रोगी को रंग विशेष की भावना से इस प्रकार भावित कराया जाता है कि वह गहराई से महसूस करे कि श्वास के माध्यम से रंग अन्दर प्रवेश कर रहा है। रहस्यवादी विज्ञान मानता है कि प्राण की आपूर्ति सीधे प्रकाश से होती है। फिर भी रंगीन प्रकाश में लयबद्ध गहरा श्वास ऊर्जा के प्रवाह को बढ़ा देता है। रोगी को मानसिक रूप से ध्यान एकाग्र करने के लिए कहा जाता है। यह उपचार आभामण्डल के रंग को बदलने में सहयोगी बनता है।

रोनाल्ड हण्ट ने रंग श्वास के बारे में कहा कि यदि रोगी के इलाज के लिए लाल, नारंगी या पीले रंग की अपेक्षा हो तो उसे कल्पना करनी चाहिए कि ये रंग पृथ्वी से उसके पैर के माध्यम से शरीर में प्रवेश कर रहे हैं और यदि नीला, जामुनी और बैंगनी रंग की अपेक्षा हो तो कल्पना करनी चाहिए कि ये रंग आसमान से उसके मस्तिष्क के माध्यम से प्रवेश कर रहे हैं और हरा रंग सामने की हरियाली में से प्रवेश कर रहा है।

ये सारे साधन तब तक उपयोगी सिद्ध नहीं हो सकते, जब तक रोगी मानसिक रूप से तैयार न हो। रंग चिकित्सा में अन्तिम तत्त्व है – इच्छा। एक महत्त्वपूर्ण विशेषता इस चिकित्सा की यह भी है कि मनुष्य के स्वभाव को परिवर्तित किया जा सकता है। क्रोधी को शान्त और सुस्त व्यक्ति को क्रियाशील बनाया जा सकता है।

रंग की मनोवैज्ञानिक, भौतिक एवं चिकित्सा संबंधी चर्चा का एक मात्र उद्देश्य है रंग की गुणात्मकता जो जानना, जानकर उसे प्रयोग में लाना और जीवन को बदलना।

इस अध्याय में रंग को विविध कोणों से संकलित करने का मुख्य उद्देश्य यह रहा है कि रंग की प्रभावकता जीवन से जुड़ी है और लेश्या की व्याख्या भी हम रंगों की भाषा में करते हैं। लेश्या का हर पौद्गलिक एवं चैतसिक पक्ष व्यक्तित्व पर प्रभाव छोड़ता है। लेश्या जीवन को रूपान्तरण दे सकती है यदि इसकी मनोवैज्ञानिक भूमिका पर जीवन को प्रयोगशाला बना दी जाए। इसलिए रंगों की बाह्य एवं आन्तरिक गुणात्मक भूमिका को समझना जरूरी है। और इस सन्दर्भ में महत्त्वपूर्ण बात है लेश्या रंगों का ध्यान करना, जिसकी चर्चा लेश्या ध्यान संबंधी अध्याय में विस्तारपूर्वक की गई है। •

चतुर्थ अध्याय

लेश्या और आभामण्डल

* तैजस शरीर, तैजस समुद्घात और तेजोलब्धि
* सूक्ष्म चेतना के स्तर
* रंगों की अनेक छवियां
* भावों के साथ जुड़ा आभामण्डल
* वर्ण : व्यक्तित्व की गुणात्मक पहचान
* क्या आभामण्डल दृश्य है ?

चतुर्थ अध्याय

लेश्या और आभामण्डल

जैन तत्त्व चिन्तन में आभामण्डल की चर्चा लेश्या के सन्दर्भ में सूक्ष्म शरीर के साथ की जा सकती है। इसकी मान्यतानुसार प्रत्येक प्राणी में दो शरीर होते हैं – स्थूल और सूक्ष्म। औदारिक, वैक्रिय और आहारक शरीर स्थूल है। तैजस व कार्मण शरीर सूक्ष्म है। औदारिक शरीर रक्त, मांस, अस्थि, मज्जा आदि से बना होता है। वैक्रिय और आहारक शरीर के पुद्गल औदारिक शरीर की अपेक्षा सूक्ष्म होते हैं। पर ये प्रत्येक को उपलब्ध नहीं होते। सूक्ष्म शरीर सूक्ष्म परमाणुओं की संघटना है। प्रस्तुत सन्दर्भ में तैजस और कार्मण शरीर विवेच्य है।

प्राणी की प्राण शक्ति का मूलस्रोत सूक्ष्म तैजस शरीर है। इसे जैन सिद्धान्त में उल्लिखित दस प्राणशक्तियों (श्रोत्रेन्द्रिय, चक्षुरेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, स्पर्शनेन्द्रिय, मनोबल, वचनबल, शरीरबल, श्वासोच्छवास और आयुष्य) का संचालक सूत्र माना गया है। लेश्या सिद्धान्त के सन्दर्भ में कहा जा सकता है कि पौद्गलिक लेश्या या आभामण्डल तैजस शरीर से निष्पन्न होता है जो प्राणी के जन्म के साथ बनता है और जीवन के अन्त तक रहता है।

जैन तत्त्व मीमांसा में चेतन और पुद्गल दो तत्त्व विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। प्राणी न शुद्ध अर्थ में चेतन है और न शुद्ध अर्थ में पुद्गल। वह दोनों का संयोग है। प्राणी के सन्दर्भ में आभामण्डल चेतना और शरीर दोनों की परिणति का प्रतिबिम्ब है।

आभामण्डल की अवधारणा बहुत पुरानी है। रहस्यवादी और मनोवैज्ञानिक इस बात को मानते रहे हैं कि मानव शरीर को घेरे हुए ऊर्जा का वलय यानी आभामण्डल जो कि अण्डाकार बादल के रूप में विभिन्न रंगों में होता है। यह व्यक्ति के मनोदशा व भावात्मक सन्तुलन के साथ-साथ परिवर्तित होता है।

जैन आगमों में आभामण्डल जैसा शब्द-प्रयोग उपलब्ध नहीं होता किन्तु लेश्या शब्द का जिस अर्थ में प्रयोग हुआ है, उससे यह विज्ञान-सम्मत बात लगती है कि शरीर विद्युत का भण्डार है। इससे प्रतिक्षण विद्युत विकिरित हो रही है। विकिरित होने वाले पुद्गलों का अपना एक संस्थान बनता है जिसे हम आभामण्डल कहते हैं।

लेश्या शब्द का अर्थ तेज, दीप्ति, ज्योति, किरण-मण्डल, बिम्ब, देह, सौन्दर्य, ज्वाला, सुख व वर्ण किया गया है।[1] इन शब्दों की अर्थात्मा लेश्या के सन्दर्भ में आभामण्डल का

---

1. लेश्याकोश, पृष्ठ 3

अर्थ प्रकट करती है। नन्दीचूर्णि में लेश्या शब्द की व्युत्पत्ति बतलाते समय रस्सी शब्द का प्रयोग किया गया है।[1] रस्सी यानि रश्मि। लेश्या का एक अर्थ है विद्युत विकिरण। इस विकिरण का मूल स्रोत है तैजस शरीर।

तैजस शरीर, तैजस समुद्घात और तेजोलब्धि

लेश्या और आभामण्डल का अध्ययन करते समय तैजस शरीर को समझना बहुत जरूरी है। यह हमारे पाचन, सक्रियता, दीप्ति और तेजस्विता का मूल है। यह पूरे स्थूल शरीर में व्याप्त रहता है। इस शरीर का प्रेरक तत्त्व है – अतिसूक्ष्म कर्मशरीर। हमारे अर्जित कर्म संस्कारों के अनुरूप तैजस शरीर स्पन्दित होता है। प्राणधारा विकिरित करता है और यही आभामण्डल का निर्माण करता है।

जैन आगमों में तैजस शरीर के साथ तेजोलेश्या, तेजोलब्धि और तैजस समुद्घात जैसे महत्त्वपूर्ण शब्द विशेष अर्थों में जुड़े हुए हैं। तेजोलेश्या ऊर्जा का अखण्ड भण्डार है। जैन आगमों में तेजोलेश्या की उन्हीं अर्थों में पहचान है, जिन अर्थों में हठयोग में कुण्डलिनी की।

कुण्डलिनी शब्द का यद्यपि जैन आगमों में उल्लेख नहीं है पर उत्तरवर्ती साहित्य में तेजोलेश्या को जिस रूप में व्याख्यायित किया गया है, उसे कुण्डलिनी के नाम से अभिहित किया जा सकता है। सभी साधना पद्धतियों में कुण्डलिनी की उपयोगिता स्वीकृत है। हमारे शरीर में मूलाधार चक्र के पास ऊर्जा का स्थान है। इसी स्थान को कुण्डलिनी का स्थान माना गया है। जैन आगम की भाषा में अग्नि ज्वाला के समान लाल वर्ण वाले पुद्गलों के योग से होने वाली चैतन्य की परिणति को तेजोलेश्या कहा गया है।[2]

तैजस शरीर – यह सूक्ष्म पुद्गलों से निर्मित होने के कारण चर्मचक्षु से दृश्यमान नहीं होता। यह स्वाभाविक भी होता है और तपस्या द्वारा उपलब्ध भी होता है। तप द्वारा उपलब्ध तैजस शरीर ही तेजोलेश्या है। इसे तेजोलब्धि भी कहते हैं।[3]

स्वाभाविक तैजस शरीर सभी में होता है किन्तु तपोलब्ध तैजस शरीर सबमें नहीं होता। यह तपस्या द्वारा प्राप्त होता है। तपोजनित तैजस शरीर में अनुग्रह और निग्रह की शक्ति होती है।[4] उसके बाहर निकलने की प्रक्रिया को तैजस समुद्घात कहते हैं। सामान्य शरीर में वह शक्ति नहीं होती।

तैजस समुद्घात – परामनोविज्ञान के क्षेत्र में सूक्ष्म शरीर को बाहर निकालने के कई उदाहरण मिलते हैं। अतीन्द्रिय प्रयोगों में एस्ट्रल प्रोजेक्शन के द्वारा घटनाओं को जाना जाता है। प्रत्येक प्राणी में प्राणधारा होती है जिसे एस्ट्रल बॉडी भी कहा जाता है। एस्ट्रल प्रोजेक्शन के द्वारा प्राण शरीर से बाहर निकलकर जहाँ घटना घटित होती है, वहाँ की सारी बातें जानी जा सकती हैं। इस प्रक्रिया में व्यक्ति आभामण्डल में प्रविष्ट होकर तभी यथार्थ चरित्र को

---

1. नन्दीचूर्णि, गाथा 4;
2. ठाणं 1/194 वृत्ति पत्र 29
3. सभाष्य तत्वार्थ 2/49;
4. वही, 2/43

जान सकता है जब व्यक्ति का चरित्र अस्त-व्यस्त न हो। इतना धुंधला न हो कि उसके रंगों का पता भी न चले।

इस एस्ट्रल प्रोजेक्शन की प्रक्रिया को जैन परम्परा में समुद्घात-प्रक्रिया कह सकते हैं। तैजस समुद्घात का अर्थ भी यही है कि जब विशेष घटना घटित होने वाली होती है, तब व्यक्ति स्थूल शरीर से प्राणशरीर को बाहर निकालकर घटना तक पहुंचता है और घटना का ज्ञान कर लेता है। यह प्राण शरीर बहुत दूर तक जा सकता है। इसमें अपूर्व क्षमताएँ हैं। आगम साहित्य में सात प्रकार के समुद्घात का उल्लेख है – वेदना, कषाय, मारणान्तिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस और केवली समुद्घात।[1]

तेजोलब्धि – प्रज्ञापना सूत्र में लिखा है कि तेजोलब्धि सम्पन्न व्यक्ति ही तैजस समुद्घात करने में समर्थ होता है। तैजस समुद्घात करते समय तेजोलेश्या (तैजस शक्ति) निकलती है। तैजस शक्ति के दो कार्य हैं – अनुग्रह और शाप। अनुग्रहशील तेजोलेश्या जब बाहर निकलती है, तब उसका वर्ण हंस की भांति सफेद होता है। वह तपस्वी के दायें कन्धे से निकलती है। उसकी आकृति सौम्य होती है। वह लक्ष्य को साधकर फिर अपने मूल शरीर में आ जाती है। निग्रहशील तेजोलेश्या जब बाहर निकलती है तब उसका वर्ण सिन्दूर जैसा लाल होता है। वह तपस्वी के बायें कन्धे से निकलती है। उसकी आकृति रौद्र होती है। वह लक्ष्य को साधकर फिर अपने मूल शरीर में प्रविष्ट होती है।[2]

शीतल लेश्या उष्ण लेश्या को प्रतिहत करने की शक्ति रखती है। तैजस शक्ति के विकास होने पर केश और नख नहीं बढ़ते। शरीर का रासायनिक परिवर्तन नहीं होता। तीर्थंकरों की अतिशय गाथाओं में यह वर्णन मिलता है कि उनके केश और नख नहीं बढ़ते। वे आधि-व्याधि से मुक्त होते हैं।

तेजोलब्धि संग्रहीत ऊर्जा की अभिव्यक्ति है। तेजोलब्धि जिसके पास होती है, वह उसका उपयोग निर्माण और ध्वंस दोनों कामों में कर सकता है। एक दृष्टि से देखा जाए तो वरदान-शाप ये सब ऊर्जा या विद्युत के परिणाम हैं। विद्युत के बिना कुछ भी नहीं होता। जैसे विद्युत अपना चुम्बकीय स्थान बनाती है, वैसे ही तेजोलेश्या भी अपना चुम्बकीय स्थान बनाती है। उसकी विद्युत धारा व्यक्ति के व्यक्तित्व को निर्मित होने में सहयोग देती है तथा अन्य उपलब्धियों के प्राप्त होने में भी निमित्त बनती है।

स्थानांग सूत्र में तेजोलब्धि की प्राप्ति के प्रमुख तीन साधन बतलाए गए हैं[3] : 1. आतापना, 2. सहिष्णुता 3. निर्जल तपस्या। आतापना एक प्रकार से सौर ऊर्जा प्राप्ति का ही उपक्रम है।

---

1. ठाणं 7/138; 2. वृहद्द्रव्यसंग्रह 1/10, टीका पृ. 21
3. ठाणं 3/182

गणधर गौतम की जिज्ञासा पर तेजोलब्धि की प्राप्ति का क्रम बतलाते हुए भगवान महावीर ने कहा – जो साधक छह माह तक बेले-बेले तप (दो दिन का उपवास) करता है। पारणे के दिन मुट्ठी भर उड़द के बाकले एवं चुल्लू भर पानी का आसेवन करता है। प्रतिदिन सूर्य सम्मुख हाथ ऊपर कर आतापना लेता है, उसे संक्षिप्त-विपुल तेजोलेश्या की प्राप्ति होती है।[1]

निग्रहशील शीतोष्ण तेजोलेश्या ज्वाला – दाह पैदा करती है। आज के अणुबम की तरह इसमें अंग-बंग इत्यादि सोलह जनपदों का घात, बध, उच्छेद तथा भस्म करने की शक्ति होती है। शीतल तेजोलेश्या में उष्ण तेजोलेश्या से उत्पन्न ज्वाला दाह को प्रशान्त करने की क्षमता होती है। वैश्यायन बाल तपस्वी ने गोशालक को भस्म करने के लिये उष्ण तेजोलेश्या फेंकी। मोहानुकंपावश उसे बचाने के लिए भगवान महावीर ने शीतल तेजोलेश्या का प्रयोग किया। गोशालक भस्म होते-होते बच गया।[2] निक्षिप्त तेजोलेश्या का प्रत्याहार भी किया जा सकता है। सामान्यत: तेजोलेश्या संक्षिप्त और प्रयोगकाल में विस्तृत होती जाती है।[3] यह विपुल अवस्था में सूर्य बिम्ब के समान दुर्धर्ष होती है।[4] तेजोलेश्या जब अपने से लब्धि में अधिक बलशाली पुरुष पर निक्षेप की जाती है तो वह निर्वीर्य होकर वहां से लौट आती है और प्रयोक्ता को भस्म कर सकती है।

मनुष्य की तरह देवताओं में होने वाली तेजोलेश्या भी प्रखर, दाहक और ताप वाली होती है। भगवती सूत्र के तीसरे शतक में यह उल्लेख प्राप्त होता है कि जब ईशान देवेन्द्र ने असुरों की राजधानी बलिचंचा की तरफ कुपित दृष्टि से देखा तो उसके दिव्य प्रभाव से वह राजधानी तप्त ललाट की भांति जलने लगी। असुरों ने अपने ज्ञानबल से जाना कि ईशान देवेन्द्र कुपित हो गए हैं। वे दिव्यतेजोलेश्या सह नहीं सके। उन्होंने करबद्ध क्षमायाचना की। ईशानेन्द्र ने प्रसन्न हो पुन: निक्षिप्त तेजोलेश्या को वापिस खींच लिया। तब असुरों को राहत मिली।[5] साधना द्वारा तेजोलेश्या को प्राप्त करने वाला सहज आनन्द को उपलब्ध होता है। इस अवस्था में विषय-वासना और आकांक्षा सहज निवृत्त हो जाती है। इसीलिए इस अवस्था को सुखासिका (सुख में रहना) कहा जाता है।

आभामण्डल की संरचना के सन्दर्भ में जैन सिद्धान्त के अनुसार आभामण्डल की अवधारणा दो रूपों में की जा सकती है – 1. कषायात्मक 2. योगात्मक। कषाय आभामण्डल मनुष्य के भीतर सूक्ष्म शरीर से जुड़ा है। वहां क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, मूर्च्छा के तीव्र अध्यवसाय सतत प्रकम्पित होते रहते हैं। योगात्मक आभामण्डल मन, वचन और शरीर द्वारा निर्मित पुद्गलात्मक प्रवृत्तिजन्य स्थूल शरीर से संबंधित है। कषाय और योग दोनों का लेश्या के साथ जब सम्पर्क होता है तो आभामण्डल हमारे चरित्र को

---

1. भगवती 15/70, पृ. 668; 2. भगवती 15/64-66, पृ. 667
3. वही 15/69, वृत्ति पत्र 668; 4. ठाणं 3/386, वृत्तिपत्र 139
5. भगवती 3/50-51, पृ. 137-38

प्रकट करता है। अत: कषाय की तीव्रता/मन्दता पर आभामण्डल की उज्ज्वलता/मलिनता निर्भर करती है। इसी प्रकार योगों की स्थिरता और चंचलता पर प्राणऊर्जा का संचय और व्यय आधारित है। संक्षेप में कहा जा सकता है कि आभामण्डल दो प्रकार की ऊर्जा का संयुक्त विकिरण करता है –

1. चैतन्य द्वारा प्राणऊर्जा का विकिरण
2. भौतिक शरीर द्वारा विद्युत चुम्बकीय ऊर्जा का विकिरण

प्राणऊर्जा के विकिरण का आधार व्यक्ति की भावधारा (आत्म परिणाम) बनती है और विद्युत चुम्बकीय ऊर्जा पौद्गलिक है, आभामण्डल का संस्थान इससे निर्मित होता है।

आभामण्डल मनुष्य जीवन का एक जीता-जागता नक्शा है। यह मन और आत्मा का रंगीन चार्ट है। इसमें व्यक्ति के चिन्तन, मनोदशाएं, भावनाएं और व्यवहार अभिव्यक्त होते हैं, क्योंकि मन और आत्मा एकात्मक न होते हुए भी इस तरह से परस्पर संबंधित हैं कि यदि एक में कोई परिवर्तन होता है तो दूसरा उससे अप्रभावित नहीं रहता।

सूक्ष्म चेतना के स्तर

रहस्यवादी वैज्ञानिकों का भी मानना है कि आभामण्डल का सूक्ष्म शरीर के साथ गहरा संबंध है। रहस्यवादी विज्ञान ने आभामण्डल को सूक्ष्म चेतना के सात स्तरों पर व्याख्यायित किया है। ऑसले (Ouseley) ने अपनी पुस्तक "द पाउर ऑफ द रेज" में रहस्यवादी वैज्ञानिकों का दृष्टिकोण स्पष्ट करते हुए बताया कि वे मानसिक और आध्यात्मिक स्थितियों को ध्यान में रखते हुए मनुष्य को सात धरातलों पर विश्लेषित करते हैं[1] :-

1. शारीरिक भौतिक स्तर (Physical-Etheric Plane)
2. तारामण्डलीय स्तर (Astral Plane)
3. निम्न मानसिक स्तर (Lower Mental Plane)
4. उच्च मानसिक स्तर (Higher Mental Plane)
5. आध्यात्मिक कारण स्तर (Spiritual-Causal Plane)
6. अन्तर्ज्ञानात्मक स्तर (Intuitional Plane)
7. दिव्य अथवा पूर्णता का स्तर (Divine or Absolute Plane)

इनमें प्रथम चार सांसारिक अस्तित्व से संबंधित हैं, शेष तीन अध्यात्म से संबंधित हैं। इस सप्तमुखी प्रकृति की अभिव्यक्ति और उसकी तारतम्यता को दर्शाने वाला आभामण्डल है।

सी. डब्ल्यू. लीडबीटर (C. W. Leadbeater) ने अपनी पुस्तक थॉटफॉर्म्स और मैन विजिबल एण्ड इनविजिबल में तीन प्रकारों के शरीरों का वर्णन किया है :

---

1. S.G.J. Ouseley, The Power of the Rays, p. 23-24

1. तारामण्डलीय शरीर (Astral Body)
2. मानसिक शरीर (Mental Body)
3. कारण शरीर (Causal Body)

पहला शरीर भावनात्मक अनुभवों को प्रदर्शित करता है, जिसमें बहुत से परिवर्तन होते रहते हैं। दूसरा पहले की अपेक्षा अधिक गहन व स्वभाव से स्थायी होता है तथा तीसरे शरीर की साम्यता कुछ सीमा तक आत्मा से की जा सकती है। उनका मानना है कि इन शरीरों में से निकलने वाले प्रकाश के रंग को कुछ अनुभवी संवेदनशील चिकित्सक ही देख सकते हैं।[1]

थॉट फार्म्स में लिखा है कि जिसे हम आभामण्डल कहते हैं, यह उच्च शरीरों का बाह्य हिस्सा है जो बादल जैसे पदार्थ से निर्मित है और एक दूसरे में प्रवेश करता है तथा भौतिक शरीर की सीमाओं से परे फैला होता है। उन्होंने बताया कि मानसिक और तारामण्डलीय शरीर का मुख्य संबंध विचार/चिन्तन से है।[2]

भौतिक, मानसिक और कारण शरीरों पर आभामण्डल का रूप, रंग, आकार, चमक और गुणात्मक स्तर निर्भर करता है, क्योंकि आभामण्डल सूक्ष्म शरीर का विकिरण है। रोनाल्ड हन्ट (Ronald Hunt) मानते हैं कि आभामण्डल का निर्माण करने वाली चुम्बकीय व विद्युतीय विकिरणें मनुष्य के सूक्ष्म शरीर से निकलती हैं। इस आभामण्डल से निकलने वाले रंग प्रकम्पन पूर्णरूप से आत्मा के अनुभवों को प्रकट करते हैं।[3]

ऑसले (Ouseley) का भी कहना है कि आभामण्डल मनुष्य के चरित्र, भावात्मक प्रकृति, मानसिक योग्यता, स्वास्थ्य की स्थिति तथा आध्यात्मिक विकास को दर्शाने वाला है।[4]

रंगों की अनेक छवियां (Shades)

आभामण्डल की व्याख्या रंगात्मक है। जिसमें लेश्या होती है, उसका आभामण्डल निश्चित रूप से शुभ-अशुभ भावों के साथ बदलता है। यह बदलाव अच्छा है या बुरा, प्रिय है या अप्रिय, यह जानने के लिये रंगों की भाषा जानना जरूरी है।

रंग मनुष्य के भाव के साथ बदलते रहते हैं। रंगों की छवियों के साथ व्यक्तित्व के आचरण निश्चित किए जाते हैं।

दो शब्द हैं – भामण्डल (Hallow) और आभामण्डल (Aura)। अवतारों, तीर्थंकरों और महापुरुषों के चित्रों में सिर के पीछे पीले रंग का गोलाकार-सा चक्र देखने में आता है। यह भामण्डल है जो कि विशिष्ट विकसित चेतना में अभिव्यक्त होता है।

---

1. S.J. Singh. New Horizons In Chromotherapy. p. 68
2. Annie Besant and C. W. Leadbeater. Thought-Forms. p. 6. 7
3. Ronald Hunt. Fragrant and Radiant Healing Symphony. An Exhaustive Survey Compiled by Health Research. Color Healing. p. 60
4. S.G.J. Ouseley. The Power of the Rays. p. 24

आभामण्डल जड़-चेतन सभी पदार्थों में होता है पर पदार्थ और प्राणी के आभामण्डल में बहुत अन्तर है। पदार्थ का आभामण्डल स्थिर, भद्दा और निष्क्रिय होता है जबकि प्राणी का आभामण्डल भावों में आने वाले बदलाव के साथ प्रतिक्षण बदलता है। आदमी जब मरता है तो उसकी आत्मा निकलती है, उस समय स्वाभाविक रूप से उसका आभामण्डल भद्दा हो जाता है, क्योंकि आभामण्डल आत्मा के प्रकम्पनों को प्रतिबिम्बित करता है।[1] जैनसूत्रों में चेतनाशील प्राणी का एक लक्षण लेश्या बतलाया गया है।[2]

रंग विज्ञान का मत है कि विभिन्न भावदशाओं में विभिन्न रंगों की हजारों छवियां एक दूसरे में समाकर कई नयी छवियों की सृष्टि करती है। आभामण्डल में रंगों की छाया का अपना विशिष्ट महत्त्व होता है। "द सेवेन कीज टू कलर हीलिंग" में लिखा है कि संसार में रंग की 6000 से भी अधिक छवियां हैं। ब्रिटिश रंग कॉन्सिल, जिसका अपना केटलॉग (विषय-सूची) है, उसमें नीले रंग की 1400, ब्राउन की 1375, लाल की 1000, हरे की 820, नारंगी की 550, ग्रे रंग की 500, बैंगनी की 360 और सफेद की 12 छवियां बताई गयी हैं।[3]

जैन आगमों में वर्ण और छाया में अन्तर बताया गया है। वर्ण निरन्तर साथ रहने वाला है। छाया (आभा) सबमें नहीं होती। कुछ लोगों में होती है और कुछ लोगों में नहीं होती। वर्ण और छाया में यही अन्तर है।[4]

रंग गर्म/ठण्डा, उत्तेजक/तनाव मुक्ति देने वाला, चमकदार/धुंधला, प्रसन्नता भरने वाला/विक्षिप्त करने वाला होता है।[5] इसी तरह लेश्या के शुभ-अशुभ वर्णों के सन्दर्भ में भी यह नियम ग्राह्य है कि लेश्या शुद्ध/अशुद्ध, प्रशस्त/अप्रशस्त, शीत/उष्ण, मनोज्ञ-अमनोज्ञ कई रूपों में होती है।[6]

मनुष्य के बदलते स्वभाव के साथ रंग भी भिन्न-भिन्न हो जाते हैं। रंग असंख्य रूपों में अभिव्यक्त होते हैं। विचार, संवेग, इच्छा, भावना के साथ तारामण्डलीय शरीर में बदलाव आता है। यदि तारामण्डलीय आभामण्डल का दूसरे सूक्ष्म शरीरों के साथ सामंजस्य होता है तो वह चमकदार लगता है और असन्तुलित होता है तो काला, धुंधला, धब्बेदार दीखने लगता है।[7]

निम्न प्रकृति वालों की ओरा में रंग अस्त-व्यस्त, धुंधले और भद्दे होते हैं। श्रेष्ठ प्रकृति वालों की ओरा में रंग चमकदार, उच्च, प्रकम्पन्न वाले और स्पष्ट दिखाई देते हैं।

---

1. Edger Cayce, Auras, p. 5; 2. ठाणं 10/18
3. Ronald Hunt, the Seven Keys to Colour Healing, An Exhaustive Survey Compiled by Health Research, Colour Healing, p. 67
4. सूत्रकृतांगसूत्र, चूर्णि पृ. 327
5. Ronald Hunt, The Seven Keys to Colour Healing, An Exhaustive Survey Compiled by Health Research, Colour Healing, p. 67
6. Alex Jones, Seven Mansions of Colour, p. 96
7. प्रज्ञापना 17/138 (उवंगसुत्ताणि, खण्ड 2, पृ. 234)

लिण्डा-क्लार्क अपनी पुस्तक 'द एन्सीएन्ट ऑर्ट ऑफ कलर थेरेपी' में लिखती हैं कि यदि कोई व्यक्ति भयभीत या हतोत्साही है तो उसकी ओरा में रंग धुंधले होंगे और स्वस्थता विकिरित हो रही है तो रंग स्पष्ट होंगे। यदि क्षमता निम्न है तो रंग हल्के होंगे और यदि शक्ति उच्च है तो रंग चमकदार होंगे।

भावों के साथ जुड़ा आभामण्डल

रंग आन्तरिक स्तरों की सच्ची भाषा है। आभामण्डल रंगों की भाषा में पहचाना जाता है, क्योंकि सूक्ष्म शरीर से निकलने वाली विकिरणें रंगीन होती हैं, इन्हीं रंगों के माध्यम से आभामण्डल की गुणात्मकता तथा प्रभावकता जानी जाती है। दो व्यक्तियों का आभामण्डल एक जैसा नहीं होता है, क्योंकि किसी का भी स्वभाव, विचार और आदतें सदा एक जैसी नहीं होतीं। भावलेश्या प्रतिक्षण बदलती रहती है, इसलिये आभामण्डल भी बदलता रहता है।

कौन-सा आचरण/भाव, कौनसे रंग के साथ कैसा आभामण्डल निर्मित करता है, इसे मनोवैज्ञानिक आधार पर समझा जा सकता है। जैन दर्शन लेश्या की व्याख्या में कहता है कि कृष्ण, नील और कापोत रंग प्रधान ओरा मनुष्य की दूषित मनोवृत्तियों को दर्शाता है। तेज, पद्म और शुक्ल लेश्या के रंग-प्रधान आभामण्डल मनुष्य की अच्छी मनोवृत्ति को दर्शाता है। इस सन्दर्भ में आधुनिक मनोवैज्ञानिकों ने भी आभामण्डल के साथ जुड़े व्यक्तित्व का रंगों के साथ विश्लेषण करने का प्रशंसनीय प्रयास किया है।

लीडबीटर 'मैन विजिबल एण्ड इनविजिबल' में सूक्ष्मशरीरों में उभरने वाले रंगों की विभिन्न छवियों द्वारा मनुष्य का चरित्र कैसे बदलता है, इस विषय में लिखते हैं कि सूक्ष्म शरीर के चारों ओर घिरा अण्डाकृति में उभरता काला रंग घृणा, प्रतिशोध और द्वन्द्व का प्रतीक है। काली पृष्ठभूमि पर सहसा प्रकाशित लाल रंग क्रोध को दर्शाता है। यदि क्रोधावस्था स्वार्थपरक है तो लाल रंग के साथ ब्राउन रंग का प्रभाव सामने आएगा। यदि घमण्ड है तो संतरइ रंग की छाया होगी। ऐन्द्रिय सुखों और विकृत वासनाओं का दर्शक गहरा कत्थई रंग है।

जंग-सा भूरा रंग धनलिप्सा और लालच का प्रतीक है। भूरा रंग ईर्ष्या दर्शाता है। नारंगी रंग गर्व और महत्त्वाकांक्षा की ओर इंगित करता है। सूक्ष्म शरीर में पीले रंग की उपस्थिति, बुद्धिमत्ता, अन्तरप्रज्ञा की परिचायक है। निम्न और स्वार्थभरी बुद्धिमत्ता की स्थिति में पीले के साथ कुछ कालिमा भी उभर आती है। उच्च प्रज्ञा की स्थिति में यह रंग स्वर्ण की भांति चमकदार और नींबू जैसा हो जाता है।

हरा रंग प्रारम्भ में बुराई और धोखा देने वाला होकर अन्ततः संवेदनात्मक, सहानुभूतिपूर्ण बन जाता है। नीला रंग धार्मिकता का सूचक है। हल्का नीला या नीला काला त्याग और श्रेष्ठ मानवीय भावनाओं की ओर इंगित करता है। आध्यात्मिक गुणों की पराकाष्ठा में यह रंग चमकदार हो जाता है।

संक्षेप में सूक्ष्म शरीर के रंगों को पांच विभागों में बांटा जा सकता है :-

1.	हल्का चमकीला नीला रंग	उच्चतम आध्यात्मिकता
	बैंगनी रंग	त्याग और प्रेम
	आसमानी रंग	त्याग और उच्च विचार
	गहरा चमकीला नीला रंग	धार्मिक प्रवृत्ति
	स्लेटी नीला रंग	स्वार्थपरक धार्मिकता
2.	नीला हरा	भय मिश्रित धार्मिकता
	पीला	उच्च बुद्धिमत्ता
	सुनहरी	श्रेष्ठ बुद्धिमत्ता
	स्लेटी पीला	निम्न बुद्धिमत्ता
	नारंगी	गर्व
3.	हरा	सहानुभूति
	हल्का बैंगनी	मानवीय प्रेम
	गुलाबी	नि:स्वार्थ लगाव
	कालिमायुक्त गुलाबी	स्वार्थ
	किरमिची	आत्मकेन्द्रित
4.	पन्ना हरा	आत्मगोपन की प्रवृत्ति
	गहन लाल से सहसा प्रकट होने वाला ब्राउन रंग	ईर्ष्या
	स्लेटी हरा	धूर्तता
	नीलिमायुक्त स्लेटी	भय
	गहन स्लेटी	शक्तिहीनता
5.	कालिमायुक्त गहन पीला	स्वार्थपरता
	स्लेटी लाल	लोभ
	कालिमायुक्त लाल	ऐन्द्रियक सुखों की लालसा
	काला	द्वेषपूर्ण भावना

आभामण्डल में होने वाले रंगों की गुणात्मक व्याख्या में ऑडरे कारगेरे (Audrey Kargere) लिखते हैं कि ओरा में होने वाला रंग मित्रता, प्रेम, स्वस्थता और शक्ति का; सुनहरा पीला उच्च प्रज्ञा का; नीला आध्यात्मिक और धार्मिक मनोवृत्ति का; नारंगी बुद्धि और न्याय का; हरा सहानुभूति, परोपकारिता, दयालुता का प्रतीक होता है। इसी तरह आभामण्डल में उभरने वाला स्लेटी भय और ईर्ष्या का, काला अभाव का तथा सफेद रंग आध्यात्मिक पूर्णता का सूचक होता है।

ऑडरे कारगेरे ने भी फेबर बिरेन को उद्धृत करते हुए आभामण्डल के आधार पर व्यक्तित्व के तीन स्तर प्रस्तुत किए हैं –

1. असभ्य व्यक्ति के आभामण्डल से निकलने वाली विकिरणें धुंधली-पीली, स्लेटी मिश्रित-नीली धुंधली नारंगी और भूरी लाल रंग की होती हैं। ये किरणें अस्त-व्यस्त और धब्बेदार दिखती हैं।
2. सभ्य व्यक्ति के आभामण्डल में उच्च-स्तरीय किरणें होती हैं। उसके आभामण्डल में पीला रंग, शुद्ध लाल और साफ नीला रंग अधिक होता है। संवेगात्मक स्थिति में ओरा काला तथा लाल रंग क्रोध के समय विकिरित होता है। भय की अवस्था में धुंधला स्लेटी रंग होता है। भक्ति के समय नीला रंग निकलता है।
3. अतिमानव का ओरा शानदार तथा सूर्यास्त के रंग जैसा होता है। उसके सिर के चारों ओर पीले रंग की तेज किरणों का वलय होता है।[1]

जैन दर्शन में लेश्या के आधार पर आभामण्डल के छः प्रकार बन जाते हैं, क्योंकि लेश्या के छः वर्ण निर्धारित हैं और इन्हीं वर्णों के साथ मनुष्य के विचार और भाव बनते हैं, चरित्र निर्मित होता है।

वर्ण और भाव परस्पर प्रभावक तत्त्व हैं। वर्ण की विशदता और अविशदता के आधार पर भावों की प्रशस्तता और अप्रशस्तता निर्मित होती है। हम भावधारा को साक्षात् देख नहीं पाते, इसलिए व्यक्ति के आभामण्डल में उभरने वाले रंगों को देखकर भावों को जानते हैं।

वर्ण : व्यक्तित्व की गुणात्मक पहचान

आभामण्डल में काले रंग (कृष्ण) की प्रधानता हो तो मानना चाहिए कि व्यक्ति का दृष्टिकोण सम्यक् नहीं है, आकांक्षा प्रबल है, प्रमाद प्रचुर है, कषाय का आवेग प्रबल और प्रवृत्ति अशुभ है, मन-वचन और काया का संयम नहीं है, इन्द्रियों पर विजय प्राप्त नहीं है, प्रकृति क्षुद्र है, बिना विचारे काम करता है, क्रूर है और हिंसा में रस लेता है।

आभामण्डल में नील वर्ण की प्रधानता हो तो माना जा सकता है – व्यक्ति में ईर्ष्या, कदाग्रह, माया, निर्लज्जता, आसक्ति, प्रद्वेष, शठता, प्रमाद, यशलोलुपता, सुख की गवेषणा, प्रकृति की क्षुद्रता, बिना विचारे काम करना, अतपस्विता, अविद्या, हिंसा में प्रवृत्ति – इस प्रकार की भावधारा और प्रवृत्ति है।

आभामण्डल में कापोत वर्ण की प्रधानता हो तो माना जा सकता है – व्यक्ति में वाणी की वक्रता, आचरण की वक्रता, प्रवंचना, अपने दोषों को छिपाने की प्रवृत्ति, मखौल करना, दुष्ट वचन बोलना, चोरी करना, मात्सर्य, मिथ्यादृष्टि – इस प्रकार की भावधारा और प्रवृत्ति है।

आभामण्डल में रक्त वर्ण की प्रधानता हो तो माना जा सकता है – व्यक्ति नम्र व्यवहार करने वाला, अचपल, ऋजु, कुतूहल न करने वाला, विनयी, जितेन्द्रिय, मानसिक समाधि वाला, तपस्वी, धर्म में दृढ़ आस्था रखने वाला, पापभीरु और मुक्ति की गवेषणा करने वाला है।

---

1. Audrey Kargere, Colour and Personality, p. 1-3

आभामण्डल में पीतवर्ण की प्रधानता हो तो माना जा सकता है कि वह व्यक्ति अल्प क्रोध, मान, माया और लोभ वाला, प्रशान्त चित्त वाला, समाधिस्थ, अल्पभाषी, जितेन्द्रिय और आत्म संयम करने वाला है।

आभामण्डल में श्वेत वर्ण की प्रधानता हो तो माना जा सकता है – वह व्यक्ति प्रशान्त चित्त वाला, जितेन्द्रिय, मन, वचन और काया का संयम करने वाला, शुद्ध आचरण से सम्पन्न, ध्यानलीन और आत्म संयम करने वाला है।

क्या आभामण्डल दृश्य है ?

यद्यपि विज्ञान के विश्लेषण व अध्ययन ने इस बात की पुष्टि की है कि आभामण्डल से निकलने वाली रश्मियों को प्रिज्म के माध्यम से या नंगी आंखों से नहीं देखा जा सकता। इसका वैज्ञानिक कारण बताया कि आभामण्डल के रंग सौर स्पेक्ट्रम के सामान्य रंगों की भांति नहीं होते हैं। सौर स्पेक्ट्रम के पराबैंगनी किरणों को जिनकी तरंगदीर्घता बहुत कम होती है, मुश्किल से ही देखा जाता है। आभामण्डल के रंग की तरंगदीर्घता तो उनसे भी कई गुणा कम होती है, इसीलिये इन्हें सामान्य दृष्टि द्वारा नहीं देखा जा सकता। इसे विशेष अन्तर्दृष्टि प्राप्त महापुरुष ही देख सकते हैं। शताब्दियों तक यही माना जाता रहा कि आभामण्डल को सिर्फ अन्तर्द्रष्टा ही देख सकते हैं।

धार्मिक एवं रहस्यवादी परम्परा में और आज के वैज्ञानिक युग की अवधारणा के बीच काफी दूरी रही है। रूस के प्रो. किर्लियान ने अन्वेषण कर यह सिद्धान्त दिया कि ओरा को उपकरणों के माध्यम से भौतिक आंखों द्वारा भी देखा जा सकता है।

इस संबंध में बाल्टर जॉन किलनर, जो 1869 में लंदन के सेंट थामस अस्पताल में फिजिशियन और सर्जन थे, उन्होंने प्रयोगों द्वारा यह सिद्ध किया कि स्क्रीन से किसी व्यक्ति का परीक्षण किया जाता है तो उसके सिर, हाथों के चारों ओर एक हल्की-सी स्लेटी रंग की धुंध दिखाई देती है। यदि स्क्रीन हटा भी दी जाए तो बाद में कुछ क्षण तक यह धुंध दिखाई देती है।[1]

उन्होंने यह भी बताया कि मनुष्य में कभी-कभी दो या तीन आभामण्डल भी दिखाई दे सकते हैं। एक शरीर के पास लकीर की भांति होता है जो कि त्वचा से लगभग पौन इंच तक फैला रहता है। दूसरा कुछ चौड़ा परन्तु बिना किसी निश्चित आकृति वाला लगभग दो या तीन इंच चौड़ा होता है और इससे परे तीसरा ओरा जो लगभग 6 इंच तक का हो सकता है। बहुत सूक्ष्मता से देखने पर ज्ञात होता है कि शरीर और प्रथम आभामण्डल के बीच होने वाले खाली स्थान को उन्होंने इथरीक डबल (Etheric double) के नाम से पहचाना। यह शरीर एवं आभामण्डल के मध्य विभाजक का कार्य करता है।

---

1. Walter J. Kilner, The Human Atmosphere, An Exhaustive Survey Compiled by Health Research, Colour Healing, p. 80

मद्रास के गवर्नमेंट जनरल अस्पताल के इंस्टीट्यूट ऑफ न्यूरोलॉजी के डॉ. पी. नरेन्द्रन के नेतृत्व में डॉक्टरों के एक दल ने किर्लियान फोटोग्राफी की तकनीक को विकसित कर आभामण्डल के फोटो लेने के उपकरण का आविष्कार किया। डॉ. नरेन्द्रन का कहना है कि जीवित प्राणी में से निकलने वाला आभामण्डल न तो उष्मा है और न ध्वनि, वह एक प्रकार की तरंगों के रूप में होता है। स्वस्थ-अस्वस्थ, मृत-जीवित, सजीव-निर्जीव वस्तुओं के आभामण्डल में निश्चय ही विभिन्नताएं होती हैं।

डॉ. नरेन्द्रन के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति के पास अन्त:दर्शन की शक्ति है और यदि उसे विकसित किया जा सके तो मनुष्य जाति के लिये वह अनेक प्रकार से उपयोगी सिद्ध हो सकता है।[1]

ओरा के वैज्ञानिक परीक्षणों के बाद यह बात तो निश्चित हो चुकी है कि स्वस्थ व्यक्ति में शरीर के सभी स्तरों पर आभामण्डल की विकिरणें सीधे कोण पर निकलती हैं। अस्वस्थ व्यक्ति के बीमारी, थकावट या संवेगात्मक तनाव की स्थिति में ओरा पर प्रकाश रुक जाता है और उसी स्थान पर रोग के चिह्न उभर आते हैं। आभामण्डल के रंग व्यक्तित्व को बताने वाले हैं तो बाहर से गृहीत रंगीन परमाणु आभामण्डल को प्रभावित करते हैं।

रंग मनोविज्ञान व्यक्तित्व विश्लेषण में रंगों के गुणात्मक तथ्यों पर विशेष शोध कर रहा है कि रंगों की छवियां बदलकर कैसे व्यक्तित्व रूपान्तरण किया जा सके ? शारीरिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक तनावों से मनुष्य को कैसे मुक्त रखा जा सके ? प्राणी के भाव जगत से जुड़े अच्छे-बुरे रंगों की सूक्ष्म व्याख्या सदियों पूर्व जैन आगम ग्रन्थों में लेश्या सिद्धान्त के अन्तर्गत की गई।

लेश्या सम्प्रत्यय अन्त:करण की सही सूचना का मानक है। आत्मविशुद्धि की दृष्टि से आत्मशोधन की प्रक्रिया से गुजरना भी अत्यावश्यक है। अत: सर्वप्रथम अशुभ से शुभ लेश्या में आना मंजिल की शुरूआत माना जा सकता है। इसी दृष्टि से लेश्या/आभामण्डल के लिए जैनाचार्यों ने ध्यान का उपक्रम[2] प्रस्तुत किया। लेश्या में परिवर्तन संभाव्य बतलाया, क्योंकि लेश्या कारण नहीं, कार्य है। रंग मनोविज्ञान ने भी इसी सिद्धान्त को दुहराया। अत: लेश्याविशुद्धि के सन्दर्भ में आभामण्डल की चर्चा एक सार्थक प्रयत्न है। •

1. प्रेक्षाध्यान : लेश्याध्यान, पृ. 22-26; 2. देखें – "लेश्या और ध्यान" अध्याय में।

पंचम अध्याय

व्यक्तित्व और लेश्या

* व्यक्तित्व की परिभाषा
* व्यक्तित्व निर्माण के घटक : निमित्त और उपादान
* वंशानुक्रम
* वातावरण/परिवेश
* शरीर रचना – संहनन, संस्थान
* नाड़ी ग्रन्थि संस्थान
* शरीर रसायन
* व्यक्तित्व प्रकार

पंचम अध्याय

व्यक्तित्व और लेश्या

किसी व्यक्ति विशेष को जानने के लिए उसके व्यक्तित्व की समग्रता जाननी जरूरी है। हर व्यक्ति की अपनी वैयक्तिक विशिष्टता और अनन्यता है। कोई दो व्यक्ति एक जैसे नहीं होते। व्यक्तित्व व्यक्ति की मात्र अभिव्यक्ति नहीं है, एक समग्र प्रक्रिया है।

व्युत्पत्ति की दृष्टि से अंग्रेजी भाषा में व्यक्तित्व (Personality) शब्द का निर्माण लैटिन के पर्सोना (Persona) शब्द से हुआ है। इसका प्रयोग नाटकीय पोशाक तथा मुखौटे के लिए किया जाता था। इन्हें पहन कर अभिनेता मंच पर विभिन्न अभिनय किया करते थे। इस अर्थ में पर्सनेलिटि से तात्पर्य आन्तरिक व्यक्ति के बाहरी मुखौटे से था। दूसरे शब्दों में कहें तो आन्तरिक चेतना ही चरित्र संबंधी विशेषताओं का मूल केन्द्र है। व्यवहार में उसकी अभिव्यक्ति होती है। इसलिए व्यक्तित्व का अध्ययन करते समय चेतना के बाहरी और भीतरी दोनों स्तरों का विश्लेषण आवश्यक है।

जैन-दर्शन द्रव्य लेश्या के आधार पर बाहरी व्यक्तित्व की और भाव लेश्या के आधार पर आन्तरिक व्यक्तित्व की व्याख्या करता है। मनोविज्ञान की शब्दावली में यह तथ्य इस प्रकार प्रतिपादित हुआ है कि व्यक्तित्व मनोदैहिक गुणों का गत्यात्मक संगठन है।

संसार में दो तत्त्व हैं – जड़ और चेतन। दोनों का संयोग है – जीव। जीव की लाक्षणिक परिभाषा में जैन-दर्शन ने दस संस्थानों का उल्लेख किया है जिसमें गति, इन्द्रिय, कषाय, लेश्या, योग, उपयोग, ज्ञान, दर्शन, चरित्र, वेद होता है, वह जीव है।[1] जिसमें ये नहीं होते हैं, वह अजीव है। प्राणी और पदार्थ के बीच यही भेदरेखा है।

कौन व्यक्ति कैसा है, इसकी व्याख्या बिना लेश्या के संभव नहीं है, क्योंकि प्रतिक्षण चित्त की पर्यायें बदलती हैं। देश, काल, परिस्थिति के साथ बदलता मनुष्य कभी ईर्ष्यालु, छिद्रान्वेषी, स्वार्थी, हिंसक, प्रवंचक, मिथ्यादृष्टि के रूप में सामने आता है, तो कभी विनम्र, गुणग्राही, अहिंसक, उदार, जितेन्द्रिय और तपस्वी के रूप में। प्रश्न उभरता है कि आखिर इतना वैविध्य क्यों?

जैन-दर्शन चित्त के बदलते भूगोल को सम्यग् जानने के लिए और मनुष्य के बाह्य तथा भीतरी चेतना के स्तर पर घटित होने वाले व्यवहारों को समझने के लिए लेश्या का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करता है।

---

1. ठाणं 10/18

लेश्या की तरह आधुनिक मनोविज्ञान व्यक्तित्व के मनोदैहिक गुणों की व्याख्या करता है, जबकि इससे पूर्व सभी आत्मवादी दर्शनों ने व्यक्तित्व को चेतना मानकर उसके गुणों को व्याख्यायित किया है।

व्यक्तित्व की परिभाषा

व्यक्तित्व की पहचान के सन्दर्भ में मनोविज्ञान में कई दृष्टियों से इसे परिभाषित किया गया है। कुछ मनोवैज्ञानिकों ने व्यक्ति के जैविक एवं मनोवैज्ञानिक प्रवृत्तियों के समुच्चय पर बल दिया है। इस संग्राही व्याख्या के अन्तर्गत मार्टन प्रिंस ने कहा – ''व्यक्तित्व व्यक्ति के सभी जैवकीय आन्तरिक विन्यासों, आवेगों, प्रवृत्तियों, बुभुक्षाओं, मूलप्रवृत्तियों तथा अर्जित विन्यासों और प्रवृत्तियों का योग है।''[1]

समाकलनात्मक दृष्टि से व्यक्तित्व केवल विभिन्न प्रवृत्तियों का जोड़ ही नहीं, उसमें निहित संगठन एवं समाकलन की विशेषता होती है जो किसी व्यक्ति की विशेषता और अनन्यता का प्रतीक है। इस सन्दर्भ में कोटिन्सकी का कहना है – ''व्यक्तित्व चिन्तन करते हुए, अनुभव करते हुए और क्रिया करते हुए मानव प्राणी है जो कि अधिकतर अपने को अन्य व्यक्तियों और वस्तुओं से पृथक् एक व्यक्ति समझता है। मानव प्राणी व्यक्तित्व रखता नहीं, वह स्वयं एक व्यक्तित्व होता है।''

गुणात्मक विकास की श्रेणी आरोहण के सन्दर्भ में व्यक्तित्व को सोपानों के माध्यम से समझा गया। विलियम जेम्स ने व्यक्तित्व यानी स्व के चार सोपान माने हैं – भौतिक, सामाजिक, आध्यात्मिक, शुद्ध अहं। महर्षि अरविन्द ने विकास-क्रम में भौतिक, प्राणिक, भावात्मक, बौद्धिक, चैत्य, आध्यात्मिक और अतिमानसिक सोपानों का उल्लेख किया है। उपनिषद् काल के दार्शनिकों ने अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय पुरुष के रूप में आत्मा के ऊर्ध्वारोहण का क्रम दिया है। जैन-दर्शन में गुणस्थानों के क्रमिक ऊर्ध्वारोहण के सन्दर्भ में लेश्या की व्याख्या महत्त्वपूर्ण है।

आधुनिक जैविकी के प्रभाव के फलस्वरूप मनोवैज्ञानिक व्यक्तित्व के अध्ययन एवं व्याख्या में समायोजन को महत्वपूर्ण मानते हैं। इस वर्ग की व्याख्या में जी. डब्ल्यू. ऑलपोर्ट की प्रसिद्ध एवं प्रतिनिधि परिभाषा स्वीकृत है। उनके शब्दों में – ''व्यक्तित्व व्यक्ति की उन मनोशारीरिक पद्धतियों का वह आन्तरिक गत्यात्मक संगठन है जो कि पर्यावरण में उसके अनन्य समायोजन को निर्धारित करता है।''[2]

इन परिभाषाओं के सन्दर्भ में जैन-दर्शन की अवधारणा के अनुसार लेश्या से जुड़े व्यक्तित्व की मनोवैज्ञानिक व्याख्या की जा सकती है।

1. संग्राही परिभाषा के अनुसार कहा जा सकता है कि व्यक्तित्व शुभ-अशुभ संस्कारों का संचयकोष है। जब तक उसमें योग की प्रवृत्ति है और कषाय जैसे संवेगों की

---

1. Morton Prince : The Unconscious, p. 53
2. G. W. Allport, Personality : A Psychological interpretation, p. 48

उत्प्रेरणा है, व्यक्ति में कामवासनाएं, आवेग, मनोवृत्तियां, संज्ञाएं सभी संगृहीत रहते हैं।

2. समाकलनात्मक परिभाषा के अनुसार लेश्या के आधार पर बनने वाला हर व्यक्तित्व स्वयं में एक इकाई है। वह कभी किसी जैसा नहीं होता। उसकी अनन्यता और गुणात्मक विशेषता उसके आत्मविकास की सूचक बनती है।
3. सोपानित परिभाषा के अनुसार जैन आगमों में व्यक्तित्व को कषाय की तीव्रता और मन्दता के आधार पर कृष्णलेशी, नीललेशी, कापोतलेशी, पद्मलेशी, तेजोलेशी, शुक्ललेशी – इन छह वर्गों में बांटा गया है।
4. समायोजित परिभाषा के अनुसार जैन-दर्शन व्यक्तित्व विकास में समायोजन की गुणात्मकता जरूरी समझता है। जो व्यक्ति परिस्थितियों के साथ समायोजन करना जानता है अथवा परिस्थितियों को बदलना जानता है, वही परिपक्व व्यक्तित्व का धनी है। एक कृष्णलेशी समायोजन द्वारा शुभलेशी बन सकता है। शुभ लेश्याओं के जागृत होने पर मनुष्य की भावशुद्धि होती है, आचरण पवित्र होता है और उसमें समता, सन्तुलन, धैर्य जैसे गुणों का अवतरण होता है। तैजसलेश्या, पद्मलेश्या और शुक्ललेश्या के साथ जुड़ा व्यक्तित्व इसी श्रेणी में आता है।

व्यक्तित्व निर्माण के घटक : निमित्त और उपादान

कार्यकारण की मीमांसा में निमित्त और उपादान दोनों पर विस्तार से विमर्श किया गया है। बिना उपादान कार्य सम्पन्नता बिना बीज की फसल जैसी निराधार परिकल्पना है। अत: उपादान आवश्यक है। पर इसके साथ निमित्तों की भी अपनी विशिष्ट भूमिका है। व्यक्तित्व के निर्माण, वृद्धि और विकास के सन्दर्भ में मनोविज्ञान कई कारकों की चर्चा करता है, जिनमें प्रमुख ये हैं – 1. वंशानुक्रम 2. परिवेश/वातावरण 3. शरीर रचना 4. नाड़ी-ग्रंथि संस्थान 5. शरीर रसायन। जैन-दर्शन के अनुसार व्यक्तित्व का मूल स्रोत कार्मण शरीर है पर बाह्य स्तर पर और भी कई दूसरे निमित्त हैं जिनका सहयोग आवश्यक है।

वंशानुक्रम

मनोविज्ञान में वैयक्तिक भिन्नता का अध्ययन आनुवंशिकता तथा परिवेश के आधार पर किया जाता है। जीवन का प्रारम्भ माता के डिम्ब और पिता के शुक्राणु के संयोग से होता है। व्यक्ति के आनुवंशिक गुणों का निश्चय क्रोमोजोम द्वारा होता है। क्रोमोजोम अनेक जीन्स का एक समुच्चय है। ये जीन्स ही माता-पिता के आनुवंशिक गुणों के संवाहक हैं। इन्हीं में व्यक्ति की शारीरिक व मानसिक क्षमताएं संनिहित होती हैं। ऐसी कोई भी क्षमता प्रकट नहीं हो सकती है जो जीन्स में न हो।

जैन ग्रन्थों में उल्लेख मिलता है कि सन्तान के शरीर में मांस, रक्त और मस्तुलुंग (भेजा) – ये तीन अंग माता के और हाड़, मज्जा, केश-दाढ़ी, रोम, नख आदि पिता के

होते हैं।[1] आनुवंशिकता के अतिरिक्त दो जुड़वां भाइयों की साम्यता के विषय में जैन-दर्शन जिस एक महत्त्वपूर्ण बिन्दु की ओर संकेत करता है, वह है वर्गणाओं का साम्य।

वातावरण/परिवेश

वंशानुक्रम और पर्यावरण दोनों मनुष्य के जीवन को अत्यधिक प्रभावित करने वाले तत्त्व हैं। वातावरण के अन्तर्गत वे सारी नैतिक, सामाजिक, शारीरिक तथा बौद्धिक परिस्थितियां आती हैं जो व्यक्ति के जीवन पर अपना प्रभाव डालती हैं। वंशानुक्रम उन सभी गुणों का योग है जिन्हें बालक जन्म से ही लेकर आता है। ये पित्रागत गुण व्यक्ति को कुछ निश्चित विशेषतायें प्रदान करते हैं किन्तु उन्हें परिमार्जित और रूपान्तरित कर एक विशेष एवं उपयुक्त सांचे में ढालना पर्यावरण का ही कार्य है। अत: मात्र वंशानुक्रम व्यक्तित्व का निर्धारक तत्त्व नहीं हो सकता, क्योंकि आगम में कहा गया है कि प्राणी जब मां के गर्भ में आता है तब दोनों की लेश्याएं एक जैसी नहीं होतीं। कृष्णलेशी मां के गर्भ में पद्म, तेज, शुक्ललेशी पवित्र आत्मा भी जन्म धारण कर सकती है।[2] संतान पर द्रव्यरूप में शारीरिक दृष्टि से अवश्य मां-बाप का प्रभाव पड़ता है पर भावरूप में उसके शरीर की रचना कर्माश्रित है। नामकर्म के उदयानुसार प्रत्येक प्राणी को शरीर का सौष्ठव, रूप, रंग, स्वर आदि उपलब्ध होते हैं।

मनोविज्ञान की भाषा में कहा गया है कि मनुष्य "क्या कर सकता है" यह आनुवंशिकता से निश्चित होता है और मनुष्य "क्या करता है" यह परिवेश निश्चित करता है। मनुष्य की शक्तियां आनुवंशिकता में होती हैं। इन शक्तियों को बाहर निकालना परिवेश का कार्य है। एक का प्रभाव दूसरे से न्यून या अधिक कहना व्यर्थ है।

जैन आगमों ने भी परिवेश को प्रभावक तत्त्व माना है। वह क्षेत्र और काल के नाम से इसे अभिव्यक्त करता है। वह जन्म से पूर्व गर्भकाल में ही इसके प्रभाव को स्वीकार करता है। भगवती सूत्र में उल्लेख मिलता है कि किसी-किसी गर्भगत जीव में वैक्रिय शक्ति होती है। वह शत्रु-सैन्य को देखकर विविध रूप बनाकर उससे लड़ता है। उसमें अर्थ, राज्यभोग और काम की प्रबल आकांक्षा उत्पन्न होती है। कोई-कोई जीव तो धार्मिक रुचि वाला होने से प्रवचन सुनकर ही विरक्त हो जाता है।[3]

बहुत-सी पुद्गल वर्गणाएं क्षेत्र विपाकी होती हैं। इसलिए कर्मफल का विपाक वातावरण के अनुसार होता है। प्रज्ञापना में लिखा है कि नारकीय जीवों के दर्शनावरणीय कर्म का उदय है, इसलिए उन्हें नींद आनी चाहिए। पर ऐसा होता नहीं है, क्योंकि वहां के पुद्गल इतने सघन और पीड़क हैं कि नींद लेने योग्य वातावरण ही निर्मित नहीं हो पाता। यह मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि यदि वातावरण शांत है तो तनाव से ग्रस्त, बुझा-बुझा मन वाला भी वहां आकर प्रसन्न और स्वस्थ हो जाता है। तीर्थंकरों के समवसरण में जन्मजात विरोधी पशु-पक्षी भी एक साथ प्रवचन सुनते हैं। उनकी मनोवृत्ति के बदलाव का मुख्य हेतु वहां

---

1. भगवती 1/350, 351; 2. प्रज्ञापना 17/6/67; 3. भगवती 1/356

का वातावरण ही है। वातावरण पौद्गलिक होता है। पुद्गलों का प्रभाव शरीर और मन दोनों पर पड़ता है। प्रत्येक प्राणी भिन्न-भिन्न प्रकार की वर्गणाओं को संग्रहण करता है। वर्गणाओं के वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श में अनन्त प्रकार का वैचित्र्य और तारतम्यभाव होता है। एक ही रंग, रस, गन्ध स्पर्श दो व्यक्तियों को भिन्न अनुभव देगा। इस प्रकार वातावरण सतत व्यक्ति को प्रभावित करता रहता है और व्यक्ति के भीतर छिपी विशेषताओं को अनावृत्त करने के लिए भी वह एक सशक्त सेतु है।

बहुत बार देखा गया है कि उचित पर्यावरण/परिवेश के अभाव में व्यक्तित्व का निर्माण गलत संस्कारों से प्रभावित हो जाता है। परिवेश योग्यताओं के प्रकटीकरण की प्रक्रिया है, मगर इसे मूल कारण नहीं माना जा सकता। अनेक बार ऐसा भी देखने में आता है कि उपादान की श्रेष्ठता निमित्तों को अप्रभावी बना देती है।

वंशानुक्रम और परिवेश के आधार पर व्यक्तित्व को समझने का प्रयास समग्र नहीं कहा जा सकता, क्योंकि कोई भी वंशानुक्रम व्यक्ति के पूर्व चरित्र एवं कर्मों से अप्रभावित नहीं है। उपलब्ध वंशानुक्रम के कारण की व्याख्या में हमारे सामने कर्म सिद्धान्त महत्त्वपूर्ण है।

विज्ञान की दृष्टि से जीवन का प्रारम्भ माता-पिता के डिम्ब व शुक्राणु के संयोग से होता है किन्तु कर्मशास्त्रीय दृष्टि से जीव का प्रारम्भ उनसे नहीं होता। मनोविज्ञान के क्षेत्र में जीवन और जीव का भेद अभी स्पष्ट नहीं है। कर्मशास्त्रीय अध्ययन में जीव और जीवन का भेद बहुत स्पष्ट है। इसलिए प्राणिक विलक्षणता के कुछ प्रश्नों का उत्तर जीवन में खोजा जाता है और कुछ प्रश्नों का उत्तर जीव में। आनुवंशिकता का संबंध जीवन से है। कर्म का संबंध जीव से है। एक जीव में अनेक जन्मों से संचित संस्कार होते हैं। अतः वैयक्तिक विलक्षणता का आधार जीवन नहीं, जीव है।

शरीर रचना

जैन-दर्शन आत्मा को शरीर से सर्वथा भिन्न नहीं मानता। संसार दशा में दोनों का परस्पर गहरा संबंध है। आत्मा की परिणति का शरीर पर और शरीर की परिणति का आत्मा पर प्रभाव पड़ता है। चेतना विकास के अनुरूप शरीर की रचना होती है और शरीर रचना के अनुरूप चेतना की प्रवृत्ति होती है। शरीर निर्माण काल में आत्मा उसका निमित्त बनती है और ज्ञानकाल में शरीर के ज्ञानतंतु चेतना के सहायक बनते हैं।

आगम कहता है कि जीव जिस लेश्या के द्रव्य ग्रहण करता है, उसके आत्म परिणाम भी उसी लेश्या के हो जाते हैं। इस तथ्य से व्यक्तित्व के परिप्रेक्ष्य में एक नई दृष्टि मिलती है। बाह्य शरीर संरचना और उसके द्वारा गृहीत पुद्गलों का भी हमारे भावात्मक स्तर पर प्रभाव पड़ता है। जैन-दर्शन में शरीर-संगठन, आकार-प्रकार को व्यक्तित्व के सन्दर्भ में विशेष महत्त्व दिया गया है। इसके लिए दो शब्द प्रचलित हैं – संहनन, संस्थान।

प्राणी के शरीर की संरचना, रूप-रंग, संगठन शक्ति, स्त्री-पुरुष आदि सभी नाम कर्म के कारण बनते हैं। नाम कर्म का संबंध लेश्या तत्व से भी जुड़ा है। प्राणी का भाव जगत जहां भाव लेश्या से संबंध रखता है, वहां बाहरी जगत यानी शरीर की पौद्गलिक अवस्था

द्रव्यलेश्या से सम्बन्धित है। द्रव्यलेश्या की शुभता के आधार पर ही व्यक्तित्व का सौष्ठव निर्धारित होता है।

संहनन का संबंध शरीर-संरचना से, विशेषत: अस्थि जोड़ों की सुदृढ़ता से है, जबकि संस्थान का संबंध शरीर के आकार-प्रकार यानी लम्बाई, चौड़ाई और मोटाई से है।

संहनन हड्डियों की रचना विशेष को कहा गया है। स्थानांग सूत्र में संहनन के छ: प्रकार बतलाये हैं – 1. वज्रऋषभ नाराच संहनन 2. ऋषभनाराच संहनन 3. अर्धनाराच संहनन 4. नाराच संहनन 5. कीलिका संहनन 6. सेवार्त संहनन।[1]

देव और नरक गति के जीव वैक्रिय शरीर वाले होने के कारण उनमें हाड़-मांस आदि सप्त धातुएं नहीं होतीं, अत: वहां अस्थि संरचना का प्रश्न ही नहीं उठता।

पृथ्वीकाय से लेकर समूर्च्छिम तिर्यंच पंचेन्द्रिय तक के जीव सेवार्त संहनन वाले होते हैं। मनुष्य और तिर्यंच गति में उत्पन्न होने वाले जीवों के औदारिक शरीर होता है। औदारिक शरीर हाड़-मांस आदि धातुओं का बना होता है। अत: छह संहनन इसी शरीर में प्राप्त होते हैं।

संस्थान का अर्थ आकृति है। प्रस्तुत प्रसंग में इसका अर्थ है – अवयवों की रचना। स्थानांग सूत्र में संस्थान के भी छह प्रकार बतलाए हैं –

1. समचतुरस्त्र 2. न्यग्रोधपरिमण्डल 3. सादि 4. कुब्ज 5. वामन 6. हुण्ड।[2] सात नारकी, पांच स्थावर, तीन विकलेन्द्रिय, असन्नी तिर्यंच और मनुष्य में एक हुण्डक संस्थान होता है। देव, यौगलिक मनुष्य तथा तिरेसठ श्लाकापुरुषों का संस्थान समचतुरस्त्र होता है। संज्ञी मनुष्य और संज्ञी तिर्यञ्च में छह संस्थान संभव हैं।

जैनाचार्यों ने व्यक्तित्व के सन्दर्भ में संस्थान-आकार-प्रकार को आध्यात्मिक दृष्टि से विशेष महत्त्व नहीं दिया, क्योंकि उनकी दृष्टि में छह संस्थान वाले जीवन-मुक्ति पा सकते हैं, किन्तु उन्होंने संहनन की बात पर विशेष बल दिया। सुदृढ़ शरीर के द्वारा ही साधनाकाल में उपस्थित होने वाले विघ्नों को अविचलित भाव से सहा जा सकता है।

व्यक्ति का संस्थान कैसा भी हो, वह मोक्ष प्राप्त कर सकता है पर संहनन यानी अस्थिसंरचना की दृष्टि से केवल वज्रऋषभनाराच संहनन वाला जीव ही मोक्ष प्राप्त कर सकता है। इस अर्थ में संहनन का महत्व व्यक्तित्व के आत्मिक विकास की दृष्टि से विशेष अर्थ रखता है। प्रथम गुणस्थान से सातवें गुणस्थान तक के आध्यात्मिक विकास का सामर्थ्य सभी प्रकार के संहनन वाले मनुष्यों में होता है। किन्तु इससे आगे क्षायिक श्रेणी में आरोहण करने के लिए वज्रऋषभनाराच संहनन अनिवार्य है। यद्यपि उपशम श्रेणी से आगे बढ़ने वाले जीव प्रथम तीनों संहनन वाले हो सकते हैं पर उनका आध्यात्मिक पतन निश्चित होता है। अत: वज्रऋषभनाराच संहनन उत्तम संहनन माना गया है। द्रव्यलेश्या की विवेचना में संहनन और संस्थान को भी विवेचित किया गया है।

---

1. ठाणं 6/30; 2. वही, 6/31

व्यवहार में देखा गया है कि सुन्दर व्यक्ति की लोग प्रशंसा करते हैं, आकर्षण में बंध जाते हैं, फलस्वरूप उनमें आत्मविश्वास, श्रेष्ठता के भाव, सुरक्षा, दायित्व आदि वांछित गुणों का विकास होता है जबकि कुरूप, विकलांग व्यक्ति स्वयं को भीतर से उदास, हतोत्साहित, हीनता से ग्रसित, उपेक्षित से मानने लगते हैं। ऐसे लोगों में निषेधात्मक भावों का प्राबल्य देखा जाता है।

संस्थान का कारण व्यक्तित्व निर्धारक नामकर्म को माना गया है, जिसके उदय से औदारिक आदि शरीरों की आकृति बनती है। द्रव्यलेश्या भी नामकर्म का उदय है। आकृति के निर्माण में शुभ-अशुभ पुद्गलों का ग्रहण द्रव्यलेश्या के अधीन है।

संहनन के साथ लेश्या का सीधा संबंध है। उत्तम संहनन वाला शुक्ल लेश्यावान होगा। ध्यान के लिए उत्तम संहनन एक अनिवार्यता मानी गई है। षट्खण्डागम की धवला टीका में लिखा है कि शुक्ल लेश्यावान ऋषभनाराच संहनन का स्वामी, क्षीणकषायी जीव की एकत्व वितर्क अविचार ध्यान का स्वामी होता है।[1]

शरीर रचना के सन्दर्भ में मनोवैज्ञानिकों ने भी व्यक्ति की चित्तवृत्ति और शारीरिक रचना देखकर उसके स्वभाव की व्याख्या करने का प्रयत्न किया है। इस सन्दर्भ में जर्मन मनोचिकित्सक क्रैशमर एवं कोलम्बिया विश्वविद्यालय के प्राध्यापक शैल्डन का नाम विशेष उल्लेखनीय है। उनके अध्ययन-निष्कर्ष यहां प्रस्तुत किए जा रहे हैं –

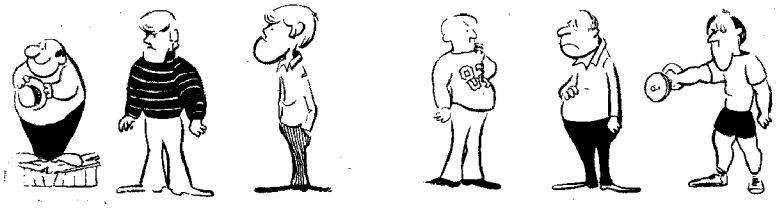

	नाम	शरीर रचना	चित्त प्रकृति
क्रैशमर (Kretchmer) शारीरिक रचना, चित्त-प्रकृति	1. एस्थेनिक (Asthenic)	दुबले-पतले, छोटे कन्धे	आत्मकेन्द्रित, भावुक, स्वप्नदर्शी, बौद्धिक, शांत, एकांतप्रिय
	2. एथलेटिक (Athletic)	कमर पतली, कन्धे चौड़े, सौष्ठव गठन	व्यवहार कुशल, सामाजिक क्रियाशील
	3. पिकनिक (Pyknic)	मोटे, पेट बाहर निकला हुआ, मुंह गोल	खुशमिजाज, मिलनसार
	4. डिस्प्लास्टिक (Dysplastic)	शारीरिक अनुपात विषम	

1. धवला 13/5, 4;26/79/12

	नाम	शरीर रचना	चित्त प्रकृति
शैल्डन (Sheldon W.H.) शरीर रचना एवं स्वभाव	1. एण्डोमार्फिक (Endomorphic)	पेट बड़ा, पाचन संबंधी विकृतियों का शिकार	1. विसेरोटोनिक (Viserotonic) आरामपसन्द, भोजनप्रेमी, प्यार पाने के इच्छुक, निद्रालु, परावलम्बी।
	2. मेसोमार्फिक (Mesomorphic)	हड्डियां सुडौल मजबूत एवं सुगठित	2. सोमेटोटोनिक (Somatotonic) कर्मठ, स्पष्ट, प्रतियोगी स्वभाव, शक्तिशाली, साहसी, अधिकार, प्रिय बुलन्द आवाज वाले।
	3. एक्टोमार्फिक (Ectomorphic)	हड्डियां लम्बी, कोमल शारीरिक बनावट, कमजोर	3. सेरीब्रोटोनिक (Cerebrotonic) संयमी, संकोची, संवेदनशील भावनाओं को दबाने वाले, एकान्तप्रिय, धीरे बोलने वाले, सुखद नींद सोने वाले

नाड़ी ग्रंथि संस्थान

अन्त:स्रावी ग्रंथि संस्थान और नाड़ी संस्थान – ये दो शरीर के प्रमुख नियंत्रक एवं संयोजक तंत्र हैं। इन दोनों तंत्रों के बीच क्रिया-कलापों का विलक्षण पारस्परिक अनुबन्ध है। दोनों मिलकर सर्वांगीण रूप से शरीर यंत्र को संचालित करते हैं। नाड़ी तंत्र और ग्रंथि तंत्र के अवयवों को एक अखण्ड तंत्र के ही अंगरूप माना जाने लगा है। इन्हें संयुक्त रूप में नाड़ी-ग्रंथि संस्थान (न्यूरो एण्डोक्राइन सिस्टम) की संज्ञा दी गई है।

अन्त:स्रावी ग्रंथि संस्थान अपने कार्यों का निष्पादन रासायनिक नियंत्रक स्रावों (हार्मोन) के माध्यम से करता है। अन्त:स्रावी ग्रन्थियां अपेक्षाकृत छोटी एवं नलिका विहीन होती हैं। इनके स्राव सीधे खून में मिलते हैं। रक्त प्रवाह के माध्यम से वे पूरे शरीर में प्रवाहित होते हैं और उत्पत्ति स्थान से सुदूर स्थानों तक अपना कार्य कर सकते हैं। स्राव के कम या अधिक मात्रा में खून में मिलने से कई तरह के शारीरिक और मानसिक परिवर्तन होते

हैं। समुचित मात्रा में स्राव निकलकर खून में मिलता है तब व्यक्तित्व सामान्य और संतुलित होता है।

प्रत्येक ग्रंथि के स्राव हमारे शरीर एवं मन को प्रभावित करते हैं। स्रावों के कार्य, स्राव के अल्पस्रवण एवं अतिस्रवण से होने वाले प्रभाव व लक्षण भी व्यक्तित्व निर्माण में भूमिका निभाते हैं।

डॉ. कॉप[1] ने प्रत्येक अन्त:स्रावी ग्रंथि की विस्तृत चर्चा करते हुए इन ग्रंथियों को विकसित करने के तरीकों की चर्चा भी की है। उनके अनुसार पीट्युटरी ग्रंथि को गहरे दीर्घ श्वास द्वारा उत्तेजित किया जा सकता है। नासिका एवं मस्तिष्क के नीचे के भाग में होने वाले रक्त संचरण के साथ इसका घनिष्ठ संबंध है। जो संगीत नासिका के निचले हिस्से एवं मस्तिष्क को प्रकम्पित करता है, वह पीट्युटरी ग्रंथि को उत्तेजित करता है। प्राण शक्ति को उत्तेजित करने के लिए पुराने लोगों में पवित्र शब्दों के उच्चारण की परम्परा भी रही है।

थाइराइड ग्रंथि संवेगों का स्थान है। इसके विकास के लिए शांति एवं संतुलन आवश्यक है। स्थिर (Static) विद्युत एवं एक्स-रे द्वारा थाइराइड के कार्य को उत्तेजित एवं नियन्त्रित किया जा सकता है। थाइराइड के स्राव द्वारा एड्रीनल ग्रंथियां प्रेरित होती हैं एवं शक्ति प्राप्त करती हैं। एड्रीनल के स्वस्थ विकास के लिए थाइराइड ग्रंथि का सामान्य होना और क्रोध और भय को नियंत्रित रखना आवश्यक है।

थाइमस एवं पीनियल ग्रंथियों के सक्रिय होने से व्यक्ति का यौवन बना रहता है। काम ग्रंथियों के सम्यग् विकास एवं कार्यक्षमता द्वारा तारुण्य सुरक्षित रह सकता है। काम की ऊर्जा को कई तरह से अभिव्यक्त किया जा सकता है, जैसे - खेल, अध्ययन, चित्रकारी, कठिन श्रम, धार्मिक उत्साह, पारिवारिक जीवन आदि। किसी भी तरह की उन्नति के लिए आवश्यक है कि व्यक्ति की शारीरिक रचना एवं शारीरिक क्रियाएं मानसिक एवं आध्यात्मिक अभिव्यक्ति की तरह पवित्र रहें। शुद्ध आत्मा शुद्ध शरीर में ज्यादा अच्छी तरह कार्य कर सकती है।

अगर शारीरिक एवं मानसिक ऊर्जा को स्वतंत्र अभिव्यक्ति का अवकाश मिलता रहे तो अन्त:स्रावी ग्रंथियों का सामान्य एवं सहज विकास होगा। सामान्य स्थितियों में ही ग्रंथियों का सामान्य विकास सम्भव है। डॉ. कॉप ने अन्त:स्रावी ग्रंथियों के आधार पर विभिन्न प्रकार के व्यक्तित्व की भी चर्चा की है।[2]

अन्त:स्रावी ग्रंथि तंत्र के क्षेत्र में पिछले वर्षों में हुई उल्लेखनीय प्रगति ने अब यह सिद्ध कर दिया है कि हमारे सारे भावावेश, भावावेग, वृत्तियां और वासनाएं हमारे अन्त:स्रावी

1. M.W. Kapp, GLANDS : Our Invisible Guardians, p. 71, 72
2. Ibid, p. 51

ग्रंथि तंत्र की ही अभिव्यक्तियां हैं। मनुष्य की जितनी आदतें बनती हैं, उनका उद्‌गम स्थान है – ग्रंथितंत्र। वृत्तियां न केवल कामनाओं को उत्पन्न करती हैं, अपितु उनकी पूर्ति के अनुरूप प्रवृत्ति के लिए व्यक्ति को बाध्य भी करती हैं।

नाड़ी तंत्र में हमारी सारी वृत्तियां अभिव्यक्त होती हैं, अनुभव में आती हैं और फिर व्यवहार में उतरती हैं। स्नायु (Neurone) नाड़ी संस्थान की मूल इकाई है। इसी में सीखना, संवेग व चिन्तन जैसी अन्य मानसिक क्रियाओं के रहस्य छिपे रहते हैं। स्नायुप्रवाहों (Nerve impulses) को निश्चित स्थान तक ले जाने एवं समन्वय स्थापित करने में यह अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका रखता है। साधारण कोशिका की अपेक्षा स्नायु की बनावट थोड़ी भिन्न होती है। रचना और कार्य भिन्नता की अपेक्षा से स्नायु तीन प्रकार के होते हैं – 1. ज्ञानवाही स्नायु 2. कर्मवाही स्नायु 3. संयोजक स्नायु।

स्नायु एवं संधिस्थल (Synapse) आदि से निर्मित नाड़ी संस्थान ही मानसिक क्रियाओं एवं व्यवहार की आधारशिला है। नाड़ी संस्थान के चार स्पष्ट कार्य हैं –

(1) संज्ञापन (Communication) –
सूचना को वातावरण से तथा शरीर के अन्दर से प्राप्त कर उसे मस्तिष्क को भेजना तथा मस्तिष्क से पुनः शरीर तक संदेश पहुंचाना।

(2) समन्वय (Co-ordination) –
शरीर के विभिन्न भागों की क्रियाओं को नियंत्रित करना ताकि व्यवहार समन्वित हो सके, न कि अलग-थलग या छोटे टुकड़ों में हो।

(3) संचयन (Storing) –
अनुभवों को संहिताबद्ध करना तथा उनका संचयन करना ताकि वह बाद में कार्य का आधार बन सके।

(4) कार्ययोजन (Programming) –
भविष्य के कार्यों की योजना बनाना। ये कार्य किस प्रकार नाड़ी संस्थान द्वारा सम्पादित होते हैं। इसे स्पष्ट जानने के लिए नाड़ी संस्थान के मुख्य भाग एवं उनके कार्यों को जान लेना भी जरूरी है :-

नाड़ी संस्थान के दो भाग हैं –

1. केन्द्रीय नाड़ी संस्थान; 2. परिधिगत नाड़ी संस्थान।

केन्द्रीय नाड़ी संस्थान के भेद, मुख्य प्रभेद एवं उसके कार्य निम्न चित्र द्वारा स्पष्ट हैं। इसमें सुषुम्ना (Spinal) का केवल ऊपरी हिस्सा ही दिखाया गया है –

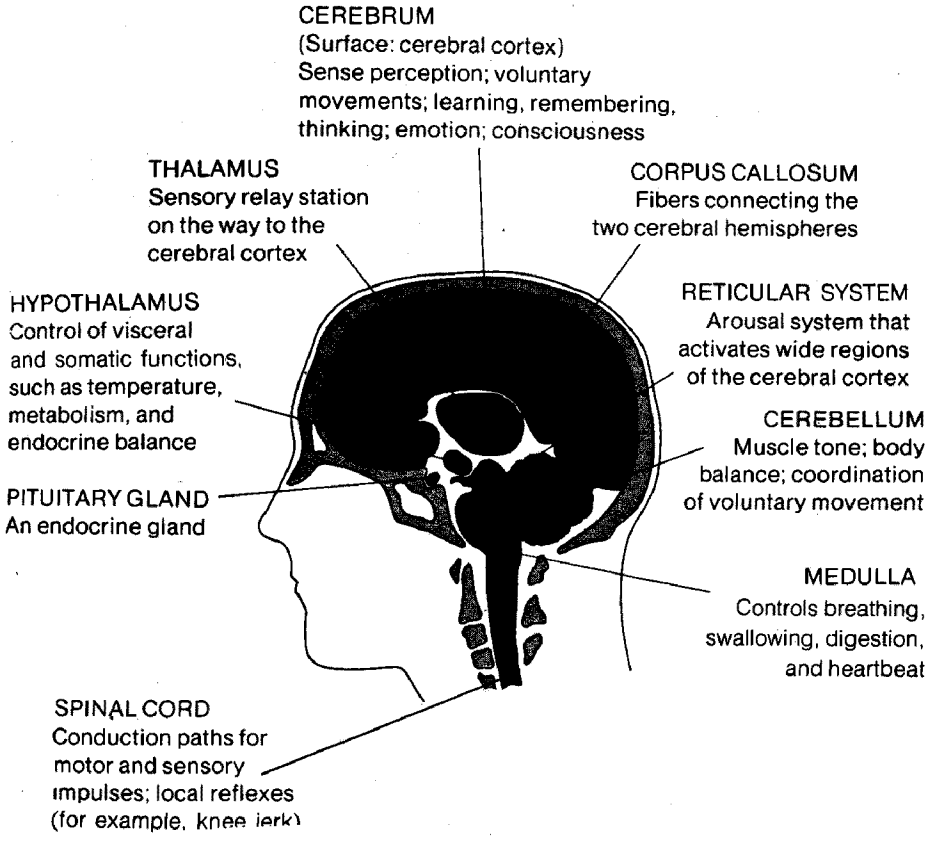

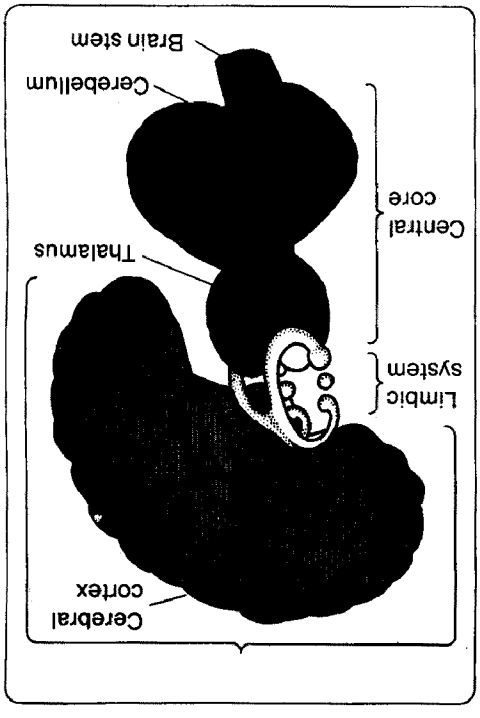

परिधिगत तंत्रिका संस्थान का शरीरगत विभाजन (Somatic Division) ऐच्छिक मांसपेशी की सक्रियता से संबंधित है। यह बहुसंख्यक तंत्रिकाओं से बनता है, जो मस्तिष्क एवं सुषुम्ना से प्रस्फुटित होकर सारे शरीर में जाली की तरह फैली हुई होती है। इस संस्थान में कपालीय (Cranial) एवं मेरुदण्डीय (Spinal) तंत्रिकाओं का समावेश होता है। ये केन्द्रीय नाड़ी संस्थान से संदेश वहन करती हैं तथा कार्यवाही नाड़ियों को संदेश भेजती हैं।

परिधिगत नाड़ी संस्थान के स्वत: संचालित विभाजन (Autonomic Division) के अन्तर्गत अनैच्छिक मांसपेशियों एवं ग्रंथियों के कार्य आते हैं।

स्वायत्त तंत्रिकाओं का नियंत्रण हाइपोथेलेमस द्वारा होता है। कार्य के आधार पर स्वत: संचालित तंत्रिका संस्थान के दो भाग हैं – अनुकम्पी तंत्र (Sympathetic System) एवं परानुकम्पी तंत्र (Para-Sympathetic System) इन दोनों तंत्रों की क्रियाएं प्राय: एक दूसरे की विरोधी होती हैं।

जब अनुकम्पी तंत्र अधिक क्रियाशील होता है तो व्यक्ति अधिक सक्रिय और संवेगात्मक हो जाता है। दूसरी ओर जब परानुकम्पी तंत्र अधिक सक्रिय होता है तो व्यक्ति सुस्त और आलस्य का अनुभव करता है। इन दोनों तंत्रों की क्रियाएं एक-दूसरे की विरोधी होते हुए भी पूरक हैं। व्यक्ति का शान्त और प्रसन्न रहना स्वत: संचालित नाड़ी संस्थान के दोनों भाग अनुकम्पी एवं परानुकम्पी की संतुलित कार्यवाही पर निर्भर करता है।

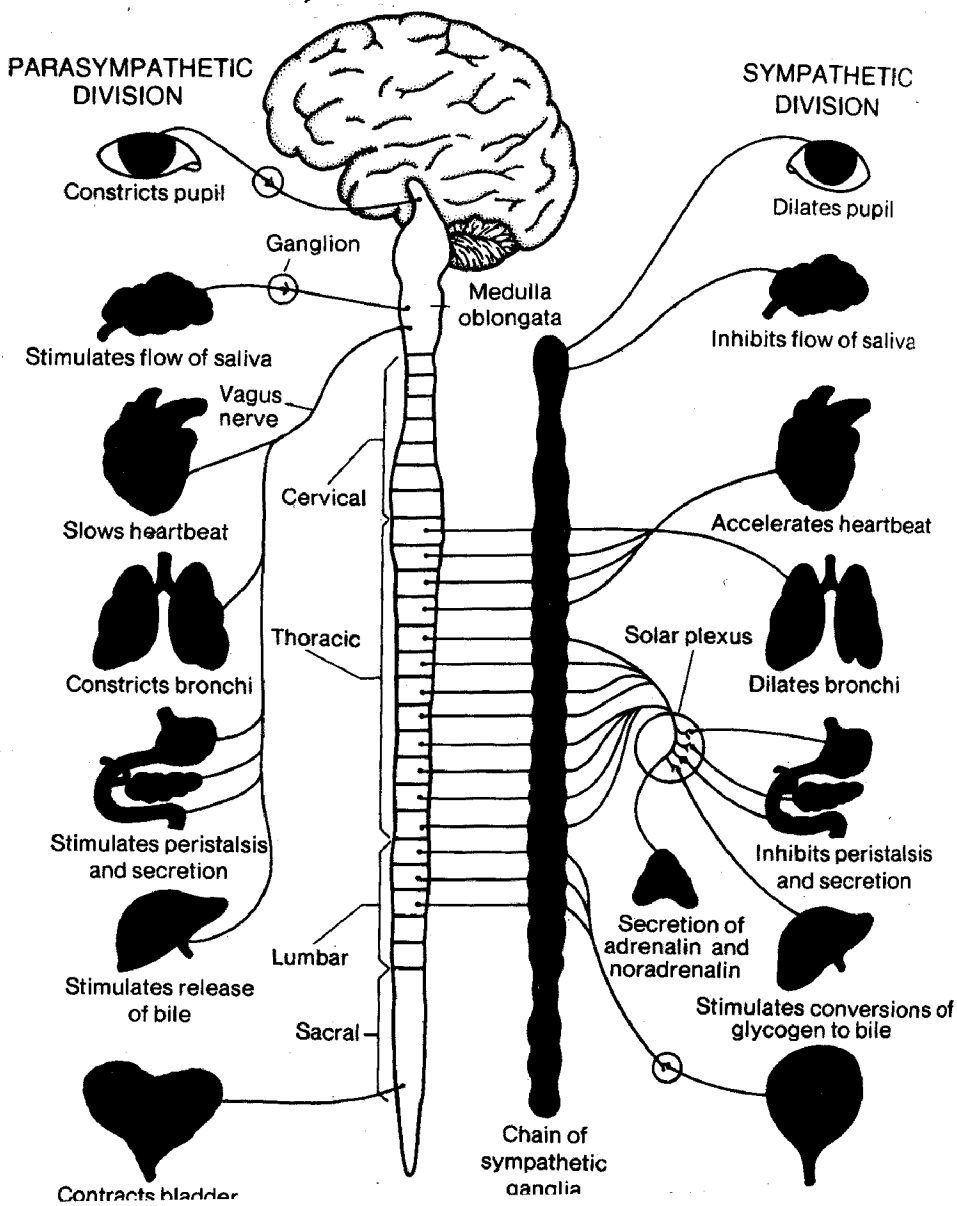

शरीर रसायन

नाड़ी ग्रंथि संस्थान और शरीर रचना के अतिरिक्त व्यक्तित्व के जैवकीय कारकों में शारीरिक रसायन का उल्लेख भी आवश्यक है। प्राचीन काल से मनुष्य स्वभाव के कारक उसके शरीर-रसायन तत्त्वों को मानता आया है।

आदतन आशावादी (Sanguin) व्यक्ति में रक्त की प्रधानता, चिड़चिड़े व्यक्ति में (Choleric) पित्त (Bile) की प्रधानता, शांत (Phlegmatic) व्यक्ति में कफ (Phlegm) की प्रधानता, उदास (Melancholic) व्यक्ति में तिल्ली (Spleen) की प्रधानता मानी गयी है। रसायनिक तत्त्वों के आधार पर व्यक्तित्व में आने वाला अंतर सभी वैज्ञानिकों ने स्वीकार किया है।

प्राचीन चिकित्साशास्त्र आयुर्वेद का अभिमत भी इस सन्दर्भ में उल्लेखनीय है। आयुर्वेद मानता है कि वात, पित्त, कफ के संतुलन-असंतुलन पर स्वस्थता/अस्वस्थता आधारित है। त्रिदोष से केवल शरीर और मन ही बीमार नहीं होता, हमारा भावपक्ष भी इससे प्रभावित होता है। जैसे –

1. वायु का प्रकोप बढ़ने पर भय अधिक लगता है।
2. पित्त का प्रकोप बढ़ने पर क्रोध बढ़ता है।
3. कफ का प्रकोप बढ़ने पर तंद्रा, आलस्य, शोक सताता है।

भाव और रसायन दोनों का परस्पर गहरा संबंध है। भावों का रसायनों पर और रसायनों का भावों पर प्रभाव पड़ता है। पित्त का प्राबल्य चित्त की चंचलता का हेतु है। जब हास्य, भय, शोक, मूर्खता, रति, तृष्णा अधिक होगी तो पित्त प्रकुपित हो जाएगा। जब मन जड़, अस्थिर, भयभीत, शून्य, विस्मृतियुक्त विभ्रमित होगा, तब वायु बढ़ेगी।[1]

उपाध्याय मेघविजयजी ने अध्यात्म चिकित्सा के सन्दर्भ में मूर्च्छा का मुख्य कारण रक्ताधिक्य और पित्त दोनों को माना है। मोहकर्म की सभी प्रकृतियों का उदय रक्ताधिक्य और पित्त के असंतुलन से होता है।

आयुर्वेद में बताये गए तीन दोषों की अध्यात्म चिकित्सा आचार्यों ने बताई।

ज्ञान वायु के प्रकोप को शांत करता है। दर्शन पित्त को और चरित्र कफ को शांत करता है। अतः धर्म अमृत तुल्य औषधि है।

लेश्या के सन्दर्भ में कहा जा सकता है कि व्यक्तित्व संरचना में वंशानुक्रम, परिवेश, नाड़ी ग्रंथि संस्थान, शरीर रसायन आदि महत्त्वपूर्ण होते हुए भी उपादान घटक के रूप में लेश्या की भूमिका विशेष अर्थ रखती है।

---

1. अर्हद् गीता 14/4, 14/7, 6/15

यह तथ्य स्पष्ट है कि व्यक्तित्व निर्माण में बाह्य निमित्तों की अनुकूलता या प्रतिकूलता उतना महत्त्व नहीं रखती, जितना उपादान कारण के रूप में भीतरी चेतना की शुद्धता या मलिनता महत्त्व रखती है।

व्यवहार की भूमिका पर लेश्या की शुभता-अशुभता के आधार पर ही हम व्यक्तित्व के प्रकार निर्धारित कर सकते हैं।

व्यक्तित्व प्रकार

व्यक्तित्व विभिन्न गुणों की समष्टि का नाम है। इसे प्रकारों में बांटने का सिद्धान्त मनुष्य की विविधताओं के बीच क्रम लाने का प्रयास है। मनोवैज्ञानिकों ने व्यक्तित्व-प्रकार की कई दृष्टिकोणों से चर्चा की है।

प्राचीन समय में जैविक गुणों के आधार पर व्यक्तित्व के प्रकार किए गए। हिप्पोक्रेट्स (Hippocrates) और उसके बाद गेलन (Gelan) ने शारीरिक स्वभाव के आधार पर व्यक्तित्व का वर्गीकरण इस प्रकार किया –

1. श्लैष्मिक – जो धीमे, निर्बल और निरुत्तेजित होते हैं।
2. विषादी – जो निराशावादी होते हैं।
3. कोपशील – जो शीघ्र ही उत्तेजित हो जाते हैं।
4. आशावान – जो बहुत शीघ्र कार्य करते हैं एवं प्रसन्न रहते हैं।[1]

शारीरिक रचना और चित्त प्रकृति के आधार पर किया गया क्रैशमर और शैल्डन का व्यक्तित्व-प्रकार शारीरिक प्रारूप और मानसिक व्यक्तित्व क्रमों में सह-संबंध प्रकट करता है। क्रैशमर और शैल्डन के व्यक्तित्व-प्रकार प्रस्तुत सन्दर्भ में महत्त्वपूर्ण हैं।

फ्रायड के अनुसार अचेतन के स्तर पर इदम्, अहम् और परम अहम् में से जो तत्त्व अधिक होगा, व्यक्तित्व वैसा ही होगा। यदि व्यक्ति का इदम् शक्तिशाली है तो व्यक्ति निम्नकोटि का, कामी, क्रोधी तथा सुखैषणा में डूबा रहेगा और यदि परम अहम् उच्च है तो वह नैतिक व आदर्शवादी होगा। व्यक्ति का अहम् शक्तिशाली होगा तो वह यथार्थवादी होगा। अहम् के शक्तिहीन होने पर वह इदम् व परम अहम् के संघर्षों की मध्यस्थता नहीं कर पाएगा। फलतः उसका जीवन संघर्षों, दुविधाओं, असन्तुलन और अव्यवहारिकता से भरा हुआ होगा।

फ्रायड के बाद कार्ल युंग द्वारा किया गया व्यक्तित्व-प्रकार सर्वाधिक लोकप्रिय बना। युंग के अनुसार व्यक्ति दो प्रकार के होते हैं – बहिर्मुखी और अन्तर्मुखी। बहिर्मुखता का शाब्दिक अर्थ है अपने से बाहर जाना, अपने प्राकृतिक और सामाजिक पर्यावरण की वस्तुओं में अधिक रुचि लेना और अपने विचारों तथा भावनाओं की उपेक्षा करना।

---

1. डॉ. सीताराम जायसवाल, व्यक्तित्व सिद्धान्त, पृ. 200

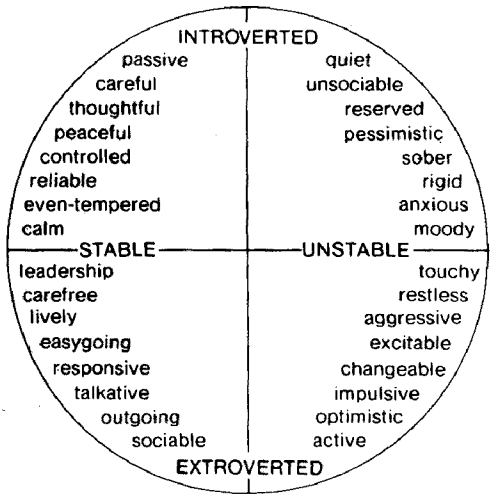

अन्तर्मुखता का प्रधान लक्षण है सामाजिक संबंधों से बचना। स्वयं में केन्द्रित रहना। अन्तर्मुखता के कारण व्यक्ति का दृष्टिकोण वस्तुनिष्ठ नहीं रहता। वह सभी वस्तुओं का मूल्यांकन करते समय अपने को केन्द्र में रखता है।

एच. जे. आइजनेक (Eysenck) ने युंग द्वारा वर्णित बहिर्मुखी एवं अन्तर्मुखी व्यक्तित्व का गहन अध्ययन करके व्यक्तित्व के निषेधात्मक एवं विधेयात्मक गुणों को प्रस्तुत किया है।

ऐसे भी व्यक्ति होते हैं जिनमें बहिर्मुखता और अन्तर्मुखता दोनों होती हैं। सामान्यत: कोई भी व्यक्ति न सिर्फ बहिर्मुखी होकर जी सकता है और न सिर्फ अन्तर्मुखी। इसीलिए युंग ने भी बाद में उभयमुखी व्यक्तित्व को स्वीकृति दी। उभयमुखता व्यक्तित्व की ऐसी प्रवृत्ति है जो बहिर्मुखता एवं अन्तर्मुखता में सन्तुलन बनाए रखती है।

भारतीय दर्शन में भी सत्व, रजस एवं तमस – इन तीन गुणों के आधार पर भावप्रकाश में सात्विक, राजसिक और तामसिक व्यक्तित्व के तीन प्रकारों का उल्लेख है।

सात्विक व्यक्तित्व – सत्वगुणप्रधान व्यक्ति आस्थावान होता है। वह सद्-असद् भोजन का विवेक रखता है। क्रोध नहीं करता। सत्य भाषा बोलता है। सत्त्वगुण से अन्वित पुरुष की मेधा, बुद्धि, धृति, क्षमा, करुणा, आत्मज्ञान, दम्भहीनता, आनन्दशीलता, कर्मशीलता, निस्पृहता, विनम्रता, धर्मानुष्ठान की मनोवृत्ति उल्लेखनीय होती है।

राजसिक व्यक्तित्व – रजोगुणप्रधान मनोवृत्ति वाले व्यक्तित्व में क्रोध, ताड़नशीलता, अत्यन्त दु:ख, सुखैषणा, दम्भ, कामुकता, असत्यसंभाषण, अधीरता, दुष्कर्म, ऐश्वर्य का अतिशय, अहं, अधिक परिभ्रमण, चंचलता जैसे गुणों का प्राधान्य रहता है।

तामसिक व्यक्तित्व – तमोगुणप्रधान तामसिक मनोवृत्ति वाले व्यक्तियों में नास्तिकता, अतिशय विषण्णता, अति प्रमाद, दुष्टबुद्धि, निन्दा में सुख की प्राप्ति, अज्ञान, क्रोध और मूर्खता जैसे अवगुणों का संचयन रहता है।

गीता में श्रीकृष्ण ने आसुरी और दैविक गुणों के द्वारा व्यक्तित्व को विभाजित किया है –

आसुरी सम्पदा सम्पन्न व्यक्तित्व[1]	दैविक सम्पदा सम्पन्न व्यक्तित्व[2]
• कर्त्तव्याकर्त्तव्य के ज्ञान का अभाव	• शांतचित्त एवं स्वच्छ अन्त:करण वाला
• दुष्टात्मा एवं चिन्ताग्रस्त	• तत्वज्ञान के लिए ध्यान में निरन्तर अवस्थित

1. गीता 16/7-8; 2. वही 16/1-3

- मानसिक एवं कायिक शौच से रहित
- अशुद्ध आचार (दुराचारी)
- कपटी, मिथ्याभाषी
- आत्मा और जगत के विषय में मिथ्या दृष्टिकोण
- अल्पबुद्धि, क्रूरकर्मी
- हिंसक, जगत् का नाश करने वाला
- कामभोग-परायण
- क्रोधी
- तृष्णायुक्त, चोर
- इंद्रियों का दमन करने वाला
- स्वाध्यायी, दानी एवं उत्तम कर्म करने वाला
- अहिंसायुक्त, दयाशील तथा अभयी
- अक्रोधी, क्षमाशील, त्यागी
- अपिशुनी तथा सत्यशील
- अलोलुपी (इन्द्रिय विषयों में अनासक्त)
- तेजस्वी, धैर्यवान, कोमल
- लोक और शास्त्र-विरुद्ध आचरण में लज्जा का अनुभव करने वाला

लेश्या सिद्धान्त की भाषा में कर्म-विशुद्धि के आधार पर व्यक्तित्व के दो प्रकार किए जा सकते हैं – 1. औदयिक व्यक्तित्व 2. क्षायोपशमिक या क्षायिक व्यक्तित्व। दूसरे शब्दों में छद्मस्थ और वीतराग।

औदयिक व्यक्तित्व – कर्मशास्त्रीय मीमांसा में औदयिक व्यक्तित्व पहचान के लिए अज्ञान, निन्द्रा, सुख-दुःख, आश्रव, वेद, आयु, गति, जाति, शरीर, लेश्या, गोत्र, प्रतिहत शक्ति, छद्मस्थता, असिद्धत्व जैसे औदयिक भाव बतलाए गए हैं।[1] इनके आधार पर औदयिक व्यक्तित्व का निर्माण होता है।

जब तक प्राणी कर्म से बंधा है तब तक अपने कृतकर्मों के अनुसार नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देवगति में भ्रमण करता रहता है। जन्म और मृत्यु की इस परम्परा से कभी दुःख, कभी सुख भोगता रहता है। उसके भीतर कषायों की प्रगाढ़ता रहती है। अच्छे-बुरे संस्कारों का वह अक्षय भण्डार होता है, क्योंकि लेश्या रूप भाव संस्थान उसके सूक्ष्म शरीर के साथ जुड़ा रहता है। यद्यपि लेश्या किसी कर्म का उदय नहीं है, पर यह पर्याप्ति नामकर्म के उदय अथवा पुद्गलविपाकी शरीर नामकर्म और कषाय इन दोनों के उदय से निष्पन्न होती है। अतः व्यक्तित्व के शुभ-अशुभ बनने में इसका सहयोग रहता है।

जैन साहित्य में सभी औदयिक भाव बन्ध के कारण हैं, पर मोहजनित औदयिक भाव ही वास्तव में बंध का कारण है। उसके अभाव में सभी भाव क्षायिक बन जाते हैं, क्योंकि जब तक मोह की सत्ता रहती है, मन पर वासनाएं, राग-द्वेष जनित संस्कार हावी रहते हैं, दृष्टिकोण सही नहीं बन पाता। बुद्धि असन्तुलित हो जाती है। अच्छा आचरण चाहता हुआ भी नहीं कर सकता। वह क्रोध, मान, माया और लोभ की तीव्र ज्वाला में जलता रहता है। उसकी कथनी और करनी में बहुत अन्तर होता है। इसीलिए अशुभ लेश्या में ऐसे व्यक्तित्व को छद्मस्थ की संज्ञा दी गई है।

स्थानांग सूत्र[2] में कहा गया है कि छद्मस्थ व्यक्ति वह होता है, जो प्राणातिपात/हिंसा करता है, झूठ बोलता है, चोरी करता है, ऐन्द्रिक सुखों में डूबा रहता है, पूजा सत्कार की

---

1. जैन सिद्धान्त दीपिका, 2/54; 2. ठाणं 7/28

महत्त्वाकांक्षा रखता है। पाप को पाप समझते हुए भी उसका आचरण करता है। जो सोचता है, वैसा कहता नहीं है और जैसा कहता है, वैसा करता नहीं है, क्योंकि इसका कारण होता है – मिथ्या दृष्टिकोण।

मिथ्यात्व की सत्ता में चैतन्य का विकास, प्रज्ञा का जागरण सम्भव नहीं होता। अज्ञान में आदमी मूढ़ बना रहता है। मिथ्यात्व की उपस्थिति में मनुष्य की अन्तहीन आकांक्षायें बढ़ती हैं। प्रमाद भी हावी होता है। क्रोध आदि आवेग भी अपना प्रभाव डालते हैं और चंचलता भी बढ़ती जाती है। ऐसी स्थिति में प्राणी संयम की ओर बढ़ नहीं सकता। इसीलिए अशुभलेशी व्यक्तित्व का एक लक्षण बतलाया गया कि वह आश्रव प्रवृत्त होता है।[1]

क्षायोपशमिक व्यक्तित्व – यह आत्म विकास की ओर अग्रसर रहता है। इसमें अध्यवसायों की प्रशस्तता और लेश्या का विशुद्धीकरण होता है। कर्मों के क्षय और उपशम के साथ उदय की प्रक्रिया भी इसमें चालू रहती है। जैन शास्त्रीय भाषा में व्यक्तित्व विकास का सबसे बड़ा बाधक तत्त्व है – कषाय। इसी के कारण आवरण, विकार, अवरोध और अशुभ का संयोग व्यक्तित्व के साथ सदा बना रहता है।

व्यक्ति कुछ जानना चाहता है, सही दृष्टिकोण बनाना चाहता है, पर आवरण न सही जानने देता है और न सही देखने देता है। यह ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय कर्म का कार्य है। व्यक्ति सदैव अच्छा आचरण करना चाहता है, पवित्र रहना चाहता है पर मूर्च्छा और विकृति पवित्रता को दूषित कर आदमी को मूढ़ बना देती है, यह कार्य मोहनीय कर्म द्वारा सम्पादित होता है। व्यक्ति अपनी आन्तरिक शक्तियों का प्रस्फुटन चाहता है। पर उसके पास सबकुछ होने के बाद भी अन्तरायकर्म द्वारा अवरोध पैदा किया जाता है कि वह शक्ति प्रतिहत हो जाती है।

हर व्यक्ति के पास योग्यात्मक और क्रियात्मक दो शक्तियां हैं। योग्यात्मक शक्ति आत्मा का गुण है। क्रियात्मक शक्ति शरीर के योग से निष्पन्न होती है। कर्मशास्त्र में योग्यात्मक क्षमता को लब्धिवीर्य और क्रियात्मक क्षमता को करणवीर्य कहा गया है। जिसमें लब्धिवीर्य नहीं होता है, वह उस शक्ति का कभी विकास कर ही नहीं सकता। लब्धिवीर्य की विद्यमानता में भी करणवीर्य के अभाव में कार्य-निष्पन्न नहीं हो सकता। अन्तराय का पर्दा जब हटता है, तब व्यक्ति अपनी शक्ति का उपयोग करने में सफल होता है। ये घातिकर्म के परिणाम हैं। इनके कारण व्यक्तित्व का विकास सम्भव नहीं होता।

जीवन के साथ शुभाशुभ का संयोग अघाति कर्म – नाम, गोत्र, वेदनीय और आयुष्य के कारण होता है। ये आत्मगुणों को हानि तो नहीं पहुंचा सकते पर देह-संरचना, सम्मान, प्रतिष्ठा आदि में इनकी महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है।

इन चारों विघ्नों के मिटने पर समग्र व्यक्तित्व का विकास प्रकट होता है, जिसे हम क्षायोपशमिक एवं क्षायिक व्यक्तित्व कह सकते हैं। इसमें शुभलेश्याएं प्रकट होती हैं। विशिष्ट पवित्रता की स्थिति में परमशुक्ल लेश्या तक का जागरण हो जाता है।

---

1. उत्तराध्ययन 34/21

आत्मविशुद्धि के परिप्रेक्ष्य में गुणस्थानों की क्रमिक विशुद्धता के आधार पर भी व्यक्तित्व के तीन प्रकार कहे गए हैं – 1. बहिरात्मा 2. अन्तरात्मा 3. परमात्मा। लेश्या की भूमिका पर व्यक्तित्व के अनेक भेद किए जा सकते हैं, क्योंकि हर व्यक्ति में भावों की समानता एक जैसी नहीं होती। कषाय की तीव्रता और मन्दता तथा योगों की चंचलता और स्थिरता पर व्यक्तित्व की सीमाएं बनती हैं। अत: लेश्यावान व्यक्तित्व के छह प्रकार बतलाए गए हैं। इन प्रकारों की गुणात्मक व्याख्या को निषेधात्मक और विधेयात्मक दो रूपों में समझा जा सकता है[1] –

Positive

Attitude Activators	Personality (Attitude in Action)	Result
Confidence	Enthusiastic	Success
Anticipation	Optimist	Achievement
Expectation	Cheerful	Health
Belief	Relaxed	Inner peace
Humility	Courteous	Love
Patience	Considerate	Recognition
Understanding	Friendly	Friendship
	Courageous	Adventure
	Decisive	Growth

Negative

Attitude Activators	Personality (Attitude in Action)	Result
	Sincere	Energy
	Warm	Security
		Happiness
Fear	Cruel	Tension
Hate	Weak	Frustration
Envy	Inconsiderate	Despondency
Suspicion	Rude	Loneliness
Greed	Drab	Unhappiness
Conceit	Irritable	Failure
Self-pity	Cold	Boredom
Inferiority	Lazy	Poverty
Criticism	Undetermined	Fatigue
Cynicism	Soar	Job-weariness
Indecision	Selfish	Dissatisfaction

इस प्रकार कहा जा सकता है कि व्यक्तित्व का निर्माण भावों पर आधारित है। व्यक्ति चाहे तो श्रद्धा और पुरुषार्थ से अपने भाग्य की रेखायें बदल सकता है। लेश्या बदलाव हमारे शुभाशुभ भावों के साथ संभव है।

1. Muni Mahendra Kumar edited Science of Living (Jeevan Vigyan) p. 3, 4

षष्ठम अध्याय

संभव है व्यक्तित्व बदलाव

* उत्तरदायी कौन ?
* परिपक्व व्यक्तित्व
* लेश्याविशुद्धि : व्यक्तित्व बदलाव
* मूर्च्छा का आवर्त्त टूटे
* आत्मना युद्धस्व
* त्रिसूत्री अभ्यास
* धर्मध्यान में प्रवेश
* दमन नहीं : शोधन

षष्ठम अध्याय

संभव है व्यक्तित्व बदलाव

मनोविज्ञान व्यक्तित्व की व्याख्या का मानक मनुष्य को चुनता है, क्योंकि मनुष्य ही वह विवेकशील प्राणी है जो अपना एवं दूसरों का अच्छा-बुरा सोच सकता है। गलत-सही का निर्णय कर सकता है। ह्रास-विकास के क्षणों में वस्तुनिष्ठ दृष्टिकोण रख सकता है। वह संघर्ष, द्वन्द्व के क्षणों में समायोजन का सामर्थ्य भी रखता है। इसलिए व्यक्तित्व-मनोविज्ञान में सारी चर्चा व्यक्ति और चरित्र से जुड़ी है। उसके विघटन और संगठन के कारकों की खोज भी की गयी है।

उत्तरदायी कौन ?

व्यक्तित्व विघटित क्यों होता है, इस प्रश्न के समाधान में कुछ विद्वानों ने वंशानुक्रम को जिम्मेदार माना है। उनके अनुसार शरीर रसायन, ग्रंथि-असमानता, जैविक रचना, रक्त प्रदूषण या केन्द्रीयस्नायु मण्डल का दूषित होना कारण है। अतृप्त तथा दमित इच्छा, अपराध, असुरक्षा की भावना, आत्मप्रदर्शन की भावना, पितृविरोधी (Oedipus), मातृविरोधी (Electra) भाव-ग्रंथियों का विकसित होना, संवेगात्मक असन्तुलन तथा दीर्घकालीन चिन्ता आदि भी विघटन के लिए जिम्मेदार तत्त्व माने गये हैं।

कुछ विद्वानों ने व्यक्तित्व-विघटन का उत्तरदायी परिस्थिति और पर्यावरण को भी माना है। मनुष्य परिस्थितियों के अनुसार ढलता है। पर्यावरण भी मानवीय स्वभाव की व्याख्या करता है। पर्यावरण का असन्तुलन शारीरिक व मानसिक असन्तुलन का कारण बनता है।

आनुवंशिकता, परिस्थिति, पर्यावरण तथा मनोवैज्ञानिक कारकों के साथ मनुष्य के स्वभाव और व्यवहार को असन्तुलित बनाने का एक कारण जीन्स (Genes) भी है। वैज्ञानिक जीन-परिवर्तन की खोज में लगे हुए हैं। जीन के साथ-साथ रासायनिक परिवर्तन भी व्यक्तित्व की बदलती मनोदशाओं का कारण बनता है।

जैन-दर्शन इन सबसे ज्यादा महत्त्वपूर्ण कारण कर्म को मानता है जो अध्यवसायों के आधार पर शुभ-अशुभ लेश्याओं की संरचना करता है। अशुभ लेश्याओं में मनुष्य का व्यक्तित्व विघटित, असन्तुलित, असमायोजित होता है। चिन्तन, भाषा और कर्म की दिशायें बदलती हैं। आचरण में बदलाव आता है।

व्यक्तित्व की चेतना को आश्रवों का निरन्तर प्रवाह दूषित करता है। इस कारण मनुष्य का दृष्टिकोण सही नहीं बन पाता। उसकी विपरीत बुद्धि और आग्रही मनोवृत्ति बनी रहती है। उसके मन में अन्तहीन आकांक्षाएं रहती हैं। वह परिग्रही चेतना को समेटना नहीं जानता। प्रतिक्षण प्रमाद में डूबा रहता है। खुद जागता है, पर विवेक सोया रहता है। सुविधाओं के बीच पराक्रम न कर विकास के सारे रास्ते बन्द कर लेता है। कषायों की तीव्रता के कारण संवेगों पर नियंत्रण नहीं कर पाता। भाव चेतना मलिन हो जाती है। मन, वचन और शरीर की क्रियायें भी स्थिर नहीं होतीं। योग प्रवृत्ति चंचल होने से लक्ष्य सिद्धि दुर्लभ हो जाती है।

मनोविज्ञान का मानना है कि व्यक्तित्व विघटन समायोजन की क्षमता के अभाव में होता है। बिना समायोजन के शारीरिक, मानसिक और भावात्मक व्यक्तित्व के विघटन की संभावनायें बनी रहती हैं। प्रत्येक व्यक्ति के जीवन का मुख्य उद्देश्य रहता है – बाहरी–भीतरी आवश्यकताओं की संपूर्ति करना। जब आवश्यकताओं को परिवेश में संतुष्टि नहीं मिल पाती है तो मनुष्य उसकी संतुष्टि के लिए संघर्ष करता है। तनाव मिटाने के लिए किया गया संघर्ष जब असफल हो जाता है तो व्यक्ति भग्नाशा (frustration) का शिकार हो जाता है। इस दशा में व्यक्ति का उल्लेखनीय असामान्य व्यवहार प्रकट होता है।

व्यक्ति अत्यधिक क्रोधी और आक्रामक बन जाता है। समाज से दूर एकाकी जीवन जीना चाहता है। सामाजिक विद्रोह की भावना जागृत हो जाती है। बीमारियों से ग्रस्त हो जाता है अथवा बीमार पड़ जाना चाहता है। सामान्य–सी समस्या के सामने झुक जाता है। हीन भावना की ग्रंथि विकसित हो जाती है। अपराध प्रवृत्ति बढ़ जाती है।

मैन्डल शर्मन ने ''मानसिक द्वन्द्व और व्यक्तित्व'' पर सन् 1938 में लिखी पुस्तक में मानव जीवन के द्वन्द्व का मूल्यांकन करते समय तीन बिन्दुओं की ओर विशेष ध्यान आकृष्ट किया –

1. किन कारणों से व्यक्ति के अन्तर्नोदों (Drives) के सोपानों के सन्दर्भ में द्वन्द्व उत्पन्न होते हैं ?
2. द्वन्द्व की बारम्बारता (Frequency) कैसी है ?
3. द्वन्द्व की गहनता (Intensity) कितनी है ?

शर्मन का मानना है कि द्वन्द्व का संबंध किसी ऐसे अन्तर्नोद से है जो सोपान में उच्च स्थान रखता है तो द्वन्द्व भी गहन होगा और उसका प्रभाव भी व्यक्ति के व्यक्तित्व पर हानिकारक होगा।

व्यक्ति बार-बार द्वन्द्व का अनुभव करता है तब उसका व्यक्तित्व द्वन्द्वात्मक हो जाता है और साथ ही उसमें द्वैधवृत्ति (Ambivalence) उत्पन्न हो जाती है। इस द्वैधवृत्ति के कारण व्यक्ति समय पर निर्णय नहीं कर पाता। दुविधा और असमंजसता भी व्यक्ति पर बुरा प्रभाव डालती है।

द्वन्द्व की गहनता शक्ति और समय की क्षति करती है। रात-दिन द्वन्द्व के निराकरण में लगे रहने से कालान्तर में व्यक्ति कुसमायोजित हो जाता है। द्वन्द्व की गहनता व्यक्ति के भावों से संबंधित है। गहन भावात्मक द्वन्द्व (Emotional Conflict) का हानिकारक प्रभाव आता है।

द्वन्द्व निराकरण में शुभ लेश्या का होना जरूरी है। जब तैजस लेश्या जागती है तब निर्द्वन्द्वता, आत्मनियंत्रण की शक्ति, तेजस्विता प्रकट होती है। भीतरी सुख जागता है। द्वन्द्व समाप्त हो जाते हैं। जब कारणों की मीमांसा होती है, तब उसके निराकरण में व्यक्ति बार-बार संकल्प और प्रयत्न करता है। जैन-दर्शन के अनुसार अच्छे-बुरे भाव-परिणाम सिर्फ वर्तमान जीवन के ही उत्तरदायी नहीं होते, वे भावी जीवन के सूत्रधार भी बनते हैं।

स्थानांग सूत्र[1] में शीलगुणों (Traits) की पृष्ठभूमि पर ही मनुष्य के भावी जीवन की विस्तृत व्याख्या की गई है। वहां लिखा है – मनुष्य में यदि प्रकृति भद्रता है, प्रकृति विनीतता है, सहृदयता है और परगुण-सहिष्णुता है तो वह मनुष्यगति का बन्ध करता है। मनुष्य यदि अमर्यादित हिंसा करता है, अमर्यादित संग्रह करता है, पंचेन्द्रियवध करता है और मांस-भक्षण करता है तो वह नरक-गति का बन्ध करता है। मनुष्य यदि माया-प्रवंचना करता है, औरों के साथ धोखा करता है, असत्य संभाषण करता है और झूठा तोल-माप करता है तो वह तिर्यंच-गति का बन्ध करता है। मनुष्य सराग संयम, संयमासंयम, बालतप कर्म और अकाम निर्जरा करता है तो वह देवगति का बन्ध करता है। व्यक्ति की भावचेतना ही उसके व्यक्तित्व के विघटन या संगठन की मुख्य घटक बनती है।

परिपक्व व्यक्तित्व

अशुभ से शुभ लेश्या की ओर किया गया प्रस्थान मनुष्य को एक परिपक्व व्यक्तित्व की पहचान देने लगता है। जब शुभ लेश्या का जागरण होता है तब व्यक्ति में आत्मगुण अनावृत्त होते हैं। वह मिथ्यादृष्टि से व्रती, व्रती से महाव्रती, महाव्रती से वीतरागी बनने का पराक्रम करता है। समत्वदर्शिता प्रकट होती है। उसमें लाभ-अलाभ, सुख-दुःख, जन्म-मृत्यु, निन्दा-प्रशंसा के अनुकूल-प्रतिकूल क्षणों में सन्तुलित रहने का सामर्थ्य जाग जाता है।

---

1. ठाणं 4/628-31

जब शुक्ललेश्या जागती है, व्यक्ति के आत्म परिणामों में विशुद्धता आती है तब व्यक्ति ऋद्धि सम्पन्न बनता है। अनिर्वचनीय सुखानुभूति करता है। सांसारिक तृष्णाओं से मुक्त होकर आत्मदर्शन की यात्रा पर चल पड़ता है।

मनोविज्ञान की भाषा में भी परिपक्व व्यक्तित्व वाला व्यक्ति पूर्णत: सामान्य एवं समायोजित होता है। ऐसे व्यक्तित्व के कुछ मानक हैं –

1. वह आन्तरिक द्वन्द्वों से मुक्त रहता है।
2. जीवन की समस्याओं का समाधान सोच-समझकर बुद्धिमत्ता के साथ करता है।
3. जीवन की परिस्थितियों को यथार्थ रूप में ग्रहण करता है।
4. उत्तरदायित्व का सम्यग् ग्रहण और निर्वहन करता है।
5. आत्मसंयमी होता है।
6. मित्रों, सहयोगियों, समाज और राष्ट्र के प्रति निष्ठा रखता है।
7. परिवर्तित परिस्थितियों के अनुकूल स्वयं को ढालता है।
8. दूसरों के प्रति अच्छी धारणा रखता है।
9. स्व को क्षति पहुंचाने वाले काम नहीं करता है।
10. कृतज्ञ होता है।
11. शारीरिक एवं मानसिक रूप से स्वस्थ होता है।
12. अच्छे सामाजिक संबंध बनाता है।

प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक ए.एच. मैसलों ने अपनी पुस्तक (Motivation and Personality) में परिपक्व व्यक्तित्व की व्याख्या आत्मसिद्धि (Self-actualisation) के सन्दर्भ में की है। जिस व्यक्ति के व्यक्तित्व में आत्मसिद्धि के लक्षण पाये जाते हैं, उसमें पूर्ण परिपक्वता आ जाती है। यह सिद्धान्त मानव जीवन का पूर्ण एवं प्रकाशमान चित्र उपस्थित करता है। उसके अनुसार स्वभावतया मानव प्रकृति शुभ है, अशुभ नहीं है। ज्यों-ज्यों मानव का व्यक्तित्व परिपक्व होता जाता है, मनुष्य की आन्तरिक शुभ प्रकृति अधिक अभिव्यक्त होने लगती है। सामान्यत: परिवेश अच्छे को भी बुरा बना देता है। पर कुछ-कुछ व्यक्ति दूषित परिवेश में भी भले बने रहते हैं। परिवेश व्यक्ति के आत्म-साक्षात्कार में बाधा न डाले, यह आवश्यक है।

मैसलों ने मानव प्रकृति की आवश्यकताओं को शक्ति के आधार पर पूर्वापर क्रम से प्रस्तुत किया है –

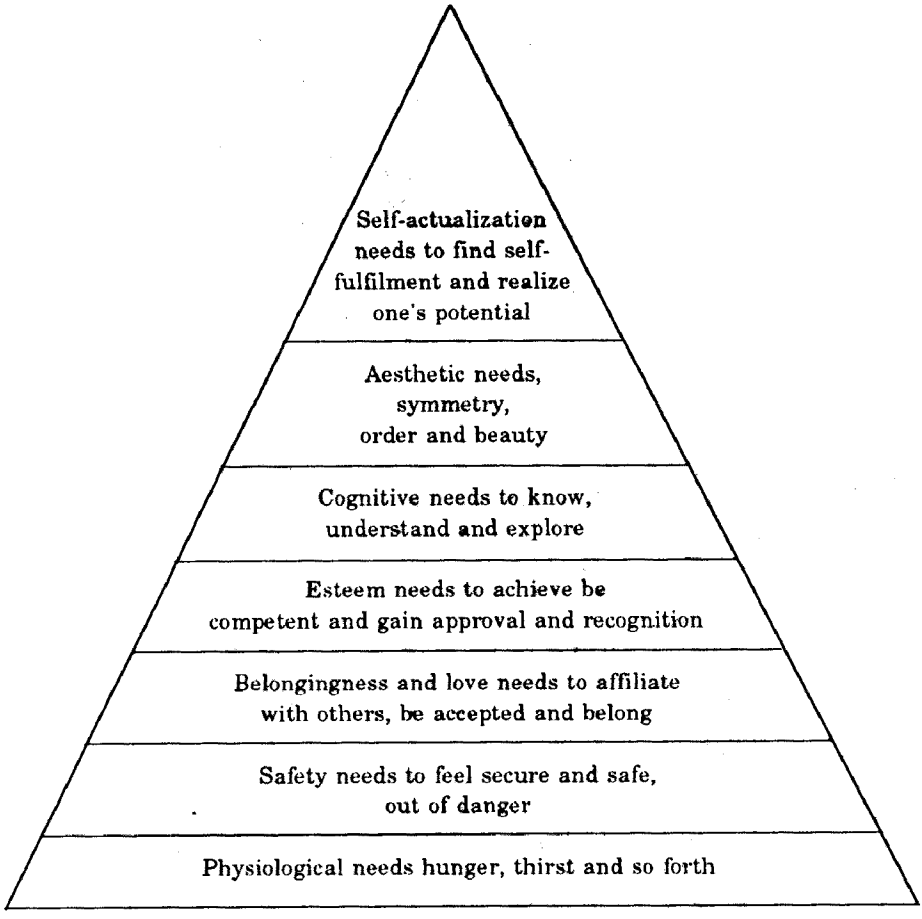

जब सबसे अधिक शक्तिशाली और प्रमुख आवश्यकताएं संतुष्ट हो जाती हैं तो उसके बाद गौण आवश्यकताएं सामने आती हैं और सन्तुष्टि चाहती हैं। उनके संतुष्ट हो जाने पर फिर प्रेरणा के सोपान में एक कदम और आगे बढ़ती है। इस पूर्वापर क्रम में सबसे अधिक शक्तिशाली से न्यूनतम शक्तिशाली की ओर चलने में सबसे पहले शारीरिक आवश्यकताएं जैसे भूख और प्यास, फिर क्रमशः सुरक्षा, प्रेम, सम्मान, ज्ञानात्मक, सौन्दर्यात्मक और आत्मसाक्षात्कार की आवश्यकतायें आती हैं।

प्रेरणाओं या आवश्यकता के इस क्रम में समाज-विरोधी या हानिकारक आवश्यकताओं के लिए कोई स्थान नहीं है। मैसलों के अनुसार मनुष्य केवल तभी समाज विरोधी कार्य करता है जबकि समाज उसकी आन्तरिक आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं होने देता है। मैसलों के अनुसार मानव व्यक्तित्व का एक अधिक पूर्ण और व्यापक विज्ञान बनाने के लिये उन व्यक्तियों का अध्ययन आवश्यक है जिन्होंने अपनी आन्तरिक योग्यताओं का पूर्णतया साक्षात्कार किया है। मैसलों ने स्वयं ऐतिहासिक व्यक्तित्वों का अध्ययन किया था। उसने यह प्रतिपादित किया कि व्यक्ति आत्मसिद्धि प्राप्त करना चाहता है। यही उसकी

समस्त क्रियाओं का अभिप्रेरक है। जब तक आत्मसिद्धि प्राप्त नहीं होती, व्यक्ति के व्यक्तित्व में परिपक्वता नहीं आती।

परिपक्व व्यक्तित्व के प्रयोजनपूर्ण समायोजन से व्यक्ति सत्य की अनुभूति करता है। गीता का स्थितप्रज्ञ, बौद्ध दर्शन का अर्हत और जैनधर्म के वीतराग का जीवनादर्श परिपक्व व्यक्तित्व की सर्वांगीण व्याख्या देता है और इस व्याख्या में मुख्य तत्त्व है – समायोजन/सन्तुलन/सामंजस्य।

पाश्चात्यदर्शन प्राणी और परिस्थिति के बीच समायोजन को स्वीकृति देता है जबकि भारतीय चिन्तन में यह समायोजन व्यक्ति के भीतर ही होता है। वस्तु में राग और द्वेष की अभिवृत्तियां स्वयं में कुछ नहीं होतीं। उसके प्रति प्रियता-अप्रियता की अभिव्यक्ति में मनुष्य का मूर्च्छाभाव स्वयं कारण है। जो राग-द्वेष की चेतना को परिष्कृत कर आत्मपूर्णता तक पहुंच जाते हैं वे परिपक्व व्यक्तित्व के धनी बन जाते हैं।

गीता में श्रीकृष्ण स्थितप्रज्ञ का लक्षण बताते हुए कहते हैं – जब व्यक्ति मन में स्थित सम्पूर्ण कामनाओं का परित्याग कर देता है, आत्मा से ही आत्मा में संतुष्ट होता है, दु:खों की प्राप्ति में भी जो उद्विग्न नहीं होता तथा सुखों के प्रति जिसके मन में कोई स्पृहा नहीं होती, जिसके राग, भय और क्रोध समाप्त हो गये हैं अर्थात् वीतराग है, जिसकी किसी भी वस्तु में आसक्ति नहीं है और जो शुभाशुभ के प्राप्त होने पर न प्रसन्न होता है और न द्वेष करता है, जिसकी इन्द्रियां सब प्रकार के विषयों से वश में की हुई हैं, ऐसा व्यक्ति स्थितप्रज्ञ कहा जाता है।[1]

बौद्ध-दर्शन में अर्हत् का जीवनादर्श बताते हुए लिखा है कि जो राग, द्वेष और मोह से ऊपर उठ चुका है, जिसमें किसी भी प्रकार की तृष्णा नहीं है, जो सुख-दु:ख, लाभ-अलाभ और निन्दा-प्रशंसा में समभाव रखता है, वही अर्हत् है। अर्हत् पृथ्वी के समान क्षुब्ध नहीं होता, इन्द्र-स्तम्भ के समान अपने व्रत में दृढ़ होता है। झील के सदृश कीचड़ या चित्तमल से रहित है, सम्यक्ज्ञान से उसका चित्त उपशांत होता है।

सुत्तनिपात में अर्हत् की विशेषताओं का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि अर्हत् वह है जो क्रोध, त्रास, आत्मप्रशंसा और चंचलता रहित है। विचारपूर्वक बोलता है। जो गर्वरहित, वाक्संयमी है। आसक्ति, ढोंग, स्पृहा और मात्सर्य से रहित है। प्रगल्भी, चुगलखोर, प्रिय वस्तुओं में आसक्त नहीं है। घृणा, अभिमान से रहित है। शांत और प्रतिभाशाली है। उसमें भव और विभव के प्रति घृणा नहीं है। विषयों के प्रति उपेक्षा रखता है।[2]

---

1. धम्मपद 95-97; 2. सुत्त निपात, 48/2-6, 9-10

भारतीय दर्शन में महर्षि अरविन्द ने भी इसी सन्दर्भ में गवेषणा कर कहा – मानव प्रकृति में परिवर्तन अतिचेतन को उत्तरोत्तर चरितार्थ करने से उपलब्ध होता है। परन्तु अतिचेतन को चरितार्थ करने का उपाय एकमात्र शुद्ध अभीप्सा है यानी उन्नत होने की सच्ची अभीप्सा। व्यक्ति जब शुद्ध अभीप्सा द्वारा अपनी शारीरिक संवेगात्मक तथा बौद्धिक सीमाओं से ऊपर उठकर अपनी अन्तरात्मा में प्रवेश करके अपने स्वरूप और बाह्यजगत पर दृष्टिपात करता है तब उसके व्यक्तित्व में वह परिपक्वता आ जाती है जिसकी अभिव्यक्ति शांति, आनन्द और प्रकाश के अनुभव में दिखाई पड़ती है।[1]

परिपक्व व्यक्ति सभी स्वार्थों से मुक्त रहता है। न तो उसमें अहंकार होता है और न आसक्ति। वह निरन्तर अन्तर भाव में रहता है। अरविन्द ने यह व्याख्या केवल भौतिक परिप्रेक्ष्य में नहीं की, वरन उनकी दृष्टि आध्यात्मिक एवं दिव्यजीवन की ओर भी रही है।

परिपक्व व्यक्तित्व की अवधारणा मनुष्य के भीतर छिपी उस शुद्ध सत्ता की संभावना का प्रकटीकरण है जो ज्ञान, भाव और संकल्प सभी का आधार होते हुए भी सभी से ऊपर निर्विकल्प, वीतरागता की स्थिति है। शुद्ध सत्ता तक पहुंचना मनुष्य का साध्य है। इस साध्य तक पहुंचने में शुक्ललेश्या के आत्मपरिणामों का होना आवश्यक है। अत: व्यक्तित्व बदलाव की प्रक्रिया में "लेश्याविशुद्धि कैसे हो ?" इस बिन्दु पर साधना के कुछेक तथ्यों की चर्चा आवश्यक है।

लेश्या विशुद्धि : व्यक्तित्व बदलाव

स्वभाव अवश्य बदलता है, क्योंकि बदलना शाश्वत नियम है। समय का, शक्ति का, श्रद्धा का, पुरुषार्थ का अन्तर हो सकता है पर निष्पत्ति का नहीं। यदि स्वभाव परिवर्तन की बात न मानें तो आत्मविकास की सारी सम्भावनाएं रुक जाती हैं।

यद्यपि प्राणी अपने कृतकर्मों का शुभ-अशुभ फल स्वयं भोगता है, क्योंकि उन सबका वह स्वयं कर्त्ता है।[2] कर्मों के फल भोग में कहीं परिवर्तन की संभावना नहीं, किन्तु इस सिद्धान्त के साथ भी कुछ कर्म-विपाक के अपवाद जुड़े हैं। कर्म की दस अवस्था में उदीरणा, संक्रमण, उद्वर्तना, अपवर्तना की प्रक्रिया द्वारा विपाक को बदला जा सकता है।

संक्रमण का सिद्धान्त व्यक्तित्व बदलाव का संवाहक सूत्र है। इसके द्वारा पुण्य पाप में और पाप पुण्य में बदल जाता है। आधुनिक जीव विज्ञान की नई अवधारणायें और मान्यतायें संक्रमण सिद्धान्त की उपजीवी कही जा सकती हैं। जीन्स को बदलकर पूरी पीढ़ी का कायाकल्प किया जा सकता है।

लेश्या-विशुद्धि के सन्दर्भ में स्थानांग सूत्र[3] में उल्लिखित पुण्य-पाप बदलने की पद्धति के चार विकल्प विशेष अर्थपूर्ण हैं –

---

1. दि लाइफ डिवाइन, भाग-1, पृ. 108;
2. उत्तराध्ययन 20/37
3. ठाणं 4/603

1. शुभ का विपाक शुभ में
2. अशुभ का विपाक अशुभ में
3. अशुभ का विपाक शुभ में
4. शुभ का विपाक अशुभ में होता है।

इसमें तीसरा और चौथा विकल्प संक्रमण सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है।

कोई व्यक्ति पापकर्म का बंध करता है पर बाद में वह पुरुषार्थ द्वारा इस विपाक को बदल देता है। इसी तरह पुण्य बंध को भी पापकर्म करके पाप में बदल देता है। पुण्य/पाप, शुभ/अशुभ को बदलने का अर्थ है व्यक्तित्व को बदलना। इस बदलाव की प्रक्रिया में लेश्या महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है। लेश्या विशुद्धि से ही व्यक्ति के बाहरी और भीतरी दोनों व्यक्तित्व रूपान्तरित होते हैं।

मनोविज्ञान ने व्यक्तित्व बदलाव की प्रक्रिया में कई विधियों का उल्लेख किया है – निर्देशन, सम्मोहन, मनोविश्लेषण, आस्था। इसी तरह जैन-दर्शन की भाषा में इन्हें कायोत्सर्ग, अनुप्रेक्षा/भावना, प्रतिक्रमण और श्रद्धा का नाम दिया जा सकता है।

व्यक्तित्व बदलने का तात्पर्य है भाव बदलना। भावों की चिकित्सा एक कठिन साधना है, क्योंकि प्रतिक्षण बदलती मन की पर्यायों के साथ चिन्तन, व्यवहार, कर्म सभी कुछ बदलता है। इस बदलाव की सूत्रधार है चंचलता और मन की मूर्च्छा। मन, वचन और शरीर रूप तीनों योगों की चंचलता को स्थिरता देने के लिये और मूर्च्छा को मिटाने के लिए जैन साधना पद्धति में ध्यान को एक विशिष्ट साधन माना गया है।

ध्यान रासायनिक प्रक्रिया है। जीवन के दोनों स्तर – बाह्य और आभ्यन्तर इससे प्रभावित होते हैं, इसलिए इसके द्वारा व्यक्ति-परिवर्तन संभव है। परिवर्तन की प्रक्रिया में ध्यान साधना से पूर्व कुछेक पड़ाव और भी ग्रहणीय हैं जिनसे गुजरने के बाद मनुष्य पूर्ण तैयारी में होता है।

मन की चंचलता को, इन्द्रियों की आसक्ति को, कषायों की उत्तप्तता को यकायक नहीं मिटाया जा सकता, इसलिए पृष्ठभूमि पर पहले अशुभ लेश्या को शुभ लेश्या में बदलना जरूरी है। यह आत्मशोधन की प्रक्रिया है। बिना लेश्या बदले जीवन में सत्संस्कार नहीं आते और सत्संस्कारों के बिना व्यक्ति जीवन के सही लक्ष्य तक नहीं पहुंच सकता।

लेश्या बदलाव की प्रक्रिया में पहले कायोत्सर्ग किया जाये, अनुप्रेक्षा द्वारा शुभ आदतों के निर्माण हेतु मन को संकल्पित किया जाए, मन का विश्लेषण हो कि कहां, कैसे, क्यों मानसिक ग्रंथियां बनी हुई हैं, उनका रेचन किया जाये और फिर लक्ष्य तक पहुंचने के लिए दृढ़ आस्था का सम्बल लिया जाए। तब कहीं ध्यान साधना के लिये हमारे भीतर पात्रता आ पाएगी।

जैन साधना पद्धति में व्यक्तित्व बदलाव का प्रथम चरण है – बुराइयों का प्रवेश बन्द हो और भीतर जमीं बुराइयों का शोधन हो। सैद्धान्तिक भाषा में इसे संवरयोग और तपोयोग

(निर्जरा) कहा गया है। संवर की साधना में लेश्या प्रतिक्षण प्रशस्त होती है। व्यक्ति अनाश्रव की ओर बढ़ता है। इसी तरह निर्जरा द्वारा लेश्याविशुद्धि होती है। निर्जरा से केवल शरीर ही नहीं, मन, इन्द्रियां कषाय भी तपते हैं।

अनशन, ऊनोदरी, भिक्षाचरी और रस परित्याग – निर्जरा के इन प्रकारों का हमारे जीवन के साथ गहरा संबंध है। इनके प्रयोग से शरीर में संचित विषैले रसायन (Toxic) खत्म होते हैं। आसन, प्राणायाम, अन्य यौगिक क्रियायें चंचलता के सन्दर्भ में शरीर और मन को साधती हैं। प्रतिसंलीनता में मन और इन्द्रियों का निग्रह होता है। बाह्य तप द्वारा व्यक्ति के भीतर अनेक ऐसे रसायन पैदा होते हैं जिसके द्वारा व्यक्तित्व में निम्न गुणों का प्रकटीकरण होता है :-

* सुख की भावना स्वयं परित्यक्त हो जाती है।
* शरीर कृश हो जाता है।
* आत्मा संवेग में स्थापित होती है।
* इन्द्रिय-दमन होता है।
* समाधि योग का स्पर्श होता है।
* वीर्यशक्ति का सम्यक् उपयोग होता है।
* जीवन की तृष्णा विच्छिन्न होती है।
* संक्लेश-रहित दु:ख भावना (कष्ट-सहिष्णुता) का अभ्यास बढ़ता है।
* देह, रस और सुख का प्रतिबन्ध नहीं रहता।
* कषाय का निग्रह होता है।
* विषय-भोगों के प्रति अनादर (उदासीन) भाव उत्पन्न होता है।
* समाधि मरण की ओर गति होती है।
* आहार के प्रति आसक्ति क्षीण होती है।
* आहार की अभिलाषा के त्याग का अभ्यास होता है।
* अगृद्धि बढ़ती है।
* लाभ और अलाभ में सम रहने का अभ्यास सधता है।
* ब्रह्मचर्य सिद्ध होता है।
* निद्रा-विजय होती है।
* ध्यान की दृढ़ता प्राप्त होती है।
* विमुक्ति (विशिष्ट त्याग) का विकास होता है।
* दर्प का नाश होता है।
* स्वाध्याय योग की निर्विघ्नता प्राप्त होती है।
* सुख-दु:ख में सम रहने की स्थिति बनती है।

* आत्मा, कुल, गण, शासन – सबकी प्रभावना होती है।
* आलस्य त्यक्त होता है।
* कर्म-मल का विशोधन होता है।
* दूसरों को संवेग उत्पन्न होता है।
* मिथ्यादृष्टियों में भी साम्यभाव उत्पन्न होता है।
* मुक्ति का मार्ग प्रकाशन होता है।
* तीर्थंकर आज्ञा की आराधना होती है।
* देह-लाघव प्राप्त होता है।
* शरीर-स्नेह का शोषण होता है।
* राग आदि का उपशम होता है।
* आहार की परिमितता होने से निरोगता बढ़ती है।
* संतोष बढ़ता है।[1]

आन्तरिक तपस्या आत्मशोधन के लिए महत्वपूर्ण है, इसके द्वारा जीवन में निम्न शीलगुणों का वैशिष्ट्य आता है :

भावशुद्धि, चंचलता का अभाव, शल्य-मुक्ति, धार्मिक-दृढ़ता आदि प्रायश्चित्त के परिणाम हैं। ज्ञान-लाभ, आचार-विशुद्धि, सम्यक्-आराधना आदि विनय के परिणाम हैं।

चित्त-समाधि का लाभ, ग्लानि का अभाव, प्रवचन-वात्सल्य आदि वैयावृत्य के परिणाम हैं।

प्रज्ञा का अतिशय, अध्यवसाय की प्रशस्तता, उत्कृष्ट संवेग का उदय, प्रवचन की अविच्छिन्नता, अतिचार-विशुद्धि, सन्देह-नाश, मिथ्यावादियों के भय का अभाव आदि स्वाध्याय के परिणाम हैं।[2]

कषाय से उत्पन्न ईर्ष्या, विषाद, शोक आदि मानसिक दु:खों से बाधित न होना; सर्दी-गर्मी-भूख-प्यास आदि शरीर को प्रभावित करने वाले कष्टों से बाधित न होना ध्यान के परिणाम हैं।[3]

निर्ममत्व, निर्भयता, जीवन के प्रति अनासक्ति, दोषों का उच्छेद, मोक्ष-मार्ग में तत्परता आदि व्युत्सर्ग के परिणाम हैं।[4]

मूर्च्छा का आवर्त्त टूटे

परिवर्तन की प्रक्रिया में आत्म परिणामों की पवित्रता जरूरी है। इस पवित्रता में सबसे बड़ा बाधक तत्त्व है – मूर्च्छा। लेश्या विशुद्धि में मूर्च्छा का आवर्त्त टूटता है। मूर्च्छा के कारण

---

1. मूलाराधना 3/237-244;
2. तत्वार्थ 9/22-25, श्रुतसागरीय वृत्ति
3. ध्यानशतक, 105-106;
4. तत्वार्थ 9/26, श्रुतसागरीय वृत्ति

पहले पदार्थों के प्रति आकर्षण जागता है। आकर्षण से प्रेरित मन उन पदार्थों को पाने का प्रयत्न करता है। पाने के बाद उनका संरक्षण, संरक्षित विषयों का उपभोग तथा उपभोग आसक्ति का संस्कार जगाता है। पुनः वह इसी प्राप्ति, संरक्षण और उपभोग के आवर्त्त में फंस जाता है।[1] इस तरह आयारों में भी इस सत्य का प्रतिपादन इन शब्दों में हुआ है – ''कडेण मूढ़ो पुणो तं करेई''[2] हर एक मूढ़ता दूसरी मूढ़ता को जन्म देती है।

इसी मूढ़ता के आधार पर व्यक्ति शुभ-अशुभ कर्म द्वारा अपना व्यक्तित्व निर्मित करता है। भरत चक्रवर्ती की तरह जिस व्यक्ति के मन में आसक्ति कम है तो उसके पुण्यकर्म का बंध उसे अशुभ के चक्र में नहीं फंसाता। इसके विपरीत ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती की तरह यदि मन की आसक्ति प्रबल है तो उसके द्वारा किया गया पुण्यकर्म का बंध भी उसे अशुभ की ओर ले जाता है।[3] वस्तुतः तीव्र मोह के साथ किया गया अशुभ कर्म व्यक्तित्व को दूषित कर देता है, इसलिए मोह के आवरण का विलय आवश्यक है।

मूर्च्छा का निदान कायोत्सर्ग की प्रक्रिया में खोजा जा सकता है। कायोत्सर्ग यानी देहासक्ति का टूटना। शरीर भिन्न है, आत्मा भिन्न है, इस भेद विज्ञान के द्वारा देहासक्ति टूटती है। मनोविज्ञान कायोत्सर्ग को शिथिलीकरण का नाम देता है। मानसिक और शारीरिक तनावों की मुक्ति के लिये यह कायोत्सर्ग यानी आत्मसूचन का प्रयोग महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है।

कायोत्सर्ग के समय व्यक्ति संकल्पबद्ध होता है। वह कायोत्सर्ग करता है गलत आदतों का उदात्तीकरण करने के लिए, कृतदोषों का प्रायश्चित्त करने के लिए, उनकी विशोधि के लिए, शल्यों को मिटाने के लिए, पापकारी संस्कारों का उन्मूलन करने के लिए।[4] कायोत्सर्ग की साधना इसलिए महत्त्वपूर्ण है कि इसके बिना मन और इन्द्रियां स्थिर नहीं होतीं। मूर्च्छा के भाव नहीं सिमटते। इन्द्रियप्रतिसंलीनता के बिना आत्मस्वरूपोपलब्धि भी नहीं होती।

स्वभाव परिवर्तन में अनुप्रेक्षा का अभ्यास भी महत्त्वपूर्ण है। अनुप्रेक्षा यानी स्व-विश्लेषण। इसका दूसरा नाम भावना है। साधना का प्रारम्भिक लक्षण है – गलत संस्कारों का शोधन और शुभ संस्कारों का निर्माण। जिन संकल्पों द्वारा मानसिक विचारों को भावित किया जाता है उसे भावना कहते हैं।

चिन्तन कभी बुरा नहीं होता, मगर चिन्तन सही दिशा में होना जरूरी है। धर्मध्यान के समय जब संज्ञाओं से होने वाले दुःखों, उनकी हर पर्यायों का विश्लेषण होता है तो यही अनुप्रेक्षा दुःखमुक्ति का कारण बनती है। जैन साहित्य में आत्मविशुद्धि के लिए बारह अनुप्रेक्षाओं का उल्लेख है।

---

1. उत्तराध्ययन 32/28;
2. आयारो 2/134
3. उत्तराध्ययन 13वां अध्ययन;
4. आवश्यक सूत्र 5/2, नवसुत्ताणि पृ. 15

अनित्याशरणसंसारैकत्वान्यत्वाशुचित्वास्रवसंवर
निर्जरालोकबोधिदुर्लभधर्म स्वाख्याततत्वानुचिन्तनमनुप्रेक्षा ।[1]

साधक जब अनुप्रेक्षा में उतरता है, तब वह जान लेता है कि हर संयोग-वियोग अनित्य है। (**अनित्य भावना**) कोई किसी का त्राण नहीं। (**अशरण भावना**) जन्म-मृत्यु की परम्परा में कहीं सुख नहीं। (**भव भावना**) आदमी अकेला जन्मता है, अकेला मरता है। (**एकत्व भावना**) कोई किसी का साथी नहीं, शरीर और आत्मा भिन्न-भिन्न हैं। (**अन्यत्व भावना**) शरीर अपवित्र है, रोगों का आलय है। इसके प्रति मूर्च्छा कैसी ? (**अशुद्धि भावना**) मन, वचन और शरीर की चंचलता कर्म संस्कारों का संग्रहण करती है। (**आश्रव भावना**) संवर द्वारा नए कर्म संस्कारों का अर्जन नहीं होता। (**संवर भावना**) निर्जरा से भीतर संचित कर्मरजों का शोधन होता है। (**निर्जरा भावना**) विविध पर्यायों और परिणामों से भरे संसार के प्रति समत्व भाव जागता है। (**लोक भावना**) अपने स्वभाव की पहचान होती है। (**बोधि दुर्लभ भावना**) प्राणी-मात्र के प्रति मैत्री भाव जागते हैं। (**मैत्री भावना**) गुणवान व्यक्तियों के गुणानुवाद में अनुराग पैदा होता है। (**प्रमोद भावना**) आर्त्त जीव दु:ख से मुक्त बनें, यह करुणा विकसित होती है। (**कारुण्य भावना**) दुश्चेष्टा करने वाले लोगों के प्रति उपेक्षा भाव यानी माध्यस्थ भाव पैदा होता है। (**माध्यस्थ भावना**) अनुप्रेक्षा में चित्त प्रसन्न होता है। मोह का क्षय होता है। अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह आदि वृत्तियों को स्थैर्य देने के लिए विशिष्ट संस्कार निर्मित होते हैं।

भगवान ने जीवन में चार चीजें दुर्लभ बतलाई हैं, उनमें श्रद्धा भी एक है। श्रद्धा परम दुल्लहा – मनुष्य जन्म मिल जाता है, धर्म श्रवण का भी अवसर उपलब्ध हो जाता है। किन्तु धर्म पर श्रद्धा होनी सरल नहीं। जब तक दृष्टिकोण मिथ्या होगा, श्रद्धा दुर्लभ है। साधना के क्षेत्र में श्रद्धा के बिना आत्मविकास सम्भव ही नहीं। अत: दृष्टिकोण का सम्यक् होना, लक्ष्य के प्रति गहरी आस्था जागना आत्मविकास की पहली शर्त है। साधना से पहले मनुष्य निश्चित बदल सकता है। इस बात का दृढ़ विश्वास मन में पैदा हो, तब किया हुआ पुरुषार्थ फलीभूत होता है।

आत्मना युद्धस्व – बुरे संस्कारों का परिष्कार करने के लिए व्यक्ति को आत्मयुद्ध में उतरना होता है। भगवान महावीर ने बाहरी युद्ध की अनुमति नहीं दी, क्योंकि वहां हिंसा है, भय है, परिग्रह है, शोषण है, औरों के अधिकारों का हनन है। ऐसे युद्ध में व्यक्ति विजेता होकर भी हार जाता है। आत्मयुद्ध के लिए उनका प्रखर स्वर गूंजा – जुद्धारिह खलु दुल्लहा।[2]

---

1. तत्वार्थ सूत्र 19/7
2. आयारो 5/46

नमि राजर्षि से ब्राह्मण ने कहा – अनेक राजाओं की आपके राज्य पर दृष्टि टिकी है। आप संन्यासी हो जायेंगे तो राज्य की सुरक्षा कौन करेगा ? अच्छा हो, आप संन्यासी बनने से पहले शत्रु को युद्ध में पराजित कर दें। राजर्षि ने अध्यात्म की भाषा में कहा – मैं युद्धभूमि में लड़े जाने वाले युद्ध में विश्वास नहीं करता। इस बाहरी युद्ध से ज्यादा महत्त्वपूर्ण है आत्मा से युद्ध करना, क्योंकि दुर्जेय संग्राम में दस लाख योद्धाओं को जीतने की अपेक्षा एक अपनी आत्मा को जीतना कहीं अधिक बड़ी विजय है। आत्मा यानी इन्द्रियां, मन और कषाय। चार कषाय, पांच इन्द्रियां और एक मन पराजित कर आत्मा को विजित करना ही साधना का सही पथ है।[1]

त्रिसूत्री अभ्यास – भावात्मक विकास के लिए त्रिसूत्री अभ्यास जरूरी है :–

1. अइयं पडिक्कमामि – अतीत का प्रतिक्रमण
2. पडिपुण्ण संवरेमि – वर्तमान का संवर
3. अणागयं पच्चक्खामि – अनागत का प्रत्याख्यान।

साधक अतीत का प्रतिक्रमण करता है यानी कृतभूलों का प्रायश्चित्त करता है। बुरे आचरण से निवृत्त होकर अच्छे आचरण में प्रवृत्त होता है। पीछे मुड़कर देखता है – "किं मे कडं, किंच मे किच्च सेसं, किं सक्कणिज्जं न समायरामि। मैंने क्या किया, क्या करणीय शेष है और ऐसा क्या है जो मैं सामर्थ्य होते हुए भी नहीं कर सकता ?[2] इस आत्मदर्शन की प्रक्रिया से मन की पर्तें उतरती हैं। मनोग्रंथियां खुलती हैं। मनुष्य अपने कृतदोषों की आलोचना करता है। मन शिशु-सा निश्छल बन जाता है। आलोचना करते समय यदि साधक अपने आपको बचाव में कहीं छुपा ले तो वह विराधक बन जाता है।

अतीत के प्रतिक्रमण के बाद साधक वर्तमान का संवर करता है यानी वर्तमानजीवी बनता है। न अतीत की स्मृति, न भविष्य की कल्पना। जीवन में अप्रमत्तता आती है। वर्तमान में संवर का अर्थ है – असत् संस्कारों को प्रवेश न देना। अनागत के प्रत्याख्यान में साधक संकल्पित होता है कृतदोषों की पुनरावृत्ति न करने के लिए।

धर्मध्यान में प्रवेश – लेश्या के माध्यम से हमें यह अवबोध होता है कि आर्त्त और रौद्रध्यान मानसिक ग्रंथियां बनाने में निमित्त बनते हैं। प्रतिक्षण प्रिय के वियोग और अप्रिय के संयोग का चिन्तन रहता है। व्याधिजन्य दु:ख और पीड़ा से मुक्ति पाने की तड़प रहती है। भविष्य के कमनीय कामों की पूर्ति का चिन्तन तथा क्रूरता के साथ हिंसा का संकल्प, असत्य-संभाषण, चौर्यवृत्ति, परिग्रह की रक्षा में संलग्न चित्त की वृत्ति व्यक्तित्व को खण्डित कर देती है। लेश्या विशुद्धि होने पर चेतना आर्त्त और रौद्रध्यान से मुक्त हो धर्म-ध्यान में प्रवेश करती है।

---

1. उत्तराध्ययन 9/34-36; 2. दसवैकालिक चूलिका 2/12

धर्मध्यान चेतना के अनावरण में महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। इसमें विचय ध्यान की परम्परा कर्मसंस्कारों को परिष्कृत करती है। इससे चेतन मन ही नहीं, अचेतन मन के भी संस्कार मिटते हैं। आज्ञा विचय से वीतरागभाव की प्राप्ति होती है। अपाय विचय से राग-द्वेष, मोह और उनसे उत्पन्न होने वाले दु:खों से मुक्ति मिलती है।

विपाक विचय से दु:ख कैसे होता है, क्यों होता है, किस प्रवृत्ति का क्या परिणाम होता है ? इनकी जानकारी प्राप्त होती है। संस्थान विचय से मन अनासक्त बनता है। विश्व की उत्पाद, व्यय और ध्रुवता जान ली जाती है। उसके विविध परिणाम/परिवर्तन जान लिए जाते हैं। प्रत्येक वस्तु की क्षणभंगुरता से परिचित होने पर मनुष्य घृणा, शोक आदि विकारों से विरत होता है। धर्मध्यान से प्राणियों का चित्त शुद्ध होता है। लेश्या शुद्ध होती है। अतीन्द्रिय (आत्मिक) सुख की उपलब्धि होती है।[1]

भाव चिकित्सा के परिप्रेक्ष्य में मनोविज्ञान ने दमन, शमन, उदात्तीकरण और मार्गान्तरीकरण जैसी कई मनोरचनाओं का उल्लेख किया है। बदलाव की प्रक्रिया में लेश्या सिद्धान्त इन सभी विधियों को मान्य करता है।

दमन नहीं, शोधन जरूरी

व्यक्तित्व बदलाव में दमन नहीं, शोधन की प्रक्रिया आवश्यक है, क्योंकि दमन में स्थिरता नहीं। जिन बुरी आदतों को दबाकर आगे बढ़ते हैं, कुछ समय बाद पुन: वे और अधिक तीव्रता से उभर कर सामने आती हैं। संवेगात्मक व्यक्तित्व कभी दमन से नहीं बदलता।

नियंत्रण स्नायविक स्तर पर हो सकता है, पर आत्मशोधन भावात्मक स्तर पर ही मान्य होता है। चित्त का संबंध स्थूल शरीर से है जबकि लेश्या का संबंध भाव से है, क्योंकि जिनके मस्तिष्क, सुषुम्ना, नाड़ी संस्थान है, उनके भी लेश्या होती है और जिन जीवों में सिवाय स्पर्शन इन्द्रिय के कुछ भी नहीं, उनके भी होता है। इसलिए लेश्या का सीधा संबंध भाव जगत से जुड़ा है।

व्यक्तित्व के तीन पहलू हैं – भाव, विचार और व्यवहार। व्यवहार कायिक प्रवृत्ति है। विचार मानसिक प्रवृत्ति है। दोनों स्नायुओं से संबंधित हैं। इसलिए इनका नियंत्रण सम्भव है। मगर भाव लेश्या से जुड़ा है, अत: वहां नियंत्रण नहीं, शोधन जरूरी है।

लेश्या-शोधन की मीमांसा में जैन-दर्शन का एक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त द्रष्टव्य है। योगजन्य प्रवृत्ति अर्थात् क्रियात्मक आचरण का त्याग किया जा सकता है, पर आन्तरिक दोषों – प्रमाद और कषाय का कभी प्रत्याख्यान नहीं होता। तात्पर्य यह है कि स्नायविक क्रिया तक त्याग और नियंत्रण की बात है, उससे आगे सूक्ष्म जगत में भावों की चिकित्सा लेश्या की विशुद्धता पर आधारित है।

---

1. सम्बोधि 12/40

जैन-दर्शन ने गुणस्थानों के आरोह-अवरोह की व्याख्या आत्म-विशुद्धि के आधार पर की। उसने दो श्रेणियां बतलाईं – उपशम श्रेणी और क्षायिक श्रेणी। उपशम श्रेणी वाला प्राणी अपनी मूल प्रवृत्तियों को, संवेगों को, भावों को दबाते हुए दसवें गुणस्थान तक पहुंचाता है और वहां अचानक आवेगों-संवेगों का ऐसा ज्वार उठता है कि ऊपर जाने के बजाय सीधा नीचे आ जाता है। क्षायिक श्रेणी वाला दसवें गुणस्थान से सीधा बारहवें गुणस्थान में चला जाता है। यह दमन और शमन की बात है। व्यक्तित्व बदलाव में वृत्तियों का क्षय होना जरूरी है।

उदात्तीकरण मौलिक मनोवृत्ति के दिशा-बदलाव की प्रक्रिया है। एक व्यक्ति में काम की मनोवृत्ति है। जब यह वृत्ति उदात्त बनती है तब कला, सौन्दर्य आदि अनेक विशिष्ट अभिव्यक्तियों में बदल जाती है। लेश्या के सन्दर्भ में इसे क्षयोपशम कहा जा सकता है। व्यक्ति के भीतर मोह, राग, द्वेष आदि जितने भी दोष हैं उनका परिशोधन, उदात्तीकरण किया जा सकता है।

जैनाचार्यों ने दो शब्द दिए – प्रशस्त राग और अप्रशस्त राग। यद्यपि राग अच्छा नहीं होता, परन्तु धर्म, गुरु, इष्टदेव के प्रति उत्पन्न राग को प्रशस्त कहा गया। 'धम्माणुराग' शब्द इसी का निर्वाहक है। यह राग का उदात्तीकरण है।

मार्गान्तरीकरण में मूल प्रवृत्ति का रास्ता बदल दिया जाता है। जैन-दर्शन की भाषा में इसे प्रतिपक्षी भावना कहते हैं। इस पद्धति में क्रोध को क्षमा में, मान को विनम्रता में, माया को ऋजुता में, लोभ को सन्तोष में बदल देते हैं।[1] यह दोषों का मार्गान्तरीकरण है। बुरी आदतों को अच्छी आदतों में ढालने का सफल प्रयत्न है। जब शुभलेश्या में प्रवेश होता है तो जीने की सारी दिशा ही बदल जाती है। अतः कहा जा सकता है कि लेश्या चरित्र निर्माण की संवाहिका है।

लेश्या बदलाव की प्रक्रिया में लेश्या ध्यान (रंगध्यान) सशक्त भूमिका निभाता है। इस विषय पर विशेष रूप से "लेश्या और ध्यान" वाले अध्याय में विस्तृत चर्चा की गई है। •

1. दसवैआलियं 8/38

सप्तम अध्याय

जैन साधना पद्धति में ध्यान

* ध्यान क्या ?
* ध्यान के भेद-प्रभेद
* ध्यान की पूर्व तैयारी
* प्रेक्षाध्यान
* देखने और जानने की प्रक्रिया
* कायोत्सर्ग
* अन्तर्यात्रा
* श्वासप्रेक्षा
* शरीरप्रेक्षा
* चैतन्यकेन्द्रप्रेक्षा
* अनुप्रेक्षा

सप्तम अध्याय

जैन साधना पद्धति में ध्यान

चेतना का उत्कर्ष लेश्या की विशुद्धता पर निर्भर है। जब-जब लेश्या में मलिनता आती है, हमारी चेतना अपकर्ष की ओर गतिशील हो जाती है। जैन साधना पद्धति में स्वाध्याय, तप आदि अनेक उपायों में ध्यान को लेश्या-विशुद्धि का एक महत्त्वपूर्ण उपाय माना गया है। भगवान महावीर का सम्पूर्ण जीवन ध्यान और तपस्या के विशिष्ट प्रयोगों की प्रयोगभूमि रहा है। आचारांग सूत्र के नौवें अध्ययन में हमें इस विषय की एक संक्षिप्त झलक मिलती है। गणधर गौतम के जिज्ञासा करने पर भगवती सूत्र में भी भगवान महावीर ने अपने ध्यान प्रयोगों की संक्षिप्त चर्चा की है। सूत्रकृतांग सूत्र में भगवान महावीर की श्रेष्ठ ध्याता के रूप में स्तुति की गई है – अणुत्तरं झाणवरं झियाइ।

जैन आगम ग्रंथों में हमें कोई ऐसा आगम ग्रंथ उपलब्ध नहीं होता जिसमें विस्तार से ध्यान का विवेचन किया गया हो। नन्दी सूत्रकार ने आगमों की सूची प्रस्तुत करते हुए ध्यान-विभक्ति नाम के एक स्वतंत्र ग्रंथ का नामोल्लेख किया है। पर संप्रति वह ग्रंथ अनुपलब्ध है। आज हमें आगमों एवं उनके व्याख्या साहित्य में ध्यान विषयक जो सामग्री उपलब्ध है, वह प्रकीर्ण रूप में ही है। आगमों में अनेक स्थलों पर मुनियों के "ध्यानकोष्ठोपगत" विशेषण का प्रयोग किया गया है। केवलज्ञान की प्राप्ति के लिए शुक्लध्यान में अवस्थिति अनिवार्य बतलाई गई है। पूर्वों का विशिष्ट ज्ञान भी तब ही प्राप्त होता है, जब साधक ध्यान की विशिष्ट भूमिकाओं में आरोहण करने की योग्यता प्राप्त कर लेता है। विशिष्ट ध्यान के कारण ही साधक चौदह पूर्वों की विशाल ज्ञानराशि का अन्तर्मुहूर्त्त में परावर्तन कर सकता है। संवरध्यानयोग शब्द का प्रयोग भी हमें प्राचीन साहित्य में उपलब्ध होता है।

भगवान महावीर की यह परम्परा विक्रम की 8वीं शताब्दी तक प्रायः अपने मूलरूप में रही। आचार्य कुन्दकुन्द, उमास्वाति, भद्रबाहु, पूज्यपाद, योगेन्दु जिनभद्रगणी, क्षमाश्रमण आदि का साहित्य इस दृष्टि से हमारे लिए एक दिशा-सूचक यंत्र के रूप में है। प्रवचनसार, समयसार, तत्त्वार्थसूत्र, ध्यानशतक, कायोत्सर्ग शतक आदि में ध्यान की जो चर्चा हुई है, उसका मुख्य आधार आगमों में वर्णित ध्यान विषयक वर्गीकरण ही है।

आचार्य हरिभद्र एक बहुश्रुत आचार्य थे। उन्हें जैन परम्परा के साथ-साथ अन्य समकालीन परम्पराओं का भी अधिकृत ज्ञान था। अपने साहित्य सृजन में उन्होंने समन्वयात्मक दृष्टि का पूरा-पूरा उपयोग किया। फलतः जैन साधना पद्धति के साथ अन्यान्य पद्धतियों की भी कई बातें जुड़ गईं। कालान्तर में समन्वयात्मक दृष्टि के अभाव में आगे चलकर जैन साधना पद्धति की मौलिकता गौण हो गई। हठयोग, तंत्र साधना आदि का प्रभाव भी प्रत्यक्ष रूप में जैन साहित्य में दृष्टिगत होने लगा। पिंडस्थ, पदस्थ आदि ध्यान पार्थिवी, आग्नेयी आदि धारणाओं का प्रयोग एवं प्राणायाम के विविध प्रकारों का समावेश इस विषय का स्पष्ट निर्देशन है। जैनधर्म में अनेक साधना पद्धतियां हैं और उनके ध्यान के प्रयोग हैं। उनमें प्रेक्षाध्यान भी एक ध्यान है जिसे जैन-दर्शन के आधार पर विकसित किया गया है।

जैन सम्प्रदाय तेरापंथ के आचार्य श्री तुलसी (गणाधिपति) अपने समय के एक क्रान्तिकारी आचार्य हैं। उनकी दृष्टि प्राचीनता और नवीनता दोनों का बराबर एक साथ समाकलन करती रही है। आचार्यश्री ने देखा कि भगवान बुद्ध की ध्यान परम्परा विपश्यना साधना पद्धति के रूप में आज भी चल रही है, तब उन्हीं के समकालीन भगवान महावीर की ध्यान परम्परा जैनों ने क्यों विस्मृत कर दी ? इस प्रश्न के साथ एक संकल्प उनके अन्तःकरण में उभरा कि हमें भगवान महावीर की साधना पद्धति का संधान करना है। उन्होंने अपने शिष्य मुनि नथमलजी जो अब आचार्य महाप्रज्ञ बन चुके हैं, को अपना संकल्प बताया और उन्हें इस कार्य के लिए नियुक्त किया। वे आगमों के अनुशीलन, वर्तमान में प्रचलित ध्यान परम्पराओं के अध्ययन एवं वैज्ञानिक दृष्टि से अध्ययन कर निष्कर्ष तक पहुंचे।

कहा जा सकता है कि आगमों के गहरे अध्ययन के बाद निरीक्षण, परीक्षण, प्रयोग एवं अनुभव के साथ इस ध्यान पद्धति को आध्यात्मिक एवं वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुति दी गई है।

प्रेक्षाध्यान की चर्चा करने से पूर्व हमें यह भी जान लेना जरूरी है कि ध्यान क्या है? वह क्यों किया जाता है? ध्याता की क्या-क्या योग्यताएं हैं, आदि।

ध्यान क्या ?

जैन साधना पद्धति का मूल आधार है – संवर और निर्जरा। उनका मार्ग है तप और तप का प्रधान अंग है – ध्यान। इसलिए मोक्ष का मुख्य साधन ध्यान है।[1] जैन योग साधना पद्धति में ध्यान को सर्वोपरि माना है। इसे आत्मदर्शन की प्रक्रिया कहा है। जैसे पाषाण में स्वर्ण और काष्ठ में अग्नि बिना प्रयोग नहीं दीखती, वैसे ही बिना ध्यान आत्मदर्शन नहीं होता।

---

1. झाणज्झयणं 96

धर्म का अस्तित्व बिना ध्यान सम्भव नहीं। धर्म के क्षेत्र में ध्यान का वही स्थान है जो शरीर में मस्तिष्क का है। मनुष्य का शरीर काट देने पर उसकी मृत्यु हो जाती है, वृक्ष के मूल को उखाड़ देने पर वह धराशायी हो जाता है, वैसे ही ध्यान को छोड़ देने पर धर्म निर्जीव हो जाता है।[1]

जैन साहित्य में ध्यान साधना पद्धति की सर्वांगीण व्याख्या उपलब्ध है। ध्यान की परिभाषा करते हुए लिखा है कि ध्यान की दो अवस्थाएं हैं – अस्थिर और स्थिर। अस्थिर अवस्था को चित्त और स्थिर अवस्था को ध्यान कहते हैं।

वस्तुत: मन की दो अवस्थायें हैं – चित्त और ध्यान।[2] जब मन गुप्त, एकाग्र या निरुद्ध होता है तब उसकी संज्ञा ध्यान हो जाती है। भावना, अनुप्रेक्षा और चिन्ता – ये सब चित्त की अवस्थाएं हैं।

चित्त को किसी एक विषय पर केन्द्रित करना ध्यान है। यद्यपि चित्त को किसी एक वस्तु अथवा बिन्दु पर केन्द्रित करना कठिन है, क्योंकि यह किसी भी विषय पर अन्तर्मुहूर्त्त से ज्यादा टिक नहीं पाता[3] तथा एक मुहूर्त्त ध्यान व्यतीत हो जाने पर यह स्थिर नहीं रहता। यदि रह जाए तो वह चिन्तन कहलाएगा या आलम्बन की भिन्नता से दूसरा ध्यान कहलायेगा।

ध्यान शब्द 'ध्यै' चिन्तायाम् धातु से निष्पन्न होता है। शब्द की उत्पत्ति की दृष्टि से ध्यान का अर्थ चिन्तन होता है किन्तु प्रवृत्तिलभ्य अर्थ उससे भिन्न है। ध्यान का अर्थ चिन्तन नहीं। तत्त्वार्थ सूत्र में एकाग्र चिन्ता तथा शरीर, मन और वाणी के निरोध को ध्यान कहा है।[4] इससे यह ज्ञात होता है कि जैन परम्परा में ध्यान का संबंध केवल मन से ही नहीं माना गया। वह मन, वाणी और शरीर इन तीनों से संबंधित था। इस अभिमत के आधार पर उसकी पूर्ण परिभाषा इस प्रकार बनती है – शरीर, वाणी और मन की एकाग्र प्रवृत्ति तथा उनकी निष्प्रकम्प दशा ध्यान है।[5]

भद्रबाहु के सामने प्रश्न उपस्थित हुआ – यदि ध्यान का अर्थ मानसिक एकाग्रता है तो इसकी संगति जैन परम्परा सम्मत उस प्राचीन अर्थ से शरीर, वाणी और मन की एकाग्र प्रवृत्ति या निरेजनदशा ध्यान के साथ कैसे होगी ? आचार्य भद्रबाहु ने उत्तर दिया – शरीर में वात, पित्त और कफ – ये तीन धातुएं होती हैं। उनमें से जो प्रचुर होता है, उसी का व्यपदेश किया जाता है – जैसे वायु कुपित है। जहां वायु कुपित है, ऐसा निर्देश किया जाता है, उसका अर्थ यह नहीं है कि वहां पित्त और श्लेष्म नहीं है। इसी प्रकार मन की एकाग्रता ध्यान है, ऐसा कहना परिभाषा की प्रधानता की दृष्टि से है।[6]

---

1. इसिभासियाइं, 22/14; 2. झाणज्झयणं, 2; 3. आवश्यक निर्युक्ति, गाथा 1463
4. तत्वार्थ सूत्र, 9/27; 5. आवश्यक निर्युक्ति, गाथा 1467-78; 6. वही, 1468-69

निष्कर्ष की भाषा में कहा जा सकता है कि मन सहित वाणी और काया का जो व्यापार होता है, उसका नाम भावक्रिया है। जो भावक्रिया है, वह ध्यान है।

चित्त को किसी एक शुभ भाव में स्थिर करना ध्यान कहा गया है। जब तक चित्त स्थिर नहीं होगा, संवर निर्जरा नहीं हो सकती और बिना संवर निर्जरा के परम ध्येय की प्राप्ति नहीं होती। ध्यान या समाधि का निरूपण प्रकारान्तर से इस प्रकार भी किया जा सकता है कि जिसमें सांसारिक समस्त कर्मबन्धनों का नाश होता हो, ऐसे शुभ चिन्तन स्वरूप विमर्श को ध्यान कहा जाता है।[1] तत्वानुशासन में तप, समाधि, धीरोध, स्वान्तनिग्रह, अन्त:संलीनता, साम्यभाव, समरसीभाव, सवीर्यध्यान आदि शब्द ध्यान के पर्याय रूप में प्रयुक्त हुए हैं।[2] ध्यान का मुख्य लक्ष्य है – चित्त की निर्मलता, एकाग्रता, जागरूकता।

ध्यान के भेद-प्रभेद

जैन आगमों एवं योग संबंधी अन्य जैन वाङ्मय में ध्यान के प्रमुख चार प्रकारों का उल्लेख मिलता है। ध्यान के चार प्रकार बतलाये गए हैं :– आर्त्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्मध्यान और शुक्लध्यान। प्रथम दो ध्यान संसार के कारण हैं, अन्तिम दो ध्यान मुक्ति के कारण हैं। तत्त्वानुशासन में भी उल्लेख है कि प्रथम दो ध्यान अप्रशस्त और अशुभ हैं तथा अन्तिम दो ध्यान प्रशस्त और शुभ हैं, क्योंकि अप्रशस्त ध्यान दु:ख देने वाले तथा प्रशस्त ध्यान मोक्ष प्राप्ति के साधन हैं।[3] आर्त्तध्यान मनुष्य गति का, रौद्रध्यान नरक गति का, धर्मध्यान मनुष्यगति का तथा शुक्लध्यान देवगति का कारण माना गया है।[4]

आर्त्तध्यान – आर्त्तध्यान उसे कहते हैं जिसमें प्रिय का वियोग और अप्रिय का संयोग होने पर चिन्तन की एकाग्र धारा होती है। वेदना में रोग आदि कष्टों में व्याकुल होना और निदान-वैषयिक सुख प्राप्ति के लिए दृढ़ संकल्प करना भी आर्त्तध्यान कहलाता है।[5]

स्थानांग में भी आर्त्तध्यान के चार लक्षण बताये हैं[6] –

1. आक्रन्दन करना 2. आंसू बहाना 3. शोक करना 4. विलाप करना।

आर्त्तध्यान राग, द्वेष और मोह से कलुषित प्राणी के होता है। वह अपने द्वारा किए गए भले-बुरे कार्यों की प्रशंसा करता है तथा धन, सम्पत्ति के उपार्जन में उद्यत रहता हुआ विषयाक्त होकर धर्म की उपेक्षा करता है। आर्त्तध्यान संसार रूप वृक्ष का बीज है। तिर्यञ्च गति का मूल कारण है। इस ध्यान के कारण जीव हमेशा भयभीत, शोकाकुल, संशयी, प्रमादी, कलहकारी, विषयी, निद्राशील, शिथिल तथा मूर्च्छा ग्रस्त रहता है।[7]

---

1. योगप्रदीप 138; 2. तत्वानुशासन पृ. 61; 3. तत्वानुशासन 34
4. ध्यानशतक टीका, 5; 5. झाणज्झयणं 6-9; 6. ठाणं 4/62
7. झाणज्झयणं 13-14

वह विवेकशून्य होता है, राग-द्वेष के कारण संसार भ्रमण करता है। ऐसे कुटिल, अशुभ चिन्तन के कारण उसकी अशुभ लेश्याएं कृष्ण, नील और कापोत होती हैं। ऐसे ध्यानी का मन आत्मा से हटकर सांसारिक वस्तुओं पर केन्द्रित रहता है और इच्छित या प्रिय वस्तुओं के प्रति अतिशय मोह के कारण उनके वियोग में या प्राप्त न होने पर दु:खित होता है। इसलिए इस ध्यान को अशुभ कहा गया और इसकी स्थिति छट्ठे गुणस्थान तक होती है।

रौद्रध्यान – हिंसा, असत्य, चोरी और विषय-भोगों का रक्षा के निमित्त होने वाली एकाग्र चिन्ता रौद्रध्यान है। रौद्रध्यान का अर्थ है क्रूरता। जिसका चित्त क्रूर होता है, जो प्रतिशोध के भाव रखता है, हिंसा की भावधारा सतत बहती रहती है, दूसरों को गिराने, कुचलने में रस लेता है। असत्य, चोरी, संग्रह, दूसरों को ठगने में जो कुशल होता है, वह रौद्रध्यान का अधिकारी होता है।[1]

आगम साहित्य में रौद्रध्यान के चार प्रकार बतलाए हैं[2] –

1. **हिंसानुबन्धी** – अतिशय क्रोधरूप पिशाच के वशीभूत होकर निर्दय अन्त:करण वाले जीव के जो प्राणियों के वध-वैध, बन्धन, दहन, अंकन और मारण आदि का प्रणिधान जैसे कार्यों को न करते हुए भी उनके प्रति जो दृढ़ विचार होता है, वह हिंसानुबन्धी रौद्रध्यान है।
2. **मृषानुबन्धी** – ऐसा मायाचारी और प्रवंचना के पाप से युक्त अन्त:करण वाले जीव के पिशुन, असभ्य, असद्भूत और भूतघात आदि रूप वचनों में प्रवृत्त न होने पर भी जो उनके प्रति दृढ़ अध्यवसाय होता है – वह मृषानुबन्धी ध्यान है। असत्य, झूठी कल्पनाओं से ग्रस्त होकर दूसरों को ठगना, धोखा देने का चिन्तन करना मृषावाद रौद्रध्यान है। मृषानुबन्धी व्यक्ति मनोवांछित फल-प्राप्ति के लिये सत्य को झूठ या झूठ को सत्य बनाकर लोगों को ठगता है।
3. **स्तेयानुबन्धी** – जो तीव्र क्रोध व लोभ से व्याकुल रहता है, जिसका चित्त (विचार), चेतन-अचेतन द्रव्य के अपहरण में संलग्न रहता है, चोरी संबंधी कार्यों, उपदेशों अथवा चोर प्रवृत्तियों में कुशलता दिखाता है, वह स्तेयानुबन्धी रौद्र ध्यान है। इस ध्यान में चौर्य कर्म के लिये निरन्तर व्याकुल रहना, चिन्तित होना या दूसरों की सम्पत्ति के हरण से हर्षित होना या दूसरों की सम्पत्ति का हरण करने का उपाय बताना आदि दुष्प्रवृत्तियां आती हैं। यह अतिशय निन्दा का कारण है।
4. **संरक्षणानुबन्धी** – क्रूर परिणामों से युक्त होकर तीक्ष्ण अस्त्र-शस्त्रों से शत्रुओं को नष्ट करके ऐश्वर्य तथा सम्पत्ति को भोगने की इच्छा रखना या शत्रु से भयभीत होकर अपने धन, स्त्री, कुपुत्र राज्यादि के संरक्षणार्थ तरह-तरह की चिन्ता करना संरक्षणानुबन्धी रौद्र ध्यान है।

---

1. ज्ञानावर्ण 26/2; 2. ठाणं 4/63

आगम में रौद्रध्यान के निम्न लक्षणों का उल्लेख किया गया है[1] –

उत्सन्नदोष – प्राय: हिंसा आदि से प्रवृत्त रहना।

बहुदोष – हिंसा आदि की विविध प्रवृत्तियों में संलग्न रहना।

अज्ञानदोष – अज्ञानवश हिंसा आदि में प्रवृत्त होना।

आमरणान्तदोष – मरणान्तक हिंसा आदि करने का अनुपात न करना।

इस प्रकार रौद्रध्यानी सदा दूसरों को पीड़ा पहुंचाने के उपाय सोचता रहता है। फलत: वह भी दूसरों के दु:ख से पीड़ित होता है, ऐहिक, पारलौकिक भय से आतंकित होता है। अनुकम्पा से रहित, नीच कर्मों में निर्लज्ज एवं पाप में आनन्द मनाने वाला होता है।

रौद्रध्यान भी राग-द्वेष और मोह से व्याकुल जीव के होता है। वह संसार को विस्तार देने वाला तथा नरकगति का मूल कारण है। रौद्रध्यान को प्राप्त जीव के कर्मविपाक से होने वाली तीन प्रथम अशुभ लेश्याएं अति संक्लिष्ट होती हैं। यह ध्यान प्रथम पांच गुणस्थान तक होता है।[2]

आर्त्त और रौद्रध्यान साधना की दृष्टि से उपादेय नहीं है। इन्हें ध्यान से जोड़ने का एकमात्र अर्थ यही रहा कि आर्त्त-रौद्र परिणामों द्वारा भी चित्त एकाग्र बनता है। सुख की भांति दु:ख भी व्यक्ति को एक ही बिन्दु पर चिन्तन करने के लिए विवश कर देता है। वास्तव में ध्यान से इनका संबंध नहीं।

धर्मध्यान – धर्मध्यान आत्म-विकास का प्रथम चरण है। स्थानांगसूत्र में इस ध्यान को श्रुत, चारित्र एवं धर्म से युक्त कहा है।[3] धर्मध्यान उसके होता है, जो दस धर्मों का पालन करता है, इन्द्रियजयी होता है तथा प्राणियों के प्रति करुणाभाव रखता है।[4]

ज्ञानार्णव में धर्मध्यान के अधिकारी की विशेषताएं बतलाते हुए कहा है कि धर्मध्यान का ध्याता यथार्थवस्तु का ज्ञान और संसार के वैराग्य सहित हो। इन्द्रियजयी, स्थिरचित्त, मुक्ति का इच्छुक हो, आलस्य रहित उद्यमी हो, शांतपरिणामी हो, धैर्यवान तथा प्रशंसनीय हो।[5]

ध्येय की दृष्टि से धर्मध्यान के चार भेद होते हैं – आज्ञा, अपाय, विपाक और संस्थान-विचय ध्यान।[6]

1. **आज्ञाविचय** – किसी भी तर्क से बाधित न होने वाली एवं पूर्वापर विरोध से रहित सर्वज्ञों की आज्ञा को सन्मुख रखकर तात्त्विक रूप से अर्थों का चिन्तन करना आज्ञाविचय कहलाता है। आगमश्रुत में प्रतिपादित तत्त्व को ध्येय बनाकर उसमें एकाग्र होना धर्मध्यान का ध्येय है।

---

1. ठाणं 4/64; 2. झाणज्झयणं - 25; 3. ठाणं 4/247
4. तत्वार्थसूत्र स्वोपज्ञभाष्य 9/39; 5. ज्ञानार्णव 27/3; 6. ठाणं 4/65

2. **अपायविचय** – जिस ध्यान में राग-द्वेष, क्रोध आदि कषायों तथा प्रमाद आदि विकारों से उत्पन्न होने वाले कष्टों तथा दुर्गति का चिन्तन किया जाता है, वह अपायविचय कहलाता है। अपायविचय ध्यान करने वाला इहलोक परलोक संबंधी अपायों को परिहार करने के लिए उद्यत हो जाता है और इसके फलस्वरूप पापकर्मों से पूरी तरह निवृत्त हो जाता है, क्योंकि पापकर्मों का त्याग किए बिना अपाय से बचा नहीं जा सकता।
3. **विपाकविचय** – जिस ध्यान से प्रतिक्षण उत्पन्न होने वाले विभिन्न प्रकार के कर्मफल के उदय का चिन्तन किया जाता है, वह विपाकविचय है।
4. **संस्थानविचय** – ध्यान में सम्पूर्ण लोक संस्थान पर चिन्तन होता है। द्रव्यों की विविध आकृतियों और पर्यायों को ध्येय बनाकर उसमें ध्याता एकाग्र होता है।

शुक्लध्यान – शुक्लध्यान आत्मा की अत्यन्त विशुद्धावस्था को कहा जाता है। इस ध्यान से मन की एकाग्रता के कारण आत्मा में परम विशुद्धता आती है और कषायों-रागभावों अथवा कर्मों का सर्वथा परिहार हो जाता है। शुक्लध्यान कषायों के सर्वथा उपशांत होने पर होता है तथा चित्त क्रिया और इन्द्रियों से रहित होकर ध्यान धारणा के विकल्प से मुक्त होता है।[1]

शुक्लध्यान के चार प्रकार हैं[2] :-

1. **पृथकत्ववितर्क सविचारी** – ध्यान के आलम्बन एवं सालम्बन दो भेद होते हैं। ध्यान में साम्रगी का परिवर्तन भेद दृष्टि एवं अभेद दृष्टि से होता भी है और नहीं भी होता है। जब एक द्रव्य से अनेक पर्यायों का अनेक दृष्टियों-नयों से चिन्तन किया जाता है और पूर्व श्रुत का आलम्बन किया जाता है तथा शब्द से अर्थ और अर्थ से शब्द में एवं मन, वचन और काया में से एक-दूसरे में संक्रमण नहीं किया जाता है, उस स्थिति को "पृथकत्ववितर्क सविचारी" कहा जाता है।
2. **एकत्ववितर्क अविचारी** – जब एक द्रव्य के किसी एक पर्याय का अभेद दृष्टि से चिन्तन किया जाता है और पूर्वश्रुत का आलम्बन लिया जाता है तथा जहां शब्द, अर्थ और मन, वचन, काया में से एक-दूसरे में संक्रमण नहीं किया जाता है, इस स्थिति को एकत्ववितर्क-अविचारी कहा जाता है।
3. **सूक्ष्मक्रिय-अनिवृत्ति** – जब मन और वाणी के योग का पूर्ण निरोध हो जाता है और काया के योग का पूर्ण निरोध नहीं होता – श्वासोच्छवास जैसी सूक्ष्म क्रिया शेष रहती है, उस अवस्था को सूक्ष्मक्रिय कहा जाता है। इसका निवर्तन पतन नहीं होता, इसलिए यह अनिवृत्ति है।

---

1. ज्ञानार्णव 41/4; 2. ठाणं 4/69

4. **समुच्छिन्नक्रिया अनिवृत्ति** – जब सूक्ष्म क्रिया का भी निरोध हो जाता है उस अवस्था को "समुच्छिन्न क्रिया" कहा जाता है। इसका निवर्तन नहीं होता, इसलिए यह अनिवृत्ति है।

आगम के उत्तरवर्ती साहित्य में ध्यान चतुष्टय का दूसरा वर्गीकरण भी मिलता है। उसके अनुसार ध्यान के चार भेद इस प्रकार हैं –

1. पिण्डस्थ 2. पदस्थ 3. रूपस्थ 4. रूपातीत। ये सभी धर्मध्यान के प्रकार हैं।

पिण्डस्थ ध्यान में भी शरीर के अवयव-सिर, भ्रू, तालु, ललाट, मुंह, नेत्र, कान, नासाग्र, हृदय और नाभि आदि आलम्बन होते हैं। इसमें धारणाओं का आलम्बन भी लिया जाता है। आचार्य शुभचन्द्र ने इसके लिए पांच धारणाओं का उल्लेख किया है[1] – पार्थिवी, आग्नेयी, मारुती, वारुणी और तत्त्वरूपवती।

पदस्थध्यान में मंत्र पदों का आलम्बन लिया जाता है।

रूपस्थ ध्यान में अर्हत् (प्रतिमा) का आलम्बन लिया जाता है। पिण्डस्थ, पदस्थ और रूपस्थ – इन तीनों ध्यानों में आत्मा से भिन्न वस्तुओं – पौद्गलिक द्रव्यों का आलम्बन लिया जाता है। इसलिए ये तीनों सालम्बन ध्यान के प्रकार हैं।

रूपातीत ध्यान का आलम्बन अमूर्त-आत्मा का चिदानन्दमय स्वरूप होता है। इसमें ध्याता, ध्यान और ध्येय की एकता है। यह निरालम्बन ध्यान है।

ध्यान की पूर्व तैयारी

सभी ध्यान शास्त्रों में ध्यान करने की कुछ मर्यादाओं की चर्चा की है, क्योंकि ध्यान से पूर्व उसकी पृष्ठभूमि बहुत जरूरी है। जैनाचार्यों ने भी इसी सन्दर्भ में ध्यान संबंधी बारह विषयों पर विचार किया है।

1. भावना 2. प्रदेश 3. काल 4. आसन 5. आलम्बन 6. क्रम 7. ध्येय 8. ध्याता 9. अनुप्रेक्षा 10. लिंग 11. लेश्या 12. फल।[2]

भावना – ध्यान की योग्यता उसी को प्राप्त होती है जो पहले भावना का अभ्यास कर लेता है। भावना का अर्थ है – शुभ विचारों से मन को भावित करना। ध्यान शतक में भावना के चार प्रकार बतलाए हैं[3] – 1. ज्ञानभावना 2. दर्शनभावना 3. चारित्रभावना 4. वैराग्य भावना।

प्रदेश – ध्यान के लिए एकान्त प्रदेश जरूरी है, क्योंकि भीड़ के बीच मन, इन्द्रियों को स्थिर करना सामान्य व्यक्ति के लिए सहज नहीं होता किन्तु एकान्तवास ही हो, ऐसा कोई ऐकान्तिक नियम नहीं। भगवान महावीर ने स्पष्ट कहा है कि साधना गांव में भी हो सकती है, अरण्य में भी। साधना का भाव न हो तो न गांव में सम्भव है और न अरण्य में।[4] महत्वपूर्ण तथ्य है – व्यक्ति के भीतर ध्यान करने की पूर्ण तैयारी हो।

---

1. ज्ञानार्णव 36/3; 2. झाणज्झयणं 28-29; 3. झाणज्झयणं 30
4. आचारांग 8/1/14, (अंगसुत्ताणि खण्ड-1, पृ. 58)

काल – ध्यान सार्वकालिक है। जब मन लग जाए, एकाग्रता उतर जाये तभी ध्यान का समय है। ध्यान शतक के अनुसार जब मन को समाधान मिले, वही समय ध्यान के लिये उपयुक्त है, उसके लिए दिन, रात्रि आदि किसी समय का नियम नहीं किया जा सकता है।

आसन – जिस आसन में ध्यान सहज लग जाए वही आसन उचित है। इस अभिमत के अनुसार ध्यान खड़े, बैठे और सोये किया जा सकता है। समग्रदृष्टि से ध्यान की निम्न अपेक्षाएं हैं –

1. बाधा रहित स्थान, 2. प्रसन्नकाल, 3. सुखासन, 4. सम, सरल और तनावरहित शरीर, 5. दोनों होठ 'अधर' मिले हुए, 6. नीचे और ऊपर के दांतों में थोड़ा अन्तर, 7. दृष्टि नासाग्र पर टिकी हुई, 8. प्रसन्नमुख, 9. मुंह पूर्व या उत्तर दिशा की ओर, 10. मंद श्वास-निश्वास।[1]

आलम्बन – ऊपर की चढ़ाई में जैसे रस्सी आदि के सहारे की जरूरत होती है, वैसे ही ध्यान के लिये भी कुछ आलम्बन आवश्यक होते हैं। धर्मध्यान, शुक्लध्यान के आलम्बनों का आगम में वर्णन मिलता है। धर्मध्यान के चार आलम्बन हैं – 1. वाचना – पढ़ाना, 2. प्रतिप्रच्छना – शंका निवारण के लिए प्रश्न पूछना, 3. परिवर्तना – पुनरावर्तन करना, 4. अनुप्रेक्षा – अर्थ का चिन्तन करना।

शुक्लध्यान के चार आलम्बन हैं – 1. क्षांति – क्षमा, 2. मुक्ति-निर्लोभता, 3. मार्दव – मृदुता, 4. आर्जव – सरलता।

क्रम – ध्यान के क्रम में शरीर की स्थिरता, वाणी का मौन तथा मन की एकाग्रता जरूरी है। योगशास्त्र में ध्यान का क्रम बताते हुए लिखा है कि पहले लक्ष्य वाले ध्यानों का अभ्यास करके फिर निरालम्बन ध्यान का अभ्यास करना चाहिए। पहले स्थूल ध्येयों का चिन्तन फिर क्रमशः सूक्ष्म-सूक्ष्मतर ध्येयों का चिन्तन करना चाहिए। पहले सालम्बन ध्यान का अभ्यास करके फिर निरालम्बन ध्यान में प्रवृत्त होना चाहिए। इस क्रम के साथ तत्त्ववेत्ता तत्त्व को प्राप्त कर लेता है।[2]

ध्येय – जैनाचार्यों ने ध्येय के संबंध में कहा कि ध्येय तीन प्रकार का होता है –

1. **परालम्बन** – इसमें दूसरे पदार्थ का आलम्बन लेकर चित्त को स्थिर करने का प्रयास किया जाता है। जैसे एक पुद्गल पर दृष्टि को स्थिर रखकर ध्यान करना।
2. **स्वरूपावलम्बन** – इसमें बाह्य दृष्टि बन्द कर कल्पना के नेत्रों से स्वरूप का चिन्तन किया जाता है। आचार्य हेमचन्द्र और आचार्य शुभचन्द्र ने पिण्डस्थ पदस्थ आदि जो ध्यान व धारणा के प्रकार बताये हैं, वे सभी इसी के अन्तर्गत आते हैं।
3. **निरालम्बन** – इसमें किसी प्रकार का अवलम्बन नहीं होता। मन विचारों से पूर्ण तथा शून्य होता है।

---

1. महापुराण, 21/60-64; 2. योगशास्त्र 10/5

किसी भी साधक का ध्यान यकायक निरालम्बन में नहीं लग पाता, इसलिए स्थूल इन्द्रिय गोचर पदार्थों से सूक्ष्म इन्द्रियों के अगोचर पदार्थों का चिन्तन करना आवश्यक माना गया है। ज्ञानार्णव तथा योगसार में लिखा है कि आलम्बन का ही दूसरा नाम ध्येय है।[1]

ध्याता – ध्यानशतक में ध्याता के विशेष गुणों का उल्लेख है।[2]

1. अप्रमाद – मद्यपान, विषय, कषाय, निद्रा और विकथा – ये पांच प्रमाद हैं। इनसे जो मुक्त होता है।
2. निर्मोह – जिसका मोह उपशान्त या क्षीण होता है।
3. ज्ञान सम्पन्न – जो ज्ञान सम्पदा से युक्त होता है वही व्यक्ति धर्मध्यान का अधिकारी होता है।

सामान्य धारणा यही रही है कि ध्यान का अधिकारी मुनि होता है। रायसेन और शुभचन्द्र ने भी यही मत प्रस्तुत किया। इसका अर्थ यह नहीं कि गृहस्थ के धर्मध्यान होता ही नहीं, अभिप्राय यह है कि उसके उत्तम स्तर का ध्यान नहीं होता। धर्मध्यान के तीन स्तर हो सकते हैं – उत्तम, मध्यम और अवर। उत्तमकोटि का ध्यान अप्रमत्त व्यक्तियों के होता है। मध्यम और अवर का ध्यान शेष सभी के हो सकता है। सिर्फ सीमा यही है कि इन्द्रिय और मन पर उनका निग्रह होना चाहिए।

अनुप्रेक्षा – अनुप्रेक्षा का अर्थ है – गहन चिन्तन, क्योंकि आत्मा में विशुद्ध चिन्तन होने से सांसारिक वासनाओं का अन्त होता है और साधक विकास करता हुआ मोक्षाधिकारी बनता है। अनुप्रेक्षा से कर्मों का बन्धन शिथिल पड़ता है। साधक को धर्मप्रेम, वैराग्य, चारित्र की दृढ़ता तथा कषायों के शमन हेतु इनका अनुचिन्तन करते रहना चाहिए, क्योंकि जिसकी आत्मा भावनायोग से शुद्ध होती है, वह सब दुखों से मुक्त होता है। इसके अनुसार भावना/अनुप्रेक्षा का जीव के साथ गहरा संबंध है।

लेश्या – प्राणी में भावों का उतार-चढ़ाव सदा रहता है। वे अच्छे या बुरे एक समान नहीं रह सकते। विचारों की शुद्धि, भावों की शुद्धि से लेश्या की शुद्धि भी निश्चित है। धर्मध्यान और शुक्लध्यान से प्रशस्त विचार प्रवाह चलता है। जिससे धर्मध्यानी में तेज, पद्म और शुक्ललेश्या जागती है।[3] शुक्लध्यानी में प्रथम दो चरण में शुक्ललेश्या, तीसरे चरण में परम शुक्ललेश्या और चौथे चरण में लेश्या का अभाव होता है।

लिंग – आन्तरिक गुणों की पहचान व्यक्ति की बाहरी अभिव्यक्ति है। ध्यान व्यक्ति की आन्तरिक प्रवृत्ति है, उसे देखा नहीं जा सकता किन्तु उस व्यक्ति की सत्य विषयक आस्था, पवित्रता देखकर उसकी पहचान की जा सकती है। इसीलिए सत्य की आस्था उसका लिंग है, लक्षण है, हेतु है। जैसे तर्कशास्त्र की भाषा में सुदूर प्रदेश में अग्नि होती है, उसे

---

1. ज्ञानार्णव 34/1, योगसार 98; 2. झाणज्झयणं, 63; 3. झाणज्झयणं, 66

आंखों से देखा नहीं जा सकता किन्तु धुंआ देखकर उसे जाना जा सकता है इसलिए धुंआ उसका लक्षण-लिंग है। आगमों में धर्मध्यान एवं शुक्लध्यान दोनों के लक्षण बतलाए हैं।

फल – धर्मध्यान का प्रथम फल है – आत्मज्ञान। कर्मक्षीण होने पर मोक्ष होता है और कर्म आत्मज्ञान से क्षीण होता है और आत्मज्ञान ध्यान से होता है। यह ध्यान का प्रत्यक्ष फल है।[1]

तत्त्वानुशासन में लिखा है कि ध्यान से ज्ञान, विभूति, आयु, आरोग्य, संतुष्टि, पुष्टि और शारीरिक धैर्य प्राप्त होते हैं।[2]

निष्कर्ष रूप में ध्यान की पूर्व तैयारी को हम आचार्य अकलंक[3] के शब्दों में इस प्रकार प्रस्तुत कर सकते हैं – उत्तम शरीर संहनन होकर भी परीषहों के सहने की क्षमता का आत्मविश्वास हुए बिना ध्यान साधना नहीं होती। परीषहों की बाधा सहकर ही ध्यान प्रारम्भ किया जा सकता है। पर्वत, गुफा, वृक्ष की खोह, नदी-तट, पुल, श्मशान, जीर्ण उद्यान और शून्यागार आदि किसी भी स्थान में व्याघ्र, सिंह, मृग, पशु-पक्षी, मनुष्य आदि के अगोचर, निर्जन्तु-समशीतोष्ण, अति-वायुरहित, वर्षा, आतप आदि से रहित, तात्पर्य यह है कि सब तरफ से बाह्य आभ्यन्तर बाधाओं से शून्य और पवित्र भूमि पर सुखपूर्वक पल्यंकासन में बैठना चाहिए। उस समय शरीर को सम, ऋजु और निश्छल रखना चाहिए। बायें हाथ पर दाहिना हाथ रखकर न खुले हुए और न बन्द किए किन्तु कुछ खुले हुए, दांतों पर दांत रखकर, कुछ ऊपर किए हुए, सीधी कमर और गम्भीर गर्दन किए हुए, प्रसन्नमुख और अनिमिष स्थिर सौम्यदृष्टि होकर निद्रा, आलस्य, कामराग, रति, अरति, शोक, ह्रास, भय, द्वेष, विचिकित्सा आदि को छोड़कर मन्द-मन्द श्वासोच्छवास लेने वाला साधु ध्यान की तैयारी करता है। वह नाभि के ऊपर हृदय, मस्तक या और कहीं अभ्यासानुसार चित्तवृत्ति को स्थिर रखने का प्रयत्न करता है। इस तरह एकाग्रचित्त होकर राग, द्वेष, मोह का उपशम कर कुशलता से शरीर क्रियाओं का निग्रह कर मन्द श्वासोच्छवास लेता हुआ निश्चित लक्ष्य और क्षमाशील हो, बाह्य आभ्यन्तर द्रव्यपर्यायों का ध्यान करता हुआ वितर्क के सामर्थ्य से युक्त हो, अर्थ और व्यंजन तथा मन, वचन, काय की पृथक-पृथक संक्रान्ति करता है। फिर शक्ति की कमी से योग से योगान्तर और व्यंजनान्तर में संक्रमण करता है।

इस प्रकार संक्षिप्त में कहा जा सकता है कि ध्यान के चार अंग हैं – ध्याता, ध्यान, ध्येय और समाधि। जिसकी आत्मा स्थिर होती है, वह ध्याता-ध्यान करने वाला होता है। मन की एकाग्रता को ध्यान कहा जाता है। विशुद्ध आत्मा ध्येय है और उसका फल समाधि है।[4]

---

1. योगशास्त्र 4/113; 2. तत्वानुशासन 198
3. तत्वार्थराजवार्तिक 9/44; 4. सम्बोधि 12/45

देखने और जानने की प्रक्रिया – प्रेक्षाध्यान

जैन साहित्य में प्रेक्षा और विपश्यना दोनों शब्द एकार्थक माने गए हैं। प्रेक्षा का अर्थ है – गहराई में उतर कर देखना। ध्यान पद्धति की प्रेक्षाध्यान संज्ञा स्वयं में अनावृत्त चैतन्य की गुणसत्ता को समेटे हुए है।

दसवैकालिक सूत्र में कहा गया – ''संपिक्खए अप्पगमप्पएणं''[1] आत्मा के द्वारा आत्मा की संप्रेक्षा करो, मन द्वारा मन को देखो, स्थूल चेतना द्वारा सूक्ष्म चेतना को देखो।

देखना ध्यान का मूल तत्त्व है। चैतन्य का मूल गुण है – केवल देखना, केवल जानना। भगवान महावीर ने बार-बार साधक को सम्बोधित करते हुए कहा – जानो और देखो। आयारो में अनेक सूक्त प्रेक्षा की सार्थक व्याख्या है – हे आर्य ! तू जन्म और वृद्धि के क्रम को देख। जो क्रोध को देखता है वह मान, माया, लोभ, प्रिय, अप्रिय, मोह, गर्भ, जन्म, मृत्यु, नरक, तिर्यञ्च, दु:ख को भी देखता है। जो जन्म से दु:ख पर्यन्त सीमाओं को देखता है वह इस चक्रव्यूह को तोड़ देता है। महान साधक अकर्म होकर जानता, देखता है। जो देखता है उसके लिये कोई उपदेश नहीं। जो देखता है उसके लिये लिये कोई उपाधि नहीं। देखना और जानना आत्मदर्शन की प्रक्रिया है। जो देखता और जानता है वह विकल्पशून्य एकाग्र हो जाता है। उसका दृश्य के प्रति सारा दृष्टिकोण ही बदल जाता है।[2]

भगवान महावीर ऊंचे, नीचे और मध्य में प्रेक्षा करते हुए समाधि को प्राप्त हो जाते थे। उनकी साधना पद्धति के प्रसंग में त्राटक ध्यान का वर्णन मिलता है। भगवान् अनिमेष लम्बे समय तक एक पुद्गल पर स्थिर दृष्टि रखते। वे केवल देखते, केवल जानते। इस ज्ञाताद्रष्टाभाव में न प्रियता रहती, न अप्रियता, क्योंकि द्रष्टा का दृश्य के प्रति दृष्टिकोण ही बदल जाता है। समयसार कहता है कि उस समय उसके न कर्मबन्ध होता है और न विपाक में आए हुए कर्म का वेदन करता है, न भोगता है।[3]

ध्यान के सन्दर्भ में भगवान महावीर ने शिष्य गौतम को उपदेश दिया – ''समयं गोयम मा पमायए'' गौतम ! तूं क्षणभर भी प्रमाद मत कर। इस उपदेश के साथ उन्होंने अप्रमत्त रहने की साधना भी बताई। जो जागृत होता है, वही अप्रमत्त होता है। अप्रमत्त को कभी, कहीं, किसी से भय नहीं लगता, क्योंकि वह प्रतिक्षण जागृत रहता है।

जैन साहित्य में अप्रमत्तता की साधना के लिए आलम्बन सूत्र यत्र-तत्र बिखरे पड़े हैं। प्रेक्षाध्यान पद्धति उन्हीं बिखरे सूत्रों के संकलन का एक प्रयास है। इस साधना पद्धति में सिद्धान्त और प्रयोग दोनों दृष्टियों से विचार किया गया है, क्योंकि बिना सैद्धान्तिक

---

1. दसवैकालिक चूलिका 2/15
2. आचारो 3/26, 3/84, 5/120, 2/185, 3/87, 9/4/14, 2/118
3. समयसार गाथा 316, 320

आधार के पद्धति दीर्घकाल तक टिकती नहीं और सिद्धान्त की क्रियान्विति बिना उसकी उपयोगिता सामने नहीं आती। अत: आचारांग, स्थानांग, उत्तराध्ययन सूत्र में प्रेक्षा के मौलिक और पुष्ट आधार उपलब्ध हैं जिसके आधार पर प्रेक्षाध्यान का व्यवस्थित साधनाक्रम निश्चित किया गया है।

इस प्रक्रिया में बाहर-भीतर दोनों स्तरों पर मनुष्य बदलता है। शरीर तंत्र में विशेषत: ग्रंथियों के स्रावों में परिवर्तन होता है। मानसिक स्तर पर स्वभाव बदलता है तथा शरीर और मन का बदलाव आत्मा को प्रभावित करता है। मुख्य उद्देश्य है चित्तशुद्धि और उसके साथ स्वत: फलित होती है शारीरिक, मानसिक तथा भावनात्मक तनावों की मुक्ति। प्रस्तुत सन्दर्भ में प्रेक्षाध्यान के निम्न अंगों की चर्चा आवश्यक है :-

1. कायोत्सर्ग 2. अन्तर्यात्रा 3. श्वासप्रेक्षा 4. शरीरप्रेक्षा 5. चैतन्यकेन्द्रप्रेक्षा 6. लेश्याध्यान 7. अनुप्रेक्षा।

कायोत्सर्ग – साधना पद्धति में कायोत्सर्ग का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसका प्रारम्भ भी कायोत्सर्ग और इसकी उच्चतम स्थिति भी है कायोत्सर्ग। कायोत्सर्ग का शाब्दिक अर्थ है – काय का त्याग। मूलाराधना में काया के प्रति होने वाले ममत्व के विसर्जन को कायोत्सर्ग कहा गया है।[1] हरिभद्रसूरि ने प्रवृत्ति में संलग्न काया के परित्याग को कायोत्सर्ग कहा है।[2] इन दोनों परिभाषाओं की समन्विति से कायोत्सर्ग की पूर्ण परिभाषा बनती है कि कायिक ममत्व और शारीरिक चंचलता का विसर्जन कायोत्सर्ग है। चैतन्य की अनुभूति करने के लिए शरीर की चंचलता और ममत्व दोनों त्याज्य हैं। इसे कायगुप्ति, कायसंवर, कायविवेक, कायव्युत्सर्ग और कायप्रतिसंलीनता भी कहा जाता है।

कायोत्सर्ग खड़े, बैठे और सोये तीनों अवस्थाओं में किया जा सकता है, फिर भी खड़ी मुद्रा में उसका प्रयोग अधिक हुआ है। अपराजित सूरि ने लिखा है कि कायोत्सर्ग करने वाला व्यक्ति शरीर से निस्पृह होकर खम्भे की भांति सीधा खड़ा हो जाए। दोनों बाहों को घुटनों की ओर फैला दे। प्रशस्त ध्यान में निमग्न हो जाए। शरीर को न अकड़ा कर खड़ा हो, न झुका कर हो। समागत कष्टों और परीषहों को सहन करें। कायोत्सर्ग का स्थान भी एकान्त और जीव-जन्तु रहित होना चाहिए।[3] प्रयोजन की दृष्टि से कायोत्सर्ग के दो प्रकार होते हैं – चेष्टा कायोत्सर्ग और अभिनव कायोत्सर्ग।[4]

प्रवृत्ति के साथ निवृत्ति का सन्तुलन रखने के लिए जो किया जाता है, उसे चेष्टा कायोत्सर्ग कहते हैं। चेष्टा कायोत्सर्ग करने का क्रम श्वासोच्छवास पर आधारित रहा है। भिक्षाचर्या आदि प्रवृत्ति के बाद मुनि के लिये कायोत्सर्ग करने का विधान चेष्टा कायोत्सर्ग कहलाता है। प्राप्त उपसर्गों को सहन करने के लिए, मानसिक विक्षेपों-आवेगों के लिए

---

1. मूलाराधना 1188 विजयोदयावृत्ति; 2. आवश्यक निर्युक्ति 779 हरिभद्रीयवृत्ति
3. मूलाराधना 2/116 विजयोदया पृ. 278, 279; 4. आवश्यक निर्युक्ति 1452

किया जाने वाला अभिनव कायोत्सर्ग कहलाता है। श्रमण महावीर, मुनि बाहुबलि तथा गजसुकुमाल आदि मुनियों ने आत्म प्राप्ति के लिए इसी कायोत्सर्ग को साधा था।

आचार्य जिनदास गणी महत्तर ने कायोत्सर्ग के दो प्रकार बतलाये हैं – 1. द्रव्य कायोत्सर्ग 2. भाव कायोत्सर्ग। शारीरिक चंचलता और ममता का परित्याग कर जिनमुद्रा में स्थिर होना कायोत्सर्ग कहलाता है। इसे द्रव्य कायोत्सर्ग भी कहते हैं। इसके बाद साधक धर्मध्यान और शुक्लध्यान में रमण करता है। मन को पवित्र विचार और उच्च संकल्प से बांधता है जिससे उसे शारीरिक वेदना नहीं होती। वह शरीर में रहता हुआ भी शरीर से भिन्न चैतन्य का अनुभव करता है, यह भाव कायोत्सर्ग का प्राण है।

द्रव्य कायोत्सर्ग भाव कायोत्सर्ग तक पहुंचने की पूर्व भूमिका है। द्रव्य कायोत्सर्ग में बाह्य वस्तुओं का विसर्जन किया जाता है, जैसे शरीर, उपधि, गण, भक्तपान। भाव कायोत्सर्ग में तीन बातें आवश्यक हैं – कषाय-व्युत्सर्ग, संसार-व्युत्सर्ग तथा कर्म-व्युत्सर्ग।

कायोत्सर्ग का मुख्य उद्देश्य है – आत्मा और शरीर का भेदज्ञान। काया के साथ आत्मा का जो संयोग है, उसका मूल है प्रवृत्ति। जो इनका विसंयोग चाहता है अर्थात् आत्मा के सान्निध्य में रहना चाहता है वह स्थान (आसन) मौन और ध्यान के द्वारा कायगुप्ति, वाग्गुप्ति और मनोगुप्ति करता है। कायोत्सर्ग द्वारा मानसिक, वाचिक और कायिक प्रवृत्तियां निवृत्त होती हैं। कायगुप्ति से संवर या पापाश्रवों का निरोध होता है।[1]

तनाव का मूल स्रोत है – प्रवृत्तिप्रधान जीवन। प्रवृत्ति से संस्कार और संस्कार से पुनः प्रवृत्ति का पुनरावर्तन – यह चक्र सदा तनावों को उत्पन्न करता है। संस्कारों का अन्त अकर्म द्वारा सम्भव है। कर्म से कर्म को नहीं मिला सकते। प्रवृत्ति के अभाव में उदय में आया संस्कार जब समता पूर्वक सह लिया जाता है तब संस्कार की परम्परा शिथिल पड़ने लगती है। इसीलिए कायोत्सर्ग साधना के क्षेत्र में महत्वपूर्ण तत्व माना गया है।

कायोत्सर्ग से अतीत और वर्तमान के प्रायश्चित्त योग्य कर्मों का विशोधन होता है। साधक भारहीन होकर हृदय की स्वस्थता प्राप्त करता है। वह प्रशस्त ध्यान में लीन हो जाता है। इन सारी दृष्टियों को ध्यान में रखकर कायोत्सर्ग को सब दुःखों से मुक्ति दिलाने वाला कहा गया है।

कायोत्सर्ग की अनेक उपलब्धियां हैं –

1. देहजाड्यशुद्धि – श्लेष्म आदि दोषों के क्षीण होने से देह की जड़ता नष्ट हो जाती है।
2. परमलाघव – शरीर बहुत हल्का हो जाता है।
3. मतिजाड्यशुद्धि – जागरूकता के कारण बुद्धि की जड़ता नष्ट हो जाती है।

---

1. उत्तराध्ययन 29/55

4. सुख-दु:ख तितिक्षा – सुख-दु:ख को सहने की क्षमता बढ़ती है।
5. अनुप्रेक्षा – अनुचिन्तन के लिए स्थिरता प्राप्त होती है।
6. ध्यान – मन की एकाग्रता सधती है।[1]

अनुयोगद्वार में कायोत्सर्ग को व्रण चिकित्सा कहा है।[2] साधना में सतत जागरूकता के बाद भी प्रमादवश जो दोष लग जाते हैं, उन दोष रूप घावों की चिकित्सा के लिये कायोत्सर्ग का प्रावधान महत्त्वपूर्ण है। संयमी जीवन को परिष्कृत करने के लिए, प्रायश्चित्त करने के लिए, अपने आपको विशुद्ध करने के लिए, आत्मा को माया, मिथ्यात्व और निदानशल्य से मुक्त करने के लिए, पापकर्मों के निर्घात के लिए कायोत्सर्ग किया जाता है।[3]

शरीर शास्त्रीय दृष्टि से कायोत्सर्ग प्राण ऊर्जा का संचय करता है। इसके द्वारा ऐच्छिक संचलनों का संयमन होता है। आगम प्रेरणा देते हैं कि साधक हाथों का संयम, पैरों का संयम, वाणी का संयम तथा इन्द्रियों का संयम करें।[4] जिसमें प्राण ऊर्जा को संग्रहीत कर उसे चेतना से ऊध्वारोहण में लगा सके।

प्रवृत्तिप्रधान, उत्तेजित और सक्रिय जीवन शैली परानुकम्पी संस्थान को अपना कार्य करने का मौका ही नहीं देती। फलत: शरीर की मांसपेशियां और स्नायु सहज, शिथिल व शांत अवस्था क्वचित ही प्राप्त कर सकते हैं।

कायोत्सर्ग द्वारा उच्च रक्तचाप, दिल का दौरा, नाड़ी तंत्रीय अस्त-व्यस्तता, पाचन तंत्रीय वर्ण, अनिद्रा, तनावजनित रोगों की रोकथाम एवं उपचार किया जा सकता है। तनाव-जनित बीमारियों का कारण है तनाव की निरन्तरता एवं तीव्रता। तनाव विकल्पों के लिए ऊर्वरा भूमि है। मानसिक तनाव, स्नायविक तनाव, भावनात्मक तनाव इनको मिटाना, इनकी ग्रंथियों को खोल देना कायोत्सर्ग का कार्य है।

विलफ्रिड नार्थफिल्ड का कहना है कि तनावग्रस्त व्यक्ति को यह विश्वास दिलाना सबसे कठिन कार्य है कि मांसपेशियों को शिथिल करने से स्वत: ही मन शांत हो जाता है।[5]

आज मनोवैज्ञानिकों का ऐसा मानना है कि बायोफीडबैक और शिथिलीकरण प्रशिक्षण द्वारा दबाव एवं तनाव को नियन्त्रित किया जा सकता है।[6] इस प्रशिक्षण में व्यक्ति अपनी शारीरिक अवस्थाओं की जानकारी प्राप्त करता है और उसके बाद उन्हें स्वत: सूचन द्वारा बदलने की चेष्टा करता है।

विज्ञान के क्षेत्र में हुई खोजों से इस प्रकार के उपकरण उपलब्ध करवा दिये हैं जिसके द्वारा शरीर में घटित होने वाली घटनाओं को ग्राफ या ध्वनि के माध्यम से प्रत्यक्षत: देखा

---

1. आवश्यक निर्युक्ति 1462; 2. अनुयोगद्वार 74 (नवसुत्ताणि, भाग-5, पृ. 15)
3. आवश्यक सूत्र 5/3 (नवसुत्ताणि, भाग-5, पृ. 15); 4. दसवैकालिक 10/15
5. Wilfrid Northfield, How to relax, p. 21
6. Ernest R Hilgard, Introduction to Psychology, p. 435

जा सकता है। मशीनों के द्वारा जानने के बाद स्वत: सूचन प्रक्रिया के द्वारा व्यक्ति वांछनीय शारीरिक अवस्थाओं को प्राप्त कर तनाव मुक्त हो सकता है।

मनोवैज्ञानिक आज इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि स्वत: संचालित नाड़ी-तंत्र की क्रियाएं – हृदय गति, रक्तचाप आदि को इन दो विधियों के प्रयोग द्वारा नियन्त्रित किया जा सकता है। किन्तु तनावजनित मानसिक बीमारियों के उपचार में बायोफीडबैक एवं शिथिलीकरण प्रशिक्षण की सफलता के संबंध में मनोवैज्ञानिक आज तक निश्चित निर्णय पर नहीं पहुंच पाए हैं।

मनोविज्ञान में सम्मोहन (हिप्नोटिज्म) प्रक्रिया बहुत प्राचीन काल से प्रचलित है। इस प्रक्रिया में अन्य व्यक्ति के द्वारा सूचन के माध्यम से व्यक्ति को सम्मूढ़ बनाकर परिवर्तन की चेष्टा की जाती है। इसमें सम्मोहित करने वालों की शक्तियां बहुत क्षीण होती हैं। शिथिलीकरण की प्रक्रिया में या कायोत्सर्ग में स्वत: सूचन का प्रयोग किया जाता है। स्वत: सूचन या स्व-सम्मोहन को एक विशेष प्रकार की सुझाव चिकित्सा कह सकते हैं जिसमें व्यक्ति स्वयं अपने सुझावों के द्वारा अपनी चिकित्सा करता है।

अन्तर्यात्रा – प्रेक्षाध्यान का महत्त्वपूर्ण प्रयोग है अन्तर्यात्रा। इसका प्रमुख उद्देश्य है अन्तर्मुखता का विकास। चित्त द्वारा प्राणधारा का ऊर्ध्वारोहण। मानसिक शक्तियों का संतुलन।

अन्तर्यात्रा का सीधा संबंध है सुषुम्ना से, जो केन्द्रीय नाड़ी संस्थान का हिस्सा है। इसके दोनों ओर अनुकम्पी (Sympathetic) और परानुकम्पी (Para-Sympathetic) स्वत: संचालित नाड़ी संस्थान है। इसे योगभाषा में इड़ा, पिंगला अथवा सूर्यनाड़ी, चन्द्रनाड़ी कहा जा सकता है।

केन्द्रीय नाड़ी संस्थान के मुख्य दो भाग हैं – मस्तिष्क और सुषुम्ना जो ज्ञानवाही तथा क्रियावाही तंतुओं का केन्द्र स्थान है। मस्तिष्क चेतना का विकिरण करता है और पृष्ठरज्जु का निचला हिस्सा-शक्ति का विकिरण करता है। एक शक्ति के संग्रह का, दूसरा चेतना के संग्रह का अमोघ साधन है। प्रेक्षाध्यान में इन दोनों केन्द्रों को ज्ञानकेन्द्र और शक्तिकेन्द्र कहा जाता है।

हमारे जीवन में चेतना और शक्ति दो महत्त्वपूर्ण तत्त्व हैं। इनका सीधा संबंध ज्ञानकेन्द्र-मस्तिष्क और शक्ति केन्द्र (रीढ़ की हड्डी का अन्तिम छोर) से है। अन्तर्यात्रा में चित्त को सुषुम्ना के मार्ग से होते हुए शक्ति केन्द्र से ज्ञानकेन्द्र तक ले जाना होता है। चित्त की इस यात्रा को श्वास के साथ जोड़कर भी किया जाता है। श्वास लेते समय चित्त को ऊपर से नीचे ले जाते हैं और श्वास छोड़ते समय चित्त को नीचे से ऊपर ले जाते हैं। प्रारम्भ में यह अभ्यास प्रयत्नपूर्वक संकल्प के साथ किया जाता है। इस प्रयोग में ऊर्जा का दिशा

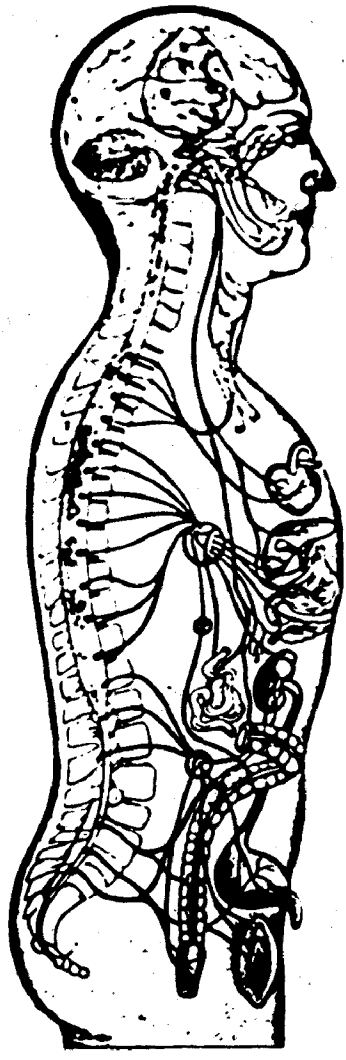

परिवर्तन होता है। वह अधोगामी न होकर ऊर्ध्वगामी बनती है।

शक्ति नीचे की ओर जाती है, उसे ऊपर ले जाने का जिम्मेदार सूत्र है अन्तर्यात्रा। मस्तिष्क की ऊर्जा का नीचे जाना भौतिक जगत् में प्रवेश करना है। काम-केन्द्र की ऊर्जा का ऊपर जाना अध्यात्म जगत् में प्रवेश करना है। विद्युत का यह परिवर्तन पौद्गलिक सुख की अनुभूति के स्थान पर अध्यात्म सुख की अनुभूति देता है।

हठयोग में इड़ा और पिंगला दो प्राण-प्रवाह माने गए हैं। इड़ा बायां और पिंगला दायां प्राण-प्रवाह है। जब प्राण-प्रवाह सुषुम्ना के मध्य प्रवाहित होता है तब अन्तर्यात्रा शुरू हो जाती है। चेतना का सुषुम्ना में रहना अन्तर्यात्रा है और दाएं-बाएं आ जाना बहिर्यात्रा है। प्रेक्षाध्यान में अन्तर्यात्रा का अपना वैशिष्ट्य है। यह प्रयोग प्रत्येक ध्यान शिविर के साथ जोड़ा गया है, क्योंकि अन्तर्मुखी बने बिना ध्यान में प्रवेश संभव नहीं होता है। कहा गया है कि अन्तर्यात्रा अभौतिक ऊर्जा के जागरण का हेतु एवं चेतना के आभ्यन्तरीकरण की यात्रा है।[1]

श्वासप्रेक्षा – श्वास का संबंध हमारे जीवन से है। केवल जीवन से ही नहीं, आन्तरिक भावनाओं से भी इसका गहरा संबंध है। वैज्ञानिक जगत् में भी श्वास के संबंध में हुए अनुसंधान ने यह तथ्य प्रस्तुत किया है कि हमारी भावनाओं और श्वास का परस्पर गहरा संबंध है।

वस्तुतः वाणी, मन और नाड़ी संस्थान – इन सबमें प्राण का संचार करने का माध्यम बनता है श्वास। बाह्य और अन्तर – दोनों के बीच श्वास सेतु बना हुआ है। चेतना के जागरण में तथा उसके सूक्ष्म स्पन्दनों को सक्रिय बनाने में इसका बड़ा योगदान है।

---

1. आचार्य तुलसी (गणाधिपति) – प्रेक्षा अनुप्रेक्षा, पृ. 98

श्वास और प्राण, श्वास और मन – अटूट कड़ी के रूप में काम करते हैं। मन को हम सीधा नहीं पकड़ सकते। प्राण की धारा को भी सीधा नहीं पकड़ा जा सकता। किन्तु मन के लिए प्राण को और प्राण के लिए श्वास को पकड़ना होगा।

श्वास विजय या श्वास नियन्त्रण के बिना ध्यान नहीं हो सकता। यह सच्चाई सबके द्वारा स्वीकृत रही है। "वृहद्नयचक्र" में योगी का पहला विशेषण श्वास-विजेता बताया गया है।[1] ज्ञानार्णव में शुभचन्द्राचार्य ने लिखा है कि प्राणायाम के बिना प्राण-विजय सम्भव नहीं और इसके बिना इन्द्रिय विजय, मनोविजय और कषायविजय का होना सम्भव नहीं।[2]

कायिक स्थिरता का संबंध श्वास की मन्दता और मानसिक एकाग्रता इन दोनों से है। जैनाचार्यों ने कायोत्सर्ग और श्वास का गहरा संबंध बतलाया है। कायोत्सर्ग का कालमान श्वासोच्छवास से ही निर्धारित किया गया है। प्रवचनसारोद्धार[3] और मूलाचार[4] में कायोत्सर्ग का ध्येय, परिणाम और कालमान श्वासोच्छवास के आधार पर निर्णीत है।

शरीर शास्त्र के अनुसार हमारी क्रियाएं तीन प्रकार की हैं – 1. स्वत:चालित 2. प्रयत्नचालित और उभयात्मक। आगम की भाषा में भी तीन शब्द मिलते हैं – 1. वैस्रसिकी – वह क्रिया, जो स्वभाव से चल रही है। 2. प्रायोगिकी – वह क्रिया, जो प्रयत्नपूर्वक की जाती है। 3. मिश्रित – वह क्रिया जो स्वभाव से भी चल रही है और जिसे प्रयत्नपूर्वक भी किया जाता है। श्वास तीसरी कोटि में आता है। श्वास स्वत:चालित तो है ही, इच्छाचालित भी है। श्वास सहज और प्रयत्नजनित दोनों है। प्रयत्न से श्वास की गति व दिशा में परिवर्तन किया जा सकता है। स्वेच्छा से श्वास पर नियमन से स्वत:चालित क्रियाओं पर नियन्त्रण की क्षमता आ जाती है। चेतन मन पर भी नियन्त्रण हो जाता है।

आचार्य महाप्रज्ञ लिखते हैं कि श्वास नियन्त्रण का महत्त्वपूर्ण सूत्र बन सकता है। इससे आवेश जनित समस्याओं से मुक्ति मिल सकती है। यह आनापान की पद्धति, जो नामकर्म की एक प्रकृति है, संभवत: ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तरायकर्म के क्षयोपशम में बहुत बड़ा आलम्बन बन सकती है।[5] श्वास प्रेक्षा में राग-द्वेष के संस्कारों से बचा जा सकता है, क्योंकि जब हम श्वास को देखते हैं तब सिर्फ देखते हैं – प्रिय-अप्रिय भावों के साथ नहीं।

प्रत्येक ध्यान पद्धति में श्वास को सूक्ष्म या मन्द करने का विधान मिलता है। प्रेक्षाध्यान के सन्दर्भ में दीर्घश्वासप्रेक्षा तथा समवृत्ति श्वासप्रेक्षा के प्रयोग महत्त्वपूर्ण हैं –

दीर्घश्वासप्रेक्षा – प्रेक्षाध्यान में सहज श्वास पर नहीं, दीर्घश्वास पर ध्यान केन्द्रित करते हैं। सामान्यत: मनुष्य एक मिनिट में 15-17 श्वास लेता है। दीर्घश्वासप्रेक्षा में श्वास

---

1. वृहदनयचक्र 388;
2. ज्ञानार्णव 29/10-12
3. प्रवचनसारोद्धार 3/183-85;
4. मूलाराधना 2/116 विजयोदयावृत्ति
5. आचार्य महाप्रज्ञ : अपना दर्पण, अपना बिम्ब, पृ. 89

की गति को बदलकर यह संख्या घटाई जाती है। साधारण अभ्यास के बाद यह संख्या एक मिनिट में 10 से कम तक की जा सकती है और विशेष अभ्यास के बाद उसे और अधिक कम किया जा सकता है। दीर्घश्वासप्रेक्षा में श्वास-संयम का अभ्यास भी महत्त्वपूर्ण है।

गहरा, लम्बा और लयबद्ध श्वास मन को शांत करता है। इसके साथ-साथ आवेश, कषाय, उत्तेजनाएं, वासनाएं शांत होती है। श्वास जब छोटा होता है, तब वासनाएं उभरती हैं, इन सब दोषों का संवाहक है – श्वास। श्वास इन सबसे प्रभावित होता है। जो व्यक्ति श्वास को देखता है, उसका तनाव अपने आप विसर्जित हो जाता है।

समवृत्ति श्वासप्रेक्षा – समवृत्ति श्वासप्रेक्षा में श्वास की गति-परिवर्तन के साथ-साथ श्वास की दिशा को बदला जाता है। बायें नथुने से श्वास लेकर दायें से निकालना और दायें से लेकर बायें से निकालना और इसे देखना, इसकी प्रेक्षा करना, इसके साथ चित्त का योग करना समवृत्तिश्वासप्रेक्षा है।

समवृत्ति श्वासप्रेक्षा के माध्यम से चेतना के विशिष्ट केन्द्रों को जागृत किया जा सकता है। इसका सतत अभ्यास अनेक उपलब्धियों में सहायक होता है।

स्वरोदय में कहा गया – यदि गर्म प्रकृति का कोई काम करना है तो दायां स्वर चलना चाहिए। ठण्डे दिमाग से काम करना है, सौम्य और शांत काम करना है तो बायां स्वर चलना चाहिए। जब दोनों एक साथ चलने लग जाते हैं तब समता की, ध्यान की, समाधि की सी स्थिति बनती है। अत: श्वास की गति और दिशा के नियन्त्रण की क्षमता अर्जित करने के लिए समवृत्ति श्वासप्रेक्षा एक सफल प्रयोग है।

दीर्घश्वास प्रेक्षा से तीन बातें फलित होती हैं – 1. जागरूकता 2. साक्षीभाव 3. श्वास की मन्दता। साधना के प्रारम्भ में इन बातों की अनुभूति साधक के मन में आत्मविश्वास जगा देती है। अपने प्रति विश्वास जगने का अर्थ है अपनी शक्तियों का बोध और उनके उपयोग की क्षमता। दीर्घश्वास प्रेक्षा से आदमी आत्मकेन्द्रित बनता है।[1] श्वाससंयम मानसिक शांति और विचार के चक्रव्यूह को तोड़ने के लिए एक महत्त्वपूर्ण उपाय है।

शरीर प्रेक्षा – श्वास समूचे शरीर तंत्र को प्रभावित करता है। वह प्राण, चेतना, इन्द्रिय, मन, चित्त सबको प्रभावित करता है। इसलिए श्वास का पहला स्थान है, शरीर का दूसरा स्थान।

जैन-दर्शन मानता है कि आत्मा शरीरव्यापी है। जितना शरीर का आयतन है उतना ही आत्मा का आयतन है। जितना आत्मा का आयतन है उतना ही चेतना का है। शरीर के कण-कण में चैतन्य व्याप्त है। प्रत्येक कण में होने वाले संवेदनों की प्रेक्षा करते-करते प्राणी अपने स्वरूप को, अस्तित्व को, स्वभाव को जानता है और देखता है। उसमें सूक्ष्म पर्यायों को पकड़ने की क्षमता आ जाती है।

---

1. आचार्य तुलसी (गणाधिपति) – प्रेक्षा अनुप्रेक्षा, पृ. 101

प्रेक्षाध्यान पद्धति में शरीर प्रेक्षा को बहुत महत्त्व दिया गया है। उत्तराध्ययन में कहा गया कि शरीर नौका है। जीव नाविक है और संसार समुद्र है। इस शरीर रूपी नौका से संसार समुद्र को तैरा जा सकता है।[1] शरीर के माध्यम से चैतन्य अभिव्यक्त होता है। चैतन्य पर आए हुए आवरण को दूर करने में यह सशक्त माध्यम बनाया जा सकता है।

शरीर और आत्मा भिन्न-भिन्न है पर तात्त्विक दृष्टि से आत्मा और देह के मध्य भिन्नत्व और एकत्व दोनों को स्वीकार किया गया है। प्रश्न पूछा गया है कि जीव शरीर है या आत्मा, तो महावीर ने कहा – जीव शरीर भी है और आत्मा भी है। आचार्य कुन्दकुन्द ने आत्मा और शरीर के एकत्व और भिन्नत्व को स्वीकार करते हुए कहा कि व्यावहारिक दृष्टि से आत्मा और देह एक ही है और निश्चय नय की दृष्टि से दोनों एक नहीं है।[2] आत्मा और शरीर का एकत्व स्वीकार किए बिना साधना सम्भव नहीं और भिन्न माने बिना अनासक्ति और भेदज्ञान की संभावना नहीं रहती। यही कारण है कि साधना के क्षेत्र में दोनों दृष्टियां महत्त्वपूर्ण हैं।

भगवान महावीर ने कहा –

से पुव्वं पेयं पच्छा पेयं भेउर-धम्मं विद्धंसण धम्म अधुवं।
अतितियं असासयं चयावचइयं विपरिणाम धम्मं पासह एवं रूपं॥

तुम इस शरीर को देखो। यह पहले या पीछे एक दिन अवश्य छूट जाएगा। विनाश और विध्वंस इसका स्वभाव है। यह अध्रुव, अनित्य और अशाश्वत है। इसका उपचय और अपचय होता है। इसकी विविध अवस्थाएं होती हैं।

शरीर प्रेक्षा जैन आगम साधना पद्धति है। इस सन्दर्भ में शरीर के ऊर्ध्व, मध्यम और अधोभाग का भी अपना महत्त्व है। जैन परम्परा में लोक को समझाने के लिए पुरुष की कल्पना की गई है। पुरुष के तीन भाग होते हैं – ऊर्ध्व, मध्यम और अधः। इसी प्रकार लोक के भी तीन भाग होते हैं। सारा भूगोल इस माध्यम से जैन साहित्य में वर्णित है। यहां लोक का अर्थ है – शरीर। भगवान महावीर के ध्यान के प्रसंग में आगम कहता है कि वे तीनों भागों पर विशेष ध्यान किया करते थे। आचारांग सूत्र में कहा है – जो आयतचक्षु होता है, संयमचक्षु होता है, जो लोकदर्शी होता है, जिसकी खुली आंखें एक बिन्दु पर स्थित है, वह ऊर्ध्वलोक को भी देखता है, मध्यलोक को भी देखता है और अधोलोक को भी देखता है।[3]

आत्मा, सूक्ष्म शरीर और स्थूल शरीर तीनों को जानना अपेक्षित है। स्थूल शरीर वह है जिसमें सबकुछ प्रकट होने की क्षमता है। सूक्ष्म शरीर वह है जिसमें क्षमताओं का

---

1. उत्तराध्ययन 23/73; 2. समयसार 26; 3. आयारो 2/125

संग्रह है। आत्मा मूलशक्ति का स्रोत है। सूक्ष्म शरीर आत्मा की ज्ञान, दर्शन और शक्ति रूप चेतना को आवृत्त करता है। सूक्ष्म शरीर है कर्म शरीर। कर्म शरीर में वासनाएं, संस्कार, आवेग और कषाय रहते हैं। स्थूल शरीर में स्वयं की कोई वासना, क्रोध, मोह नहीं होता। इसमें सूक्ष्म शरीर द्वारा ये सब संप्रेषित किया जाता है और यह अभिव्यक्ति का केन्द्र बनता है।[1]

शरीर प्रेक्षा का क्रम सामान्यत: इस प्रकार निर्धारित किया गया है –

1. शरीर प्रेक्षा में सबसे पहले हमें त्वचा के बाह्य संवेदनों की अनुभूति या दर्शन होगा। जैसे – अपने वस्त्रों से शरीर का स्पर्श, बाह्य उष्मा, पसीना, खुजलाहट आदि।
2. अपने मांसपेशीय हलन-चलन से उत्पन्न होने वाले संवेदनों का दर्शन।
3. अपने आन्तरिक अवयवों द्वारा उत्पन्न संवेदनों का बोध।
4. अपने नाड़ी तंत्र के भीतर प्रवहमान विद्युत आवेगों के द्वारा उत्पन्न सूक्ष्म प्रकम्पनों का बोध, समूचे शरीर में निरन्तर प्रवहमान प्राणधारा के प्रकम्पनों का अनुभव। शरीर प्रेक्षा में साधक स्थूल से सूक्ष्म तक प्रेक्षा करता है।

शरीर में प्राण का प्रवाह है। जब वह असन्तुलित होता है तो बीमारियां पैदा होती हैं। शरीर चैतन्यकेन्द्र है, जब तक ये मलिन होते हैं ज्ञान का अवरोध रहता है। शरीर में आनन्द केन्द्र है। जब तक यह नहीं जागता, सुख-दु:ख का द्वन्द्व नहीं मिटता। शरीर प्रेक्षा से तीनों समस्याएं समाधान पा जाती हैं।[2]

शरीर प्रेक्षा के महत्त्वपूर्ण परिणाम हैं –

1. प्राणप्रवाह का सन्तुलन
2. रोग प्रतिरोधात्मक शक्ति का विकास
3. जागरूकता का अभ्यास
4. प्रतिस्त्रोतगामिता
5. नई आदतों का निर्माण
6. शरीर का कायाकल्प।

---

1. आचार्य महाप्रज्ञ, महावीर की साधना का रहस्य, पृ. 34-35
2. अप्पाणं सरणं गच्छामि, पृ. 262

चैतन्य केन्द्र-प्रेक्षा

प्रेक्षाध्यान पद्धति का एक प्रयोग है – चैतन्यकेन्द्र प्रेक्षा। यह शरीर प्रेक्षा का विकसित रूप है। चैतन्य-केन्द्र शरीर के महत्त्वपूर्ण भाग हैं.जहां हमारी चेतना घनीभूत होकर रहती है। यद्यपि जैन-दर्शन के अनुसार सम्पूर्ण शरीर में चैतन्य व्याप्त रहता है किन्तु शरीर के प्रत्येक कण को जागृत कर पाना आसान नहीं होता, इसलिए शरीर के कुछ केन्द्र जहां से चेतना की रश्मियां बाहर सहजत: आ सकती हैं, उन्हें जागृत करने हेतु प्रेक्षा का प्रयोग जरूरी है।

प्राचीन साहित्य में चैतन्य केन्द्रों की चर्चा मिलती है। तंत्र-शास्त्र और हठयोग में जिनको चक्र कहा गया, शरीर शास्त्रियों ने शरीर में विशेष अन्त:स्रावी ग्रंथियों की खोज की। प्रेक्षाध्यान की भाषा में इन्हीं को चैतन्यकेन्द्र का नाम दिया गया है। आज की भाषा में जहां-जहां शरीर में विद्युत चुम्बकीय क्षेत्र (इलेक्ट्रोमैग्नेटिक फील्ड) माना गया है, वहां-वहां चैतन्यकेन्द्र हैं।

चैतन्यकेन्द्र प्रेक्षा कोरी काल्पनिक ध्यान पद्धति नहीं। इसके साथ आगमिक आधार जुड़ा है। आचार्य महाप्रज्ञ ने आगम मन्थन कर लिखा है – प्राचीन जैन साहित्य में चैतन्यकेन्द्रों के मूल स्रोत को अवधिज्ञान के विश्लेषण में खोजा जा सकता है। प्रज्ञापना में अवधिज्ञान के दो प्रकार उपलब्ध है – 1. देशावधि 2. सर्वावधि।[1] नन्दीसूत्र में देशावधि, सर्वावधि का उल्लेख नहीं मिलता, वहां केवल परमावधि का वर्णन उपलब्ध होता है।[2] गोम्मटसार में अवधिज्ञान के तीन प्रकार बतलाए गए हैं[3] – 1. देशावधि, 2. सर्वावधि 3. परमावधि।

नन्दीसूत्र में अवधिज्ञान के छह प्रकार किए गए हैं। उनमें पहला प्रकार है – अनुगामिक। यह विषय अन्य किसी भी आगम में उपलब्ध नहीं है। प्रतीत होता है कि देवर्द्धिगणि ने पूरा प्रकरण ज्ञान-प्रवाद पूर्व से लिया था। इस दृष्टि से नन्दी सूत्र का मुख्य आधार ज्ञान प्रवाद पूर्व हो सकता है। स्थानांग, समयवायांग, भगवती आदि इसके आधार नहीं हो सकते।

कहा जाता है कि तंत्रशास्त्र और हठयोग में चक्रों की व्याख्या है पर जैन साहित्य में उनका निरूपण नहीं मिलता। नन्दीसूत्र के अवधिज्ञान विषय प्रकरण से इस प्रश्न का समाधान उपलब्ध होता है कि जैन साहित्य में भी चक्रों का चैतन्यकेन्द्र के रूप में वर्णन था, भले ही ध्यान की पद्धति मध्यकाल में छूट जाने से उनकी विस्तृत व्याख्या आज उपलब्ध न हो पाए।

---

1. प्रज्ञापना 33/33; 2. नन्दीसूत्र, 18, गाथा-2
3. गोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा - 373

आचार्य हरिभद्रसूरि, शुभचन्द्र, हेमचन्द्र आदि ने योग ग्रंथों में यद्यपि हठयोग का समावेश किया पर उन्होंने जैन साहित्य में उपलब्ध चक्रों की ओर ध्यान नहीं दिया। देशावधि चक्र-सिद्धान्त का मौलिक आधार है। नन्दीसूत्र में देशावधि और सर्वावधि का उल्लेख नहीं, फिर भी उनकी व्याख्या बहुत विस्तार से उपलब्ध होती है।

हमारे पूरे शरीर में चैतन्यकेन्द्र अवस्थित हैं। जब चैतन्यकेन्द्र जागने लगते हैं, तब उसी में से अतीन्द्रिय ज्ञान की रश्मियां बाहर निकलने लगती हैं। पूरे शरीर को यदि जगा लिया जाए तो पूरे शरीर से अतीन्द्रिय ज्ञान व्यक्त होने लगता है। किसी एक या अनेक चैतन्य केन्द्रों की सक्रियता से होने वाले अवधिज्ञान सर्वावधि है। इस सन्दर्भ में दिगम्बर साहित्य ने भी करण की व्याख्या देकर चैतन्यकेन्द्रों की स्पष्टता प्रस्तुत की है।

चैतन्यकेन्द्र का अर्थ है – शरीर के कुछ हिस्सों को स्फटिक की तरह निर्मल बना लेना। दूसरा अर्थ है – करण। शरीर को पूरा करण बना लेना। उससे काम लेना। जैन-दर्शन में इन्द्रियों को भी करण कहा गया है, क्योंकि हम उनके द्वारा देखते हैं, सूंघते हैं, स्वाद लेते और स्पर्शबोध करते हैं। ये अंग विशिष्ट काम देते हैं, इसलिये इन्हें करण कहते हैं। शरीर का भी एक नाम करण है।

भगवती सूत्र के अनुसार प्राणी के पास चार करण होते हैं[1], इसकी चर्चा है – मनकरण, वचनकरण, कायकरण और कर्मकरण। अशुभकरण से दु:ख का और शुभकरण से सुख का संवेदन होता है। इसका वाच्यार्थ यह हुआ कि हम समूचे शरीर को करण बना सकते हैं। आचार्य महाप्रज्ञ ने अपने योग साहित्य में इसका विस्तारपूर्वक उल्लेख किया है। जैन आगम में उल्लिखित संभिन्नस्त्रोतोपलब्धि का अर्थ भी यही है कि पूरा शरीर करण बन कर ज्ञेय को एकसाथ जान सकता है। आंखें बोल सकती है, कान देख सकता है। एक इन्द्रिय से पांचों इन्द्रियों के विषयों का बोध हो सकता है।

तंत्रशास्त्र, योगशास्त्र और हठयोग में चक्रों के लिए कमल की प्रकल्पना की है। शरीर शास्त्रीय भाषा में कहा जा सकता है कि शरीर में कई अन्त:स्रावी ग्रंथियां हैं। आज की भाषा में जहां-जहां विद्युत चुम्बकीय क्षेत्र (इलेक्ट्रोमैग्नेटिक फील्ड) है, वहां-वहां चैतन्य केन्द्र हैं। अलग-अलग दर्शनों में इनकी संख्या भी अलग-अलग निर्धारित है। आयुर्वेद की भाषा में चैतन्यकेन्द्रों को मर्मस्थान कहा गया है। आयुर्वेदाचार्यों ने इन मर्मस्थानों की संख्या 107 बतलाई हैं। इन मर्मस्थानों में प्राण केन्द्रीभूत होता है। चेतना विशेष प्रकार से अभिव्यक्त होती है। एक्यूपंक्चर की चिकित्सा में हमारे शरीर में ऐसे 700 से अधिक केन्द्र खोज निकाले हैं, जिन्हें सुई द्वारा उत्तेजित करने पर अनेक प्रकार के रोगों की चिकित्सा की जाती है। एक्यूपंक्चर एवं एक्यूप्रेशर में माना गया है कि जो केन्द्र हमारे मस्तिष्क में है, वे हमारे पैर के अंगूठे में भी है। ये क्रेन्द्र एक-दूसरे से संबद्ध हैं।

---

1. भगवती सूत्र, 6/5, 14

चैतन्यकेन्द्र की चर्चा अवधिज्ञान से जुड़ी है। यद्यपि अवधिज्ञान की क्षमता सभी आत्म-प्रदेशों में प्रकट होती है फिर भी शरीर का जो देशकरण बनता है, उसी के माध्यम से अवधिज्ञान प्रकट होता है। नन्दीसूत्र में भी सब अवयवों से जानने और किसी एक अवयव से जानने की चर्चा मिलती है।[1]

चैतन्यकेन्द्र अनेक संस्थान वाले होते हैं। जैसे इन्द्रियों का संस्थान प्रतिनियत होता है वैसे चैतन्यकेन्द्रों का संस्थान प्रतिनियत नहीं होता किन्तु करणरूप में परिणत शरीर प्रदेश अनेक संस्थान वाले होते हैं।[2]

कुछ संस्थानों के नाम निर्देश मिलते हैं, जैसे – श्रीवत्स, कलश, शंख, स्वस्तिक, नन्द्यावर्त आदि। धवलाकार ने आदिशब्द द्वारा अन्य अनेक शुभ संस्थानों का निर्देश किया है।[3]

आचार्य नेमीचन्द्र ने गुणप्रत्यय अवधिज्ञान को शंख आदि चिन्हों से उत्पन्न होने वाला बतलाया है। टीकाकार ने आदि शब्द की व्याख्या में पद्म, वज्र, स्वस्तिक, मत्स्य, कलश आदि शब्दों का निर्देश दिया है।[4]

चैतन्यकेन्द्र शुभ-अशुभ दोनों होते हैं। श्री वीरसेनाचार्य का मत है कि शुभ संस्थान वाले चैतन्य केन्द्र नीचे के भाग में नहीं होते हैं। नाभि के नीचे होने वाले चैतन्य केन्द्रों के संस्थान अशुभ होते हैं, गिरगिट आदि अशुभ आकार वाले होते हैं। उनके अनुसार इस विषय का षट्खण्डागम में सूत्र नहीं है, पर यह विषय उन्हें गुरु परम्परा से मिला है।[5]

महत्त्वपूर्ण बात है शुभ-अशुभ चैतन्य केन्द्रों में होने वाले परिवर्तन की। सम्यक्त्व उपलब्ध होने पर नाभि के नीचे के अशुभ संस्थान मिट जाते हैं और नाभि के ऊपर शुभ संस्थान निर्मित हो जाते हैं। इसी प्रकार सम्यक् दृष्टि के मिथ्यात्व में चले जाने पर शुभ चैतन्य केन्द्र अशुभ में बदल जाते हैं।

आचार्य महाप्रज्ञ लिखते हैं कि शरीर के कुछ भागों में चैतन्य सघन होता है और कुछ भागों में विरल। अतीन्द्रियज्ञान, शक्ति-विकास और आनन्द के अनुभूति के लिए उन सघन क्षेत्रों की सक्रियता हमारे लिए बहुत अर्थपूर्ण है।[6]

हमारे शरीर में अनेक शक्ति केन्द्र हैं। तंत्रशास्त्र और हठयोग में इन्हें चक्र कहते हैं। आधुनिक शरीर विज्ञान ने इनकी अभिव्यक्ति अन्तःस्रावी ग्रंथियों में मानी है। प्रेक्षाध्यान की पद्धति में प्रमुखतः तेरह चैतन्यकेन्द्रों की अवधारणा है। जिसे चित्र द्वारा देखा जा सकता है :–

---

1. नन्दी सूत्र, 22;
2. षट्खण्डागम, पुस्तक 13, पृ. 296
3. वही, पुस्तक 93, पृ. 297;
4. गोम्मटसार, जीवकाण्ड, गा. 371 टीका
5. षट्खण्डागम, पुस्तक 13, पृ. 297, 98;
6. अपना दर्पण, अपना बिम्ब, पृ. 129

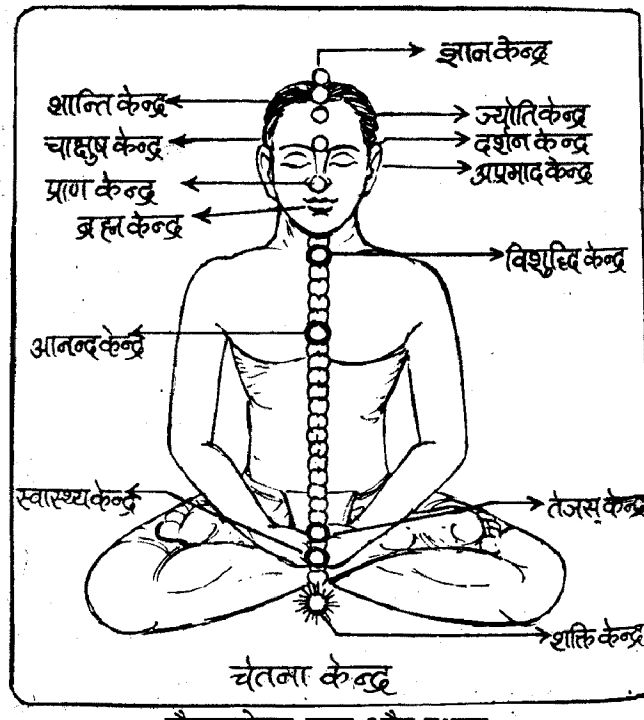

चैतन्यकेन्द्र नाम और स्थान

	नाम	स्थान	ग्रंथि/इन्द्रिय से संबंध	चक्र से संबंध
1.	शक्तिकेन्द्र	पृष्ठ रज्जु के नीचे का छोर	गोनाड्स (कामग्रंथि)	मूलाधार चक्र
2.	स्वास्थ्यकेन्द्र	पेडू	गोनाड्स (कामग्रंथि)	स्वाधिष्ठान चक्र
3.	तैजसकेन्द्र	नाभि	एड्रेनल पेन्क्रियाज	मणिपुर चक्र
4.	आनन्दकेन्द्र	हृदय के पास	थाइमस	अनाहत चक्र
5.	विशुद्धिकेन्द्र	कण्ठ के मध्य	थाइराइड पैराथाइराइड	विशुद्धि चक्र
6.	ब्रह्मकेन्द्र	जिह्वाग्र	रसनेन्द्रिय	
7.	प्राणकेन्द्र	नासाग्र	घ्राणेन्द्रिय	
8.	चाक्षुषकेन्द्र	आंखों के भीतर	चक्षुरिन्द्रिय	
9.	अप्रमादकेन्द्र	कानों के भीतर	श्रोत्रेन्द्रिय	
10.	दर्शनकेन्द्र	भृकुटियों के मध्य	पिट्युटरी	आज्ञा चक्र
11.	ज्योतिकेन्द्र	ललाट के मध्य	हाइपोथैलेमस	
12.	शांतिकेन्द्र	सिर का अग्र भाग	पीनियल	सहस्रार चक्र
13.	ज्ञानकेन्द्र	सिर के ऊपर का भाग (चोटी का स्थान)	वृहद् मस्तिष्क	

हमारे दृश्य शरीर के दो मुख्य स्थान हैं – ज्ञानकेन्द्र और कामकेन्द्र। नाभि से ऊपर का स्थान ज्ञानकेन्द्र का और नीचे का स्थान कामकेन्द्र का है। हमारी चेतना इन दो के आस-पास ज्यादा प्रवाहित रहती है। जब प्राणधारा नीचे की ओर बहती है, चित्त नीचे के केन्द्रों पर टिक जाता है तो वासना, आवेग, उत्तेजना सारी बुरी प्रवृत्तियां यहां जनमती हैं। जब प्राणधार ऊपर की ओर गति करती है, तब ज्ञानकेन्द्र जागृत होता है। अन्त: प्रज्ञा जागती है। सन्तुलन स्थापित होता है।

चैतन्य केन्द्रों पर ध्यान करने से होने वाली उपलब्धियां हैं – शक्तिकेन्द्र की निर्मलता से वाक्सिद्धि, कवित्व और आरोग्य का विकास होता है। स्वास्थ्य केन्द्र की निर्मलता से अचेतन मन पर नियन्त्रण करने की क्षमता पैदा होती है। आरोग्य और ऐश्वर्य का विकास होता है। तैजसकेन्द्र के निर्मल होने पर क्रोध आदि वृत्तियों से साक्षात्कार की क्षमता पैदा होती है। प्राणशक्ति की प्रबलता भी प्राप्त होती है। आनन्द केन्द्र की निर्मलता द्वारा बुढ़ापे की व्यथा को कम किया जा सकता है, विचार का प्रवाह रुक जाता है, सहज आनन्द की अनुभूति होती है। विशुद्धि केन्द्र की सक्रियता से वृत्तियों के परिष्कार की क्षमता पैदा होती है। बुढ़ापे को रोकने की क्षमता पैदा करना भी इसका एक महत्त्वपूर्ण कार्य है।

ब्रह्मकेन्द्र की निर्मलता द्वारा कामवृत्ति के नियन्त्रण की क्षमता प्राप्त होती है। प्राणकेन्द्र की निर्मलता द्वारा निर्विचार अवस्था प्राप्त होती है। चाक्षुष केन्द्र की साधना के द्वारा एकाग्रता को सघन बनाया जा सकता है। दर्शनकेन्द्र की प्रेक्षा के द्वारा अन्तर्दृष्टि का विकास होता है। यह हमारी अतीन्द्रिय क्षमता है। इसके द्वारा वस्तु-धर्म और घटना के साथ साक्षात् सम्पर्क स्थापित किया जा सकता है। ज्योतिकेन्द्र की साधना के द्वारा क्रोध को उपशांत किया जा सकता है। शांतिकेन्द्र पर प्रेक्षा का प्रयोग कर हम भाव संस्थान को पवित्र बना सकते हैं। "लिम्बिक सिस्टम" मस्तिष्क का एक महत्वपूर्ण भाग है जहां भावनाएं पैदा होती हैं। शांतिकेन्द्र प्रेक्षा उसी स्थान को प्रभावित करने का प्रयोग है। प्राचीन भाषा में यह हृदय परिवर्तन का प्रयोग है। ज्ञानकेन्द्र की साधना के द्वारा अन्तर्ज्ञान को विकसित किया जा सकता है। यह अतीन्द्रिय चेतना का विकसित रूप है।

अनुप्रेक्षा – जैन साधना पद्धति में अनुप्रेक्षा का महत्त्वपूर्ण स्थान है। साधना के क्षेत्र में पुराने का संशोधन और नए का निर्माण करना पहला उद्देश्य है। इस प्रक्रिया में प्रेक्षाध्यान साधना पद्धति में भी अनुप्रेक्षा की उपयोगिता स्वयंसिद्ध है। अनुप्रेक्षा का अर्थ है – यथार्थ तत्व का चिन्तन।[1] ध्यान से पहले या बाद में जब चित्त चंचल हो, इन्द्रियां बहिर्मुखी हों तो मूर्च्छा तोड़ने वाले विषयों का बार-बार चिन्तन अनुचिन्तन अनुप्रेक्षा है। इससे संवर की प्राप्ति होती है।

---

1. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, 97

सूत्रकृतांग में अनुप्रेक्षा को भावना शब्द से भी प्रस्तुत किया गया है। भावना के अभ्यास से मोह की निवृत्ति और सत्य की उपलब्धि होती है। भगवान महावीर ने कहा – जिसकी आत्मा भावनायोग से भावित व शुद्ध है, वह जल में नौका के समान है। वह तट को प्राप्त कर सब दु:खों से मुक्त हो जाता है।[1] जिससे चित्त की विशुद्धि हो, मोह का क्षय हो, स्थैर्य की प्राप्ति हो, विशिष्ट संस्कारों का आराधन हो, वह भावना है। साधना के क्षेत्र में भावना/अनुप्रेक्षा की फलश्रुति विशिष्ट है। जिन चेष्टाओं व संकल्पों द्वारा मानसिक विचारों को भावित किया जाता है, उन्हें भावना कहा गया है।

अनुप्रेक्षा को आगम ग्रंथों में स्वाध्याय का एक अंग माना गया है। आत्मोपलब्धि के लिए दो साधन है – स्वाध्याय और ध्यान। इन दोनों से परमात्मा प्रकाशित होता है। स्वाध्याय के पांच भेदों में एक भेद अनुप्रेक्षा भी है। अनुप्रेक्षा ध्यान के लिए नितान्त अपेक्षित है। भावना जब पवित्र होती है, तब साधक अन्तर्मुखी बनता है। राग-द्वेष का अल्पीकरण होता है। चित्त एकाग्र होता है, तब ध्यान की स्थिति परिपक्व बन जाती है।

शुभचन्द्र ने भावों की शुद्धि, संवेग का विकास, वैराग्य, यम और उपशम के अभ्यास के लिए अनुप्रेक्षा को स्वीकार किया है।[2] आचार्य हेमचन्द्र ने कहा कि भावना से भावित चित्त वाले का सब पदार्थों के प्रति निर्ममत्व होता है और उसी से समत्व की उपलब्धि होती है।[3]

भावना/अनुप्रेक्षा के अनेक प्रकार है। आगम साहित्य में विविध दृष्टिकोण से इनका वर्गीकरण किया है। उत्तराध्ययन[4] में पंचमहाव्रत की पच्चीस भावनाएं हैं। स्थानांग सूत्र[5] में धर्मध्यान और शुक्लध्यान की चार-चार अनुप्रेक्षाएं उल्लिखित हैं। तत्त्वार्थसूत्र[6] में मैत्री आदि चार भावनाओं का एक वर्गीकरण उपलब्ध होता है तथा दूसरा अनित्य, अशरण आदि बारह भावनाओं का। ध्यानशतक[7] में ध्यान से पूर्व होने वाली मन:स्थिति का सूचन 'भावना' शब्द से करते हुए ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और वैराग्य का उल्लेख किया गया है।

जब तक भावधारा नहीं बदलती, मनुष्य का आचरण और व्यवहार भी नहीं बदलता। पाश्चात्य देशों में भावधारा परिवर्तन करने के लिए ब्रेन वाशिंग (Brain Washing) का प्रयोग किया जा रहा है तथा सजेस्टोलॉजी (Suggestology) का प्रयोग भी किया जा रहा है।

स्वयं द्वारा स्वयं को भावित करना भावना है और मन की मूर्च्छा तोड़ने वाले विषयों का अनुचिन्तन करना अनुप्रेक्षा। प्रेक्षाध्यान पद्धति में मुख्यत: चार अनुप्रेक्षाओं का ध्यान करवाया जाता है – 1. अनित्य अनुप्रेक्षा, 2. अशरण अनुप्रेक्षा, 3. संसार अनुप्रेक्षा, 4. एकत्व अनुप्रेक्षा।

---

1. सूत्रकृतांग 1/15/2; 2. ज्ञानार्णव 2/5,6; 3. योगशास्त्र 4
4. उत्तराध्ययन, 31/17; 5. ठाणं, 4/68, 72; 6. तत्वार्थ सुत्र 9/6, 7
7. ध्यानशतक

अनित्य अनुप्रेक्षा

अनित्य अनुप्रेक्षा का चिन्तन व्यक्ति को सांसारिक संबंधों की क्षणभंगुरता का अनुचिन्तन करवा कर, संयोग-वियोग की शाश्वतता दिखलाकर उसे अनासक्ति की ओर प्रेरित करता है।

शरीर, यौवन, धन-सम्पदा, परिवार सब कुछ अनित्य है। इसे नित्य मानकर प्राणी मूढ़ न बनें, क्योंकि जन्म-मृत्यु के साथ, यौवन बुढ़ापे के साथ और सम्पत्ति विनाश के साथ अनुबद्ध है।[1]

अनित्यता का बोध होने पर व्यक्ति घटना को जानता है, भोगता नहीं। घटना को न भोगने वाला अपने जीवन में सुख, आनन्द उपलब्ध करता है। अनित्यता का बोध अहं, भ्रम, मूर्च्छा को तोड़ता है।

अशरण अनुप्रेक्षा

अशरण अनुप्रेक्षा में साधक सोचता है – जन्म, मृत्यु, बुढ़ापा, व्याधि, प्रिय का वियोग, अप्रिय का संयोग, अभिलषित वस्तु का प्राप्त न होना, दारिद्र्य, दौर्भाग्य, राग-द्वेष आदि से पीड़ित चित्त, अनेक कारणों से उत्पन्न दु:खों से आक्रान्त प्राणी का इस संसार में कोई शरणभूत सहायक नहीं बनता। अनुप्रेक्षा का सूत्र है कि कोई भी इस जगत् में तुम्हारा शरण नहीं और न ही तुम किसी के शरण बन सकते हो।

आदमी की बाह्य जगत के प्रति मूर्च्छा तब तक नहीं टूटती, जब तक यह बात समझ में नहीं आ जाए कि मेरा कोई शरण नहीं। आदमी, धन, परिवार, पत्नी, पुत्र, मित्र, मकान आदि को अपना समझता है, क्योंकि उसे यह विश्वास है कि अन्त में ये ही मेरे काम में आने वाले हैं, बस यही भ्रम प्राणी को मूर्च्छा में, परिग्रह में डालता है। जहां से कर्म संस्कारों की परम्परा शुरू होती है। अशरण अनुप्रेक्षा में चिन्तन का मुख्य तत्त्व है – अपने अस्तित्व की पहचान।

संसार अनुप्रेक्षा

कोई भी द्रव्य उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से मुक्त नहीं। जिसका अस्तित्व है, वह उत्पन्न होता है, नष्ट होता है। उत्पाद और विनाश का क्रम चलता रहता है। इसी क्रम का नाम संसार है। आचारांग में संसार का कारण मोह बताया है। "मोहेण गब्भं मरणाति एति" प्राणी मोह के कारण जन्म-मरण करता है।

संसार भावना में साधक चिन्तन करता है कि इस संसार परम्परा में मैं अनन्त-अनन्त रूपों में जुड़ा हूं। इस अनादि संसार समन्दर में अनन्त (पुद्गलापरावर्तन) काल तक अनन्त बार जन्म-मरण करता रहा हूं। विविध योनियों में विविध कष्टों को सहा है। कभी मैं

---

1. कार्तिकेयानुप्रेक्षा 5

शैशव के अधीन, कभी यौवन में गर्वित, कभी दुर्जेय बुढ़ापे से जर्जरित तो कभी यमराज के हाथों परतंत्र बनता रहा हूं।[1] इस प्रकार भावभ्रमण का यह चक्र सदा चलता रहा है, उसे तोड़ना चाहता हूं।

उत्तराध्ययन में मृगापुत्र कहता है कि संसार में दु:ख ही दु:ख है। जन्म, मृत्यु, जरा, रोग सब दु:ख है। अहो ! इस दु:खित संसार में जीव क्लेश प्राप्त कर रहे हैं।[2] साधक दु:ख-द्वन्द्वों से भरे संसार के प्रति विरक्त बनें। निर्वेद-वैराग्य मन में जागे। जगत के स्वरूप को जाने। तभी संसार में रहता हुआ प्राणी अपने मन को संन्यस्त कर पाएगा। साधना में विकास होगा।

एकत्व अनुप्रेक्षा

प्रेक्षाध्यान पद्धति में एकत्व अनुप्रेक्षा का चिन्तन करते हुए साधक जन्म-जन्मान्तरों से अर्जित संस्कारों का व्यामोह तोड़ने का प्रयत्न करता है। "मैं अकेला हूं, मेरा कोई नहीं, इस संसार में" मैं भी किसी का नहीं,[3] ऐसा चिन्तन करना एकत्व अनुप्रेक्षा है।

जब कभी समय आता है, घटना घटती है, प्राणी की जब भी मूर्च्छा टूटती है तो अनुभव जागता है कि प्राणी के संयोग-वियोग में, जन्म-मरण में, दु:ख-सुख में कोई किसी का मित्र नहीं बनता।[4] वह अकेला ही इस संसार में आता है और अकेला ही मौत का वरण करता है। अकेला ही कर्मों का संचय करता है और अकेला ही उनका फल भोगता है।[5] इस प्रकार का चिन्तन करता हुआ प्राणी राग-द्वेष-मोह से मुक्त होकर निसंगता को प्राप्त होता है।

प्रेक्षाध्यान का साधक आगम की भाषा में चिन्तन करता है –

एगो मे सासओ अप्पा, नाण दंसण लक्खणो
सेसा में बाहिरा भावा, सव्वे संजोग लक्खणा ॥[6]

ज्ञानदर्शनस्वरूप शाश्वत आत्मा है। इसके सिवाय सारे सांयोगिक पदार्थ मुझसे भिन्न है। वह मैं नहीं, जो दीख रहा हूं। साधक एकत्व अनुप्रेक्षा में अपने को सभी संयोगों से भिन्न मानता है। नमि राजर्षि का यही आत्मबोध कि "संयोग मात्र दु:ख है" उन्हें आत्म-साधना की ओर मोड़ दिया।

प्रेक्षाध्यान के सन्दर्भ में अनुप्रेक्षा की महत्ता पर आचार्य महाप्रज्ञ लिखते हैं – जो सच्चाई है, उसे देखना अनुप्रेक्षा है। "सत्यं प्रति अनुप्रेक्षा" यथार्थ के प्रति अनुप्रेक्षा। अपनी धारणाओं को छोड़ दें। मान्यताओं को छोड़ दें और फिर जो सच्चाई है, यथार्थ है, उसको

1. शान्त सुधारस भावना – 3/4-5; 2. उत्तराध्ययन 19/15
3. आचारांग 8/97; 4. ज्ञानार्णव 2/4
5. शान्तसुधारस भावना 4/2; 6. आचारांग 6/38

देखें। प्रेक्षाध्यान पद्धति में अनुप्रेक्षा का अभ्यास इसलिए करवाया जाता है कि हम रूढ़ियों को, संस्कारों को, धारणाओं को छोड़कर वास्तविक सच्चाई को देखना सीख सकें।[1]

प्रेक्षाध्यान का एक सूत्र है – बौद्धिक विकास और भावनात्मक सन्तुलन। केवल बौद्धिक विकास जीवन को तर्कप्रधान बना देगा, आत्मनियन्त्रण की बात पीछे छूट जाएगी और केवल भावनात्मक विकास विवेक-निर्णय और शक्ति की क्षमता नहीं दे सकेगा। शांत-सुधारस भावना में इन दोनों की समन्विति का निर्देशन दिया है –

स्फुरति चेतसि भावनया विना,
न विदुषामपि शान्त सुधारसः ।
न च सुखं कृशमप्यमुना विना,
जगति मोहविषादविषाऽऽकुले ॥ !

बिना भावना के विद्वानों के चित्त में शांत सुधारस स्फुरित नहीं होता और उसके अभाव में मोह और विषाद के विष से व्याकुल जगत में स्वल्पमात्र भी सुख प्राप्त नहीं होता।

भावना से भावित मन ध्यान में उतरता है। संस्कारों का शोधन करता है। वीतरागता की ओर प्रस्थान करता है। ध्यान का यही क्षण व्यक्ति के आत्मदर्शन का क्षण बनता है। •

1. मन के जीते जीत, पृ. 97

अष्टम अध्याय

रंगध्यान और लेश्या

* आवरणशुद्धि और करणशुद्धि
* बुराइयां कहां पैदा होती हैं?
* मस्तिष्क के श्रेष्ठ रंग
* रंगध्यान का मुख्य उद्देश्य
* निषेधात्मक भावों का निषेधक : रंगध्यान
* शुभलेश्या का ध्यान

अष्टम अध्याय

रंगध्यान और लेश्या

ध्यान और लेश्या

ध्यान और लेश्या में गहरा संबंध है। जब आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान होता है तो अशुभ लेश्या जागती है। आभामण्डल विकृत होता है। धर्मध्यान और शुक्लध्यान होता है, तब लेश्या शुद्ध, आभामण्डल स्वस्थ और निर्मल बन जाता है। इसीलिये बुरी आदतें, बुरे विचार/चिन्तन अशुभ लेश्या में जागते हैं जबकि अच्छी आदतें, स्वस्थ चिन्तन, प्रेरककर्म शुभलेश्या के समय ही सम्भव हैं। व्यक्तित्व परिष्कार का महत्त्वपूर्ण सूत्र है – लेश्या का विशुद्धीकरण। इस प्रक्रिया में कर्मशास्त्रीय दृष्टिकोण भी एक महत्त्वपूर्ण तथ्य प्रस्तुत करता है।

कर्मशास्त्र के अनुसार अशुभ भावों के साथ होने वाला कर्मबन्ध का संचय कषायों को प्रबल बना देता है। जब कर्म का विपाक होता है यानी अशुभ कर्मों के फल भोगने का क्षण आता है, उस समय कषाय के तीव्र स्पन्दन अध्यवसायों को, लेश्या को अशुद्ध करते हुए अन्तःस्रावी ग्रंथियों के माध्यम से वृत्तियों और वासनाओं को प्रकट करते हैं। उस समय प्राणी के विपाक तीव्र होते हैं। आत्मपरिणाम संक्लिष्ट होते हैं। फलतः व्यक्ति का बाहरी व्यक्तित्व भी अशुभ बन जाता है।

लेश्याध्यान/रंगध्यान इसी कर्म विपाक की परम्परा को बदलने का एक महत्त्वपूर्ण उपाय है, क्योंकि जिस समय भीतरी स्पन्दन और रसायन कषायों के तीव्र विपाक बाहर लेकर आ रहे होते हैं, उसी समय प्रशस्त लाल, पीले और श्वेत रंग के ध्यान द्वारा ऐसे शुभ/प्रशस्त स्पन्दन और रसायन पैदा किए जा सकते हैं, जिनसे तीव्र विपाक के प्रकम्पन बदल जाते हैं, रसायन मन्द हो जाते हैं और सामर्थ्य क्षीण तथा परिणाम विफल हो जाता है। इस दृष्टि से लेश्या ध्यान अथवा चैतन्य केन्द्रों पर रंगों का ध्यान आत्मविकास में महत्त्वपूर्ण समझा गया है।

चैतन्यकेन्द्रों पर रंगध्यान की परम्परा आभामण्डल को शुद्ध और निर्मल बनाने की आध्यात्मिक चिकित्सा है। चिकित्सा केवल शरीर की ही नहीं होती, मन की भी होती है। भगवान महावीर ने कैवल्य प्राप्ति से पूर्व क्रोध, मान, माया, लोभ जैसी आध्यात्मिक बीमारियों की चिकित्सा की।[1] आज चिकित्सा विज्ञान के शोधपरक निष्कर्षों ने भी यह तथ्य प्रस्तुत किया है कि शारीरिक बीमारी का मूल कारण मानसिक तनाव है। एलेक्स जोन्स (Alex Jones) लिखते हैं कि हमारे जितने भी निषेधात्मक विचार/चिन्तन, संवेग और कार्य हैं, उन सभी की अन्तिम परिणति शारीरिक समस्याएं हैं।[2]

---

1. सूत्रकृतांग 1/6/26
2. Alex Jones, Seven Mansions of Colour, p. 123

डॉ. बेबीट (Dr. Babbitt) जो चिकित्सा के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण क्रान्ति के जनक माने गए हैं, उन्होंने अपने शोध निष्कर्ष में कहा है कि कुछ बीमारियाँ भौतिक स्तर पर शुरू होकर आध्यात्मिक स्तर को प्रभावित करती हैं और कुछ आध्यात्मिक स्तर पर प्रारम्भ होकर शारीरिक स्तर को प्रभावित करती हैं।[1] तनावपूर्ण शारीरिक स्थिति के लिये हमारे असन्तुलित विचार और भावनाएं जिम्मेवार हैं। वे चाहे चेतन स्तर पर हों या अचेतन स्तर पर, वर्तमान हों या अतीत, प्रिय हों या अप्रिय सदा हमारे जीवन व्यवहार को प्रभावित करते रहते हैं। घृणा, भय, चिन्ता, अशान्ति, वासना आदि विविध रूपों में हमारा तनाव अभिव्यक्त होता है।

आवरण-शुद्धि और करण-शुद्धि – अध्यात्म के क्षेत्र में चैतन्यकेन्द्रों से जुड़ी दो बातें विशेष महत्त्व रखती हैं – 1. आवरण शुद्धि 2. करण शुद्धि। आवरण शुद्धि यानी मोहकर्म के संचित पुद्गलों का क्षय अथवा क्षयोपशम और करणशुद्धि यानी आवरणशुद्धि के प्रकटीकरण का शारीरिक माध्यम। शुभ भावों से होने वाली आवरण शुद्धि सम्पूर्ण चैतन्य में होती है, पर उसका प्रकाश शरीर प्रदेशों को करण बनाए बिना बाहर नहीं जा सकता। आवरण शुद्धि के साथ शरीर प्रदेशों का शुद्ध होना भी बहुत जरूरी है। आवरणशुद्धि और करणशुद्धि दोनों जब एक साथ होते हैं तो लेश्या बदलती है, चरित्र बदलता है।

बुराइयां कहां पैदा होती हैं? – लेश्या सिद्धान्त के अनुसार कृष्ण, नील और कापोत इन तीन अशुभ लेश्याओं में मनुष्य की बुरी आदतें, बुरे विचार, बुरे आचरण जन्म लेते हैं। प्रज्ञापना एवं उत्तराध्ययन में लिखा है कि अविरति, क्षुद्रता, निर्दयता, नृशंसता, अजितेन्द्रियता कृष्णलेश्या के परिणाम हैं। ईर्ष्या, कदाग्रह, अज्ञान, माया, निर्लज्जता, विषयवासना, क्लेश, रसलोलुपता – ये नील लेश्या के परिणाम हैं। वक्रता, वक्र आचरण, अपने दोषों को ढांकने की वृत्ति, परिग्रह भाव, मिथ्या दृष्टिकोण, दूसरों के मर्म प्रकाशन की आदत, अप्रिय कथन – कापोत लेश्या के परिणाम हैं।

आचार्य महाप्रज्ञ ने अपनी पुस्तक आभामण्डल में आत्मविवेक ग्रंथ को उद्धृत करते हुए लिखा है कि क्रूरता, वैर, मूर्च्छा, अवज्ञा और अविश्वास – ये सब स्वाधिष्ठान चक्र में उत्पन्न होते हैं। तृष्णा, ईर्ष्या, लज्जा, घृणा, भय, मोह, कषाय और विषाद मणिपुर चक्र में तथा अनाहत चक्र में लोलुपता, तोड़फोड़ की भावना, आशा, चिन्ता, ममता, दम्भ, अविवेक, अहंकार जन्म लेते हैं।[2]

जैन आगमों ने मोहनीय कर्म की प्रवृत्तियों के प्रकट होने का स्थान नाभि के आसपास माना है। आज मनोविज्ञान एवं शरीर विज्ञान के क्षेत्र में भी इस विषय पर काफी खोज हो रही है। एलेक्स जोन्स ने निम्न और उच्च केन्द्रों पर होने वाले अच्छे-बुरे प्रभावों का उल्लेख

---

1. E.D. Babbitt, The Philosophy of Cure, An Exhaustive Survey Compiled by Health Research, Colour Healing, p. 29
2. आचार्य महाप्रज्ञ – आभामण्डल, पृ. 53

किया है। उनका मानना है कि सभी भौतिक (स्थूल/इहलौकिक) संवेदन तीन निम्न केन्द्रों के माध्यम से होते हैं। यदि हममें निषेधात्मक चिन्तन कार्य कर रहा है तो इसका अर्थ है कि हमारे ये तीनों चक्र सक्रिय हैं। इन तीन चक्रों के सम्पर्क में आने से हृदय की आठ कमजोरियां प्रकट होती हैं – 1. भय 2. लज्जा 3. दुःख 4. घृणा 5. निन्दा 6. वंश-अभिमान 7. जाति/आग्रह 8. उत्तरदायित्व के प्रति अजागरूकता।[1]

शरीर शास्त्रीय दृष्टि से भी गोनाड्स व एड्रीनल अन्तःस्रावी ग्रंथियों को बुरी वृत्तियों के जागने का केन्द्र माना गया है। आध्यात्मिक शब्दावली में इन्हें अशुभ लेश्या के अभिव्यक्ति स्थान माने जा सकते हैं। गोनाड्स व एड्रीनल को योगशास्त्र की भाषा में स्वाधिष्ठान चक्र और मणिपुर चक्र कहा जाता है। प्रेक्षाध्यान में इन्हें तैजसकेन्द्र तथा शक्तिकेन्द्र की संज्ञा दी गयी है।

इन केन्द्रों पर उभरने वाला आभामण्डल सदा भद्दा, धुंधला और अस्त-व्यस्त होता है। ऐसे आभामण्डल में जीने वाले मनुष्य शरीर, मन और आत्मा के बीच द्वन्द्वात्मक स्थिति में रहते हैं। अशान्त, असन्तुलित और असंयत जीवन के प्रति भौतिक व्यामोह रहने के कारण उन्हें कभी सुव्यवस्थित जीवन जीने का अवसर भी नहीं मिलता।

वेरा स्टैनले एल्डर (Vera Stanley Alder) लिखती हैं कि गहरे, सुस्त (dull) और धुंधले रंग हमारी आत्मा, नैतिकता एवं स्वास्थ्य को हानि पहुंचाते हैं। ये रंग अपराध, रुकावटें, हीन भावनाएं, आत्महत्या और बलपूर्वक कार्य करवाने की भावना को प्रेरित करते हैं। अतः जीने की दिशा बदलने के लिये शुभ चमकदार रंगों का चैतन्य केन्द्रों पर ध्यान अपेक्षित है। ध्यान के क्षेत्र में विशिष्ट केन्द्रों की चर्चा न केवल हठयोग/योगशास्त्र में ही स्वीकृत है अपितु चिकित्सा के क्षेत्र में भी इस विषय पर गहरा अध्ययन किया गया है और उसके शोधपरक निष्कर्ष आज हमारे सामने हैं।

मस्तिष्क के श्रेष्ठ रंग – रंग चिकित्सा के क्षेत्र में सभी चिकित्सकों और मनोवैज्ञानिकों ने रंगों का प्रयोग मस्तिष्क और सुषुम्ना पर अधिक प्रभावक माना है, क्योंकि सुषुम्ना का स्थान प्राणशक्ति का मूलस्रोत है। संतुलित जीवन-यात्रा और आत्मविकास के क्षेत्र में भी ऊर्ध्वारोहण इसी ऊर्जा द्वारा संभव है। यही ऊर्जा पूरी रीढ़ की हड्डी में अवस्थित सुषुम्ना नाड़ी में फैलकर भिन्न-भिन्न चक्रों/चैतन्य के विशेष केन्द्रों में बंट जाती है। मस्तिष्क सहस्रारचक्र में यही ऊर्जा पूंजीभूत रूप में संगृहीत होती रहती है। मस्तिष्क को ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय का संचालक कहा गया है। रंगध्यान के सन्दर्भ में मस्तिष्क में रंगों का महत्त्व विश्लेषित करते हुए लिखा गया है कि मस्तिष्क के ऊपरी हिस्से में सभी रंग अधिक शुद्ध और अधिक चमकदार नजर आते हैं।

---

1. Alex Jones, Seven Mansions of Colour, p. 62

डॉ. बेबीट ने शरीर के विभिन्न अंगों के विभिन्न रंगों को बताते हुए मस्तिष्क के श्रेष्ठ रंगों का भी उल्लेख किया है। उन्होंने मस्तिष्क में कई केन्द्रों को निर्धारित किया है, जो अलग-अलग श्रेष्ठ शक्तियों को दर्शाने वाले हैं।

प्रस्तुत विषय की स्पष्टता के लिए बेबीट द्वारा प्रस्तुत रेखांकन इस प्रकार है :-[1]

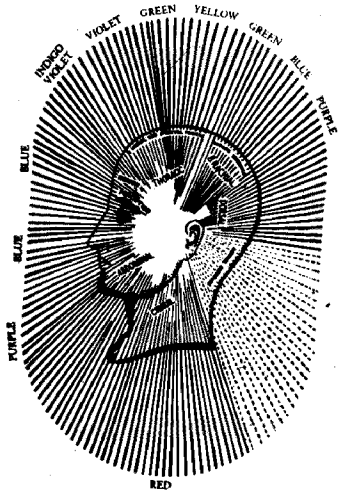

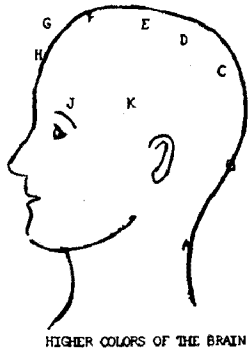

HIGHER COLORS OF THE BRAIN

पाशविक शक्ति (Animal Energies)

'ए' – वासना (Amativeness) गहरा लाल

'बी' – कामुक प्रेम (Sexual love) लाल

श्रेष्ठ शक्ति (Higher Energies)

'सी' – आत्मसम्मान, गर्व शक्ति (Selfesteem, Pride, Power) बैंगनी

'डी' – दृढ़ता (Firmness) नीला

नैतिक व आध्यात्मिक शक्ति (Moral and Spiritual Powers)

'ई' – धर्म, श्रद्धा (Religion, Veneration) पीला

'एफ' – उच्च प्रेम (Higher love) लाल

'जी' – उदारता (Benevolence) हरा

मानसिक शक्तियाँ (Mental Powers)

'एच' – बुद्धि (Reason) नीला

'जे' – बोध (Perception) गहरा (darker) नीला

'के' – आदर्शवादिता (Ideality) बैंगनी

रंगध्यान का मुख्य उद्देश्य – हमारे अवचेतन मन को प्रभावित करने वाले तत्त्वों में से एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है – रंग। ध्यान के समय जब मन शांत और एकाग्र होता है तो उस समय विकिरित होने वाले रंग विशेष रूप से हमारे चैतन्य और सूक्ष्म शरीर को प्रभावित करते हैं।

---

1. (a) Faber Birren, Colour and Human Response, p. 80-81
   (b) Edwin D. Babbitt, The Principles of Light & Colour, An Exhaustive Survey Compiled by Health Research, Colour Healing, p. 16

चैतन्यकेन्द्र हमारी चेतना और शक्ति के अभिव्यक्ति केन्द्र माने गए हैं। प्रत्येक चक्र/केन्द्र भौतिक वातावरण और चेतना के स्तरों पर साथ-साथ अंत:क्रिया करता हुआ आभामण्डल में अपनी भिन्न छवियाँ अंकित करता है। इनके प्रतिबिम्ब हमारे विचार और व्यवहार में भी उभरते हैं।

रंगध्यान से हमारा तैजस शरीर जागता है। उसके स्पन्दन स्थूल शरीर पर आते हैं। अच्छे-बुरे संस्कार आभामण्डल में रंगों के माध्यम से अभिव्यक्त होते हैं। यही रंग हमारे मनस् की सूक्ष्म व सही जानकारी देते हैं। रंगध्यान के मुख्य उद्देश्य हैं –[1]

* आध्यात्मिक गुणों का विकास
* एकाग्रता की शक्ति का विकास
* निषेधात्मक शक्तियों का अन्त
* स्वचिकित्सा की क्षमता के उपयोग में सहयोग
* विचार संप्रेषण की शक्ति का जागरण।

जैन परम्परा में रंगध्यान – भद्दे आभामण्डल को चमकदार बनाने के लिए रंगध्यान एक अमोघ रसायन है। जीवन की समरसता, सफलता और प्रगति इसके परिणाम हैं। यद्यपि जैन योग में भीतरी रसायनों के बदलाव के 12 उपक्रम (निर्जरा के बारह भेद) उल्लिखित हैं, किन्तु उनमें ध्यान सर्वाधिक सरल और शीघ्र प्रभावी प्रक्रिया है।

जैन साधना पद्धति में रंगध्यान की परम्परा बहुत पुरानी है। आवश्यक सूत्र में तीर्थंकर स्तुति के अन्तर्गत अर्हन्तों को चन्द्रमा के समान निर्मल, सूर्य के समान तेजस्वी और सागर के समान गम्भीर बतलाया गया है –

''आरुग्गबोहिलाभं समाहिवरमुत्तमंदिंतु ॥
चन्देसु निम्मलयरा आइच्चेसु अहियं पयासयरा ॥
सागरवरगंभीरा सिद्धासिदिं मम दिसन्तु ॥''

इन उपमाओं में श्वेत, लाल और नीले रंग की महत्ता स्वयं स्पष्ट है। ये भावात्मक स्तर पर हमारे आरोग्य, बोधि और समाधि के लिए उत्तरदायी हैं।

मंत्रविद् आचार्यों ने नमस्कार महामंत्र की भिन्न-भिन्न चैतन्य केन्द्रों पर भिन्न-भिन्न रंगों के साथ ध्यान करने की चर्चा की है। अभ्यास के बाद उनकी कुछ निष्पत्तियां भी सामने आई हैं, जो इस प्रकार हैं :-

---

1. Colour Meditations, p. 26

पद	केन्द्र	वर्ण	निष्पत्ति
णमो अरिहन्ताणं	ज्ञानकेन्द्र	श्वेत वर्ण	ज्ञान चेतना का जागरण
णमो सिद्धाणं	दर्शनकेन्द्र	लाल वर्ण	शारीरिक सामर्थ्य एवं अन्तर्दृष्टि का जागरण
णमो आयरियाणं	विशुद्धिकेन्द्र	पीला वर्ण	आवेग उपशमन
णमो उवज्झायाणं	आनन्दकेन्द्र	नीला वर्ण	शांति, समाधि
णमो लोएसव्वसाहूणं	शक्तिकेन्द्र	श्याम वर्ण	ग्राहक शक्ति का विकास

तंत्रशास्त्र में चेतना-विकास, इन्द्रिय-विजय, ज्ञान शक्तियों के तथा वीतरागता के अनेक प्रयोग प्रस्तुत किए गए हैं। ये सारे महत्त्वपूर्ण प्रयोग लेश्या सिद्धान्त से सम्बद्ध हैं।

निषेधात्मक भावों का निषेधक : रंगध्यान – रंगध्यान के विषय में जैनों ने ही नहीं, अन्य पूर्वी एवं पश्चिमी वैज्ञानिकों ने भी अपने निष्कर्ष प्रस्तुत किए हैं। एलेक्स जोन्स की रंग विषयक व्याख्याओं की प्रस्तुति प्रासंगिक है :-[1]

लाल रंग – यदि जड़ता, अवसाद, भय, उदासी की भावनाओं पर नियंत्रण करना हो; वासनाओं और इच्छाओं पर विजय पानी हो; घृणा, क्रोध, स्वार्थता, लालच, निर्दयता, मारकाट की प्रवृत्ति आदि निषेधात्मक वृत्तियों से मुक्त होना हो तो लाल रंग का ध्यान करना उपयोगी रहता है। लाल रंग का ध्यान करने से स्नेह, उदारता, दूसरों के प्रति संवेदनशीलता, स्वविकास की अभीप्सा जागती है। ऐसा व्यक्ति जीवन में कभी पलायनवादी नहीं होता। वह परिस्थिति से घबराता नहीं, अपितु मुकाबला करने का साहस जुटा लेता है।

नारंगी रंग – यदि मन विध्वंसात्मक क्रूर चिन्तन से ग्रस्त है, झूठा अभिमान, सत्ता हथियाने की मनोवृत्ति, संवेदनहीनता, अविश्वास जैसे गलत संस्कार मन पर हावी हैं तो चमकदार नारंगी रंग का ध्यान करना उपयोगी है। फलस्वरूप आशावादिता, मानवीय एकता, उदात्त गुणों का जागरण, दूसरों के प्रति प्रेम, संवेदनशीलता आदि गुण प्रकट होते हैं। धीरे-धीरे निषेधात्मक व्यक्तित्व विधेयात्मकता में बदल जाता है।

पीला रंग – यदि आभामण्डल में धुंधला पीला रंग हो तो व्यक्ति अहंवादी, मानसिक, वाचिक रूप से आक्रामक, पृथकत्ववादी होता है। उसके लिए चमकदार पीले रंग का ध्यान करना महत्त्वपूर्ण होता है, क्योंकि इससे व्यक्ति भयमुक्त एवं दुराग्रह मुक्त हो जाता है। बौद्धिक व मानसिक चेतना का विकास होता है। विध्वंसात्मक दृष्टिकोण समाप्त होता है और रचनात्मक दृष्टिकोण पनपता है।

हरा रंग – यदि व्यक्ति में पाखंडता, अहंवादिता, कायरता, लालसा, स्वार्थपरता, मोह, ईर्ष्या और असुरक्षा की भावना पैदा हो जाए तो इनसे मुक्त होने के लिये हरे रंग का ध्यान

1. Alex Jones, Seven Mansions of Colour, p. 38-45

किया जाता है, क्योंकि हरे रंग के ध्यान से विवेक शक्ति, निर्णायक क्षमता, आशावादिता जागती है।

नीला रंग – नीले रंग का ध्यान उस समय व्यक्ति को करना चाहिए, जब व्यक्ति प्रतिक्रियावादी, आक्रामक, रूढ़िवादी और भयभीत होता है। चमकदार नीला रंग इन संस्कारों का उपशमन कर देता है। फलत: व्यक्ति में शान्ति, धैर्य, सन्तोष, वफादारी और आध्यात्मिक विकास उतरने लगता है।

जामुनी और बैंगनी रंग – इस रंग का ध्यान उन व्यक्तियों के लिये अत्यावश्यक है जो भ्रम/माया में फंसे हुए हैं। भौतिकता में डूबे हैं। काल्पनिक चिन्तन में खोये रहते हैं। ऐसे व्यक्ति जब चमकदार रंग का ध्यान करते हैं तो उनमें अन्त:प्रेरणा और आन्तरिक शक्ति जागती है। वे भविष्य को साक्षात् देखने लगते हैं।

लेश्या ध्यान

प्रेक्षाध्यान पद्धति में लेश्या ध्यान की अवधारणा मुख्यत: व्यक्तित्व रूपान्तरण की ओर संकेत करती है। यदि हम अशुभलेश्या से शुभलेश्या में आना चाहते हैं तो रंगों द्वारा इस उद्देश्य तक पहुँचा जा सकता है।

लेश्या ध्यान में मुख्य तीन रंगों का चयन किया जाता है। चमकता श्वेत, लाल और पीला – ये तीनों रंग शुभ्र, प्रशस्त एवं मनोज्ञ हैं। इनका भिन्न-भिन्न चैतन्यकेन्द्रों पर ध्यान करवाया जाता है। आचार्य महाप्रज्ञ ने जैनयोग पुस्तक में चैतन्यकेन्द्रों पर रंगों के ध्यान के बारे में बताते हुए लिखा है – लाल रंग का ध्यान करने से शक्तिकेन्द्र (मूलाधार चक्र) और दर्शनकेन्द्र (आज्ञा चक्र) जागृत होते हैं। पीले रंग का ध्यान करने से आनन्दकेन्द्र (अनाहत चक्र) जागृत होता है। श्वेत रंग से विशुद्धि केन्द्र (विशुद्धि चक्र) तैजसकेन्द्र (मणिपुर चक्र) और ज्ञानकेन्द्र (सहस्रार चक्र) जागृत होते हैं।[1]

तेजोलेश्या का ध्यान – तेजोलेश्या का दर्शनकेन्द्र पर बालसूर्य जैसे लाल रंग में ध्यान किया जाता है। यह दर्शन केन्द्र पिट्यूटरी ग्रंथि का क्षेत्र है। वैज्ञानिकों ने भी इसका रंग लाल बतलाया है। यह सभी ग्रंथियों पर नियंत्रण करती है, इसलिए इसे 'मास्टर ऑफ ग्लैण्ड' कहा जाता है। अध्यात्म की भाषा में इसे तृतीय नेत्र भी कहा गया है। पिट्यूटरी ग्रंथि सक्रिय होने पर एड्रीनल ग्रंथि के स्राव को संयमित करती है। फलत: कामवासना, उत्तेजना आदि निषेधात्मक वृत्तियां अनुशासित रूप में अपना कार्य करती हैं।

लाल रंग रीढ़ की हड्डी के मूल-मूलाधार चक्र का नियंत्रक है। तंत्रशास्त्र और योगशास्त्र में मूलाधार/शक्तिकेन्द्र का रंग लाल माना गया है। यह रंग एड्रीनल के स्रावों को सक्रिय करता है। एड्रीनल का पिट्यूटरी के साथ गहरा संबंध है। अत: पिट्यूटरी/दर्शनकेन्द्र पर ध्यान करने से इस ग्रंथि का नियंत्रण होने लगता है। लाल रंग साहस, शक्ति,

---

1. आचार्य महाप्रज्ञ – जैन योग, पृ. 142

ऊर्जा, सक्रियता और बलिदान को दर्शाने वाला है। इस रंग के ध्यान द्वारा पांच इन्द्रियों के विषय पर विजय पाई जा सकती है, क्योंकि दर्शनकेन्द्र मस्तिष्क का स्थान है और मस्तिष्क में सभी इन्द्रियों का कार्य सम्पादित होता है। दिव्य श्रवण, दृश्य, गन्ध, आस्वाद एवं स्पर्श की शक्ति भी इससे उपलब्ध होती है।

दर्शनकेन्द्र पर तेजोलेश्या का लाल रंग में ध्यान करने से प्राणशक्ति जागती है। अन्तर्मुखी दृष्टिकोण बनता है। आगम में तेजोलेश्या को आत्मविकास का द्वार माना गया है। जब तक तेजोलेश्या नहीं जागती, कृष्ण, नील, कापोत लेश्या से घिरा व्यक्ति निषेधात्मक जीवन जीता रहता है। जब तेजोलेश्या जागती है तब दर्शनकेन्द्र/आज्ञाचक्र खुलता है। शरीर, मन और आत्मा का ऊर्ध्वारोहण होने लगता है।

रंग चिकित्सक भी मानते हैं कि लाल रंग का प्रभाव मुख्यत: भौतिक शरीर से संबंधित होने पर भी यह तारामण्डलीय (astral), मानसिक (Mental) और आध्यात्मिक (Spiritual) शरीरों को भी प्रभावित करता है। लाल रंग मूल प्रवृत्तियों तथा इच्छाओं को जगाते हुए अवचेतन मन पर कार्य करता है और यही रंग हमारे भीतर जीवन की आध्यात्मिक शक्ति, योग्यता, पराक्रम और शारीरिक क्षमता को प्रेषित करता है।[1]

इस प्रकार दर्शनकेन्द्र पर लाल रंग और पिट्यूटरी ग्रंथि का समायोजन राग से विराग की ओर मोड़ देता है। चेतना आर्त्त-रौद्र-ध्यान से धर्मध्यान में प्रवेश कर विशुद्धता की ओर बढ़ती है। व्यक्तित्व रूपान्तरण की प्रक्रिया शुरू हो जाती है।

पद्मलेश्या का ध्यान – लेश्या ध्यान में ज्ञानकेन्द्र (सहस्रार चक्र) पर पीले रंग का ध्यान करवाया जाता है। भारतीय योगियों ने पीले रंग को जीवन का रंग माना है। आगमों में पद्मलेश्या का रंग पीला माना गया है। लेश्याध्यान में ज्ञानकेन्द्र पर पीले रंग का ध्यान आध्यात्मिक दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है। पीला रंग ध्यान की पवित्र शक्ति माना गया है। जो चेतना से जुड़ा है और नाभि चक्र/तैजसकेन्द्र पर नियंत्रण करता है। इसमें स्वनियंत्रण तथा धैर्य की गुणात्मकता है। यह गहरी समस्याओं के समाधान की क्षमता रखता है। ज्ञानकेन्द्र पर (जिसे शरीर शास्त्रीय भाषा में वृहद् मस्तिष्क, हठयोग में सहस्रार चक्र कहा गया है) पर ध्यान करते हैं तो जितेन्द्रिय होने की स्थिति घटित होती है। योगशास्त्रविदों ने ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रियों का परस्पर गहरा संबंध माना है।

इस केन्द्र पर भय, काम, वासना, सांसारिक-भाव तथा संवेगात्मक प्रभाव जागते रहते हैं। शरीर शास्त्रीय भाषा में यह एड्रीनल के अधिक स्राव का कारण है। अत: माना गया है कि एड्रीनल स्राव को पिट्यूटरी ग्रंथि नियंत्रित करती है और पिट्यूटरी ग्रंथि के स्थान पर योगियों ने ज्ञानकेन्द्र/सहस्रार चक्र की अवधारणा की है। कृष्ण एवं नील लेश्या में व्यक्ति अजितेन्द्रिय होता है। पद्मलेश्या में जितेन्द्रियता के भाव पैदा हो जाते हैं।

---

1. Colour Meditations, p. 9

एलेक्स जोन्स का भी कहना है कि पीला रंग लज्जा, विश्वासघात, झूठ, धनलिप्सा, क्रोध, घृणा, अज्ञान, इच्छा, सांसारिकता, ईर्ष्या और हतोत्साह जैसी सभी समस्याओं की चिकित्सा करता है। जब पीले रंग पर ध्यान किया जाता है तो बौद्धिक तथा मानसिक शक्ति इससे प्रभावित होती है। जब आभामण्डल में यह रंग चमकता है तो रचनात्मक तथा विश्लेषणात्मक योग्यताएं उत्पन्न होती हैं। दिल और दिमाग का सन्तुलन हो जाता है।[1] पद्मलेश्या ऊर्जा के उत्क्रमण की प्रक्रिया है। इसके जागने पर कषायों की अल्पता आती है। आत्मनियंत्रण सधता है और मन प्रशान्त रहता है।

शुक्ललेश्या का ध्यान – शुक्ललेश्या का ध्यान ज्योतिकेन्द्र पर पूर्णिमा के चन्द्रमा जैसे श्वेत रंग में किया जाता है। शरीर शास्त्रीय दृष्टि से ज्योतिकेन्द्र का स्थान पिनियल ग्रंथि है। कषाय, कामवासना, असंयम, आसक्ति आदि संज्ञाओं को उत्तेजित और उपशमित करने का कार्य अवचेतक मस्तिष्क (Hypothalamus) से होता है। इसके साथ ज्योति केन्द्र का गहरा संबंध है। अवचेतक मस्तिष्क का सीधा संबंध पिट्यूटरी और पिनियल के साथ है। ध्यान के क्षेत्र में श्वेत रंग द्वारा जब ज्योति केन्द्र जागता है तब पिनियल ग्रंथि सक्रिय होती है और एक सन्तुलित व्यक्तित्व सामने आता है, क्योंकि नीचे के सभी ग्रंथि-स्रावों को नियंत्रण करने वाली यही ग्रंथि है। इस पर ध्यान करने से शारीरिक, मानसिक समस्याएं भी सुलझ जाती हैं।

लेश्या-ध्यान में सफेद रंग का ध्यान वीतरागता की ओर प्रस्थान कराने वाला माना गया है। शुभध्यान शुभमनोवृत्ति की सर्वोच्च भूमिका है। शुक्ललेश्या का ध्यान आत्म-साक्षात्कार की क्षमता जगाता है। यहां से भौतिक और आध्यात्मिक जगत का अन्तर समझ में आने लगता है।

एडगर सेसी (Edgar Cayce) ने सफेद रंग को पूर्णता का प्रतीक माना। उन्होंने बताया कि हमारा सम्पूर्ण जीवन सन्तुलन में है तो इसका मतलब है कि हमारे सभी प्रकम्पन सिमट जाते हैं और हमारा आभामण्डल पवित्र तथा सफेद प्रकाश से भर जाता है।[2] रंग चिकित्सा के क्षेत्र में प्राण ऊर्जा का असन्तुलन सभी शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक बीमारियों का मूल कारण है।

आगम के अनुसार शुक्लध्यान सम्पूर्ण जागृत चेतना की उपलब्धि है। जब शुक्लध्यान सध जाता है, तब मनुष्य अव्यथ चेतना, अमूढ़चेतना, विवेकचेतना और व्युत्सर्ग चेतना का धनी बन जाता है।[3] इसीलिए शुक्ललेश्या का लक्षण बताया गया कि इस लेश्या में मनुष्य प्रशान्त, प्रसन्नचित्त, जितेन्द्रिय, आत्मदमी, समितियों से शमित, गुप्तियों से गुप्त, सराग या वीतराग होता है।[4]

---

1. Alex Jones, Seven Mansions of Colour, p. 41-42
2. Edgar Cayce, Auras, p. 14; 3. ठाणं 4/70; 4. उत्तराध्ययन 34/31, 32

इस प्रकार इन तीन लेश्याओं का ध्यान शरीर में उच्च केन्द्रों पर किया जाता है, क्योंकि उच्च केन्द्रों का ध्यान हमें अपनी बुरी मनोवृत्तियों से ऊपर उठाता है। जब हम इन उच्च केन्द्रों के सम्पर्क में आते हैं, तब अन्त:प्रेरणा, बुद्धि और विवेक से हम सक्रिय बनते हैं। हमारे भीतर प्रेम, शान्ति, प्रसन्नता, शक्ति, नम्रता, दयालुता, भक्ति, अन्त:प्रेरणा, विवेक, सर्वज्ञता और सर्वव्यापकता जैसे दैविक गुणों का प्रादुर्भाव एवं विकास होता है।[1]

यद्यपि लेश्या ध्यान की अवधारणा आगमिक आधार पर स्थापित नहीं है। आचार्य महाप्रज्ञ ने प्रेक्षाध्यान के अन्य प्रयोगों के साथ लेश्याध्यान को भी विशेष प्रयोजन के साथ उसका अंग स्वीकृत किया है। जरूरी नहीं कि अमुक रंग अमुक केन्द्र पर ही किया जाए। कोई भी रंग किसी भी चैतन्य केन्द्र पर किया जा सकता है। अपेक्षित केवल उद्देश्य के निर्धारण का है। हम कौनसी मनोवृत्ति से मुक्त होना चाहते हैं? क्योंकि मनोदशाओं के साथ रंगों का गहरा संबंध है।

रंगध्यान से तैजस शरीर की शक्ति जागृत होती है। जिसका तैजस शरीर जागृत होता है उसकी सन्निधि में आने पर व्यक्ति को पवित्रता, शांति और आनन्द का अनुभव होता है।

श्रावक सुदर्शन ने कायोत्सर्ग किया। उसके चारों ओर विद्युत का ऐसा शक्तिशाली वलय बन गया कि प्रतिदिन सात व्यक्तियों की हत्या करने वाले अर्जुनमाली की दानवीय शक्ति उस वलय को भेदने में अक्षम रही। सुदर्शन के शक्तिशाली और पवित्र आभामण्डल ने अर्जुनमाली के मन में परिवर्तन घटित किया और वह हत्यारे से संत बन गया। उसने महावीर के पास प्रव्रज्या ग्रहण कर ली।

इन्द्रभूति गौतम महावीर को पराजित करने के लिए आये थे, किन्तु जैसे ही उन्होंने महावीर के आभामण्डल की परिधि में प्रवेश किया, वे सबकुछ भूल गये और महावीर की पवित्रता से अभिभूत होकर उनका शिष्यत्व स्वीकार कर लिया। जैन साहित्य बतलाता है – अर्हत् प्रवचन के समय समवसरण में जन्मना विरोधी जीव-जन्तु भी शत्रुता भूलकर शांति और प्रेम से प्रवचन सुनते हैं। आचार्य सोमदेव सूरि ने अध्यात्म तरंगिणी में इसी सत्य का प्रतिपादन किया है कि सांप और नेवला, भैंस और घोड़ा तथा हरिणी और व्याघ्र परस्पर क्रीड़ा करने लगते हैं।[2]

ऐसा आश्चर्य इसलिए घटित होता है कि महापुरुषों का पवित्र आभावलय उन्हें शांत और उपशमित कर देता है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि रंगों का ध्यान व्यक्तित्व को बदलने का एक महत्त्वपूर्ण उपाय है।

विशुद्धिकेन्द्र पर नीले रंग, दर्शनकेन्द्र पर अरुण रंग, ज्ञानकेन्द्र (या चाक्षुषकेन्द्र)पर पीले रंग का और ज्योतिकेन्द्र पर श्वेत रंग का ध्यान किया जाता है। इन केन्द्रों पर ध्यान करने के साथ जो भावना की जाती है, वह इस प्रकार है –

---

1. Alex Jones, Seven Mansions of Colour, p. 61; 2. अध्यात्मतरंगिणी, 7

केन्द्र	रंग	भावना/अनुभव
आनन्द केन्द्र	हरा रंग	भावधारा की निर्मलता
विशुद्धि केन्द्र	नीला रंग	वासनाओं का अनुशासन
दर्शन केन्द्र	अरुण रंग	अन्तर्दृष्टि का जागरण-आनन्द का जागरण
ज्ञान (चाक्षुष) केन्द्र	पीला रंग	ज्ञानतंतु की संक्रियता (जागृति)
ज्योति केन्द्र	श्वेत रंग	परमशांति - क्रोध, आवेश, आवेग, उत्तेजनाओं की शांति

लेश्याध्यान : निष्पत्ति

प्रेक्षाध्यान साहित्य में आचार्य महाप्रज्ञ ने लेश्याध्यान की निष्पत्ति बतलाई है - जो लेश्याध्यान में उतरता है वह निम्न उपलब्धियों से जुड़ता है -

* चित्त की प्रसन्नता
* धार्मिकता के लक्षणों का प्रकटीकरण
* चरित्र की शुद्धि - संकल्प-शक्ति का जागरण
* चैतन्य का जागरण - स्वस्थ और सुन्दर व्यवहार, प्रशस्त जीवन, प्रशस्त मौत
* कर्मतंत्र और भावतंत्र का शोधन
* पदार्थ-प्रतिबद्धता से मुक्ति
* तेजोलेश्या से - परिवर्तन का प्रारंभ, अपूर्व आनन्द, मानसिक दुर्बलता समाप्त
* पद्मलेश्या से - मस्तिष्क और नाड़ीतंत्र का बल, चित्त की प्रसन्नता, जितेन्द्रियता
* शुक्ललेश्या से - आत्म-साक्षात्कार •

उपसंहार

जैन-दर्शन का आगम साहित्य ज्ञान का विशाल एवं समृद्ध भण्डार है। वह गूढ़ तत्त्वों का विश्लेषण करता है। लेश्या के सन्दर्भ में भी कहा जा सकता है कि आगम साहित्य में इस पर विस्तार से गहन चर्चा हुई है। यद्यपि किसी एक आगम में लेश्या का क्रमबद्ध उल्लेख उपलब्ध नहीं होता है और इसी क्रमबद्धता के अभाव में विषय को स्पष्टता से समझने में कहीं-कहीं कठिनाई भी अनुभव होती है फिर भी यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि जैन-दर्शन में लेश्या का सांगोपांग सूक्ष्म विश्लेषण है। लेश्या सिद्धान्त ने जीवन के स्थूल और सूक्ष्म सभी पहलुओं को छुआ है। यदि अनेकान्त दृष्टि से किए गए उसके विश्लेषण को व्यवहार में लाया जाए तो अनेक समस्याओं का समाधान प्राप्त किया जा सकता है।

प्रस्तुत शोध निबन्ध में लेश्या के मनोवैज्ञानिक अध्ययन की प्रस्तुति का एक लघु प्रयत्न किया गया है। आगम साहित्य के आधार पर लेश्या के बिखरे सूत्रों का समाकलन आधुनिक सन्दर्भों में जीवन की मनोवैज्ञानिक व्याख्या करने में सक्षम है।

इस शोध में सैद्धान्तिक एवं मनोवैज्ञानिक अध्ययन की समन्विति ने इस बात को स्पष्ट करने का प्रयास किया है कि सिद्धान्त केवल सिद्धान्त तक सीमित न रहे, वह जीवन के प्रायोगिक दर्शन के साथ भी समानान्तर गति से आगे बढ़े।

जैन साहित्य में लेश्या का संप्रत्यय जीव और पुद्गल के संबंधों की खोज करते समय विश्लेषित हुआ। जीव और पुद्गल दोनों परस्पर एक-दूसरे से प्रभावित होते हैं। जीव को प्रभावित करने वाली अनेक पौद्गलिक संरचनाओं में एक विशिष्ट पुद्गल संरचना है – लेश्या।

जैनाचार्यों ने लेश्या की जो परिभाषा की, उसमें निम्नांकित दृष्टिकोण मुख्य रहे हैं –

- लेश्या योग परिणाम
- लेश्या कषायोदयरंजित योग प्रवृत्ति है।
- लेश्या कर्मनिष्यन्द है।
- लेश्या कार्मण शरीर की भांति कर्मवर्गणा निष्पन्न कर्मद्रव्य है।

इन शास्त्रीय परिभाषाओं के परिप्रेक्ष्य में कहा जा सकता है कि लेश्या का जीव और कर्म से गहरा संबंध है। लेश्या के मुख्य दो भेद हैं – द्रव्य लेश्या और भाव लेश्या। द्रव्य लेश्या पुद्गलात्मक होती है और भाव लेश्या आत्मा का परिणाम विशेष है, जो संक्लेश और योग से अनुगत है। मन के परिणाम शुद्ध-अशुद्ध दोनों होते हैं और उनके निमित्त भी

शुभ-अशुभ दोनों प्रकार के होते हैं। निमित्त को द्रव्य लेश्या और मन के परिणाम को भाव लेश्या कहा गया है। इसीलिए लेश्या के भी दो कारण बतलाए हैं – निमित्त कारण और उपादान कारण। उपादान कारण है – कषाय की तीव्रता और मन्दता। निमित्त कारण है – पुद्गल परमाणुओं का ग्रहण।

पुद्गल परमाणु में वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श सभी होते हैं। लेश्या के प्रतिपादन में मुख्यता वर्ण की है। चूंकि वर्ण/रंग का मन पर सीधा प्रभाव पड़ता है। रंगों की विविधता के आधार पर मनुष्य के भाव, विचार और कर्म सम्पादित होते हैं। इसलिए रंग के आधार पर लेश्या के छह प्रकार बतलाए गए हैं।

लेश्या आचरण और व्यवहार की नियामिका है। आचरण पक्ष जुड़ा है कषाय से और व्यवहार पक्ष जुड़ा है योग से। योग यानी मन, वाणी और शरीर की प्रवृत्ति। कषाय यानी आत्मा के निषेधात्मक भाव। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि योग लेश्या की भूमिका बनाता है और कषाय उस पर रंग चढ़ाता है।

कषाय – योग और लेश्या

कषाय, योग और लेश्या के पारस्परिक संबंध पर जैन साहित्य में विस्तृत चर्चा है। कषाय और लेश्या का अविनाभावी संबंध नहीं है, क्योंकि कषाय के अभाव में भी जीव के लेश्या होती है। जहां तक योग और लेश्या का संबंध है, इस सन्दर्भ में जैनाचार्यों ने भिन्न-भिन्न अभिमत प्रस्तुत किए। उन मतों की समीक्षा प्रस्तुत ग्रन्थ के 'लेश्या का सैद्धान्तिक पक्ष अध्याय' में की जा चुकी है। संक्षेप में कहा जा सकता है कि इनमें परिस्पन्दन और परिणमन जितना अन्तर है। द्रव्यमन, द्रव्यभाषा और द्रव्यकाय के पुद्गलों का परिस्पन्दन द्रव्ययोग है और इन पौद्गलिक द्रव्यों में स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण का परिणमन द्रव्यलेश्या है। द्रव्ययोग के परिस्पन्दन के सहकार से आत्मप्रदेशों का परिस्पन्दन भावयोग है और द्रव्यलेश्या के सहकार से आत्मभाव का परिणमन भावलेश्या है। अत: योग को परिस्पन्दन एवं लेश्या को परिणमन कहा जा सकता है।

लेश्या के असंख्यात स्थान बतलाए गए हैं। इसका तात्पर्य यह है कि एक लेश्या के होते हुए भी उसकी परिणति में बहुत तारतम्यता हो सकती है। शुक्ललेश्या चतुर्थ गुणस्थानवर्ती जीव में भी होती है और केवली में भी होती है पर भावों की पवित्रता में अन्तर होने से दोनों की संरचना में भी बड़ा अन्तर होता है।

लेश्या के सन्दर्भ में भावों की तारतम्यता सिद्धान्त इस बात की सूचना देता है कि कोई भी दो प्राणी एक जैसे नहीं हो सकते। एक ही लेश्या के प्राणी में भावों की तारतम्यता संभव है।

आत्मविशुद्धि के सन्दर्भ में भी भावों की तारतम्यता मुख्य भूमिका निभाती है। सम्यक्त्व प्राप्ति के समय असंख्यगुण श्रेणी की बात व्यक्ति से जुड़ी है। एक व्यक्ति में धर्म जिज्ञासा

उत्पन्न हुई, जिज्ञासा लेकर साधु के पास आया, प्रश्न पूछा – धर्म स्वीकार किया, धर्म क्रिया की – इन सभी क्रियाओं में क्रमशः निर्जरा असंख्येय गुणा अधिक होती है।

जितने समय में अयोगी केवली जितने कर्म क्षीण करता है उतने कर्म सयोगी केवली संख्येयगुण काल अधिक में क्षीण करता है। निर्जरा की असंख्येय-गुणश्रेणी में निश्चित रूप से अन्य सहयोगी कारणों के साथ लेश्या की विशुद्धि भी जरूरी है, क्योंकि बिना अध्यवसायों की उज्ज्वलता के और बिना लेश्या परिणामों के शुभ हुए निर्जरा संभव नहीं।

पुण्य-पाप व्यक्ति का अपना-अपना है। लेश्या के शुभ-अशुभ परिणामों का जिम्मेदार व्यक्ति स्वयं है। एक कृष्णलेशी जीव शुक्ललेशी जीव के गर्भ में उत्पन्न हो सकता है और शुक्ललेशी जीव कृष्णलेशी जीव के गर्भ में उत्पन्न हो सकता है। पर्यावरण का प्रभाव एक-दूसरे पर अवश्य पड़ता है, मगर सुख-दुःख की फल प्राप्ति में मूल स्रोत व्यक्ति के अपने कृतकर्म संस्कार हैं।

लेश्या के सन्दर्भ में भगवान् महावीर ने महत्वपूर्ण चर्चा की – ऋद्धि और वैभव की। ऋद्धि और वैभव के साथ दो दृष्टिकोण जुड़े हैं – 1. पदार्थ का वैभव 2. व्यक्ति के आचरण और भावों का वैभव। पदार्थ से बन्धे वैभव के साथ मूर्च्छा जुड़ी है, वहां सबकुछ होते हुए भी जीवन सुखी नहीं होता जबकि भीतर लेश्या विशुद्धि का वैभव सब अभावों के होते हुए भी आदमी को शांत-सुखी कर देता है।

लेश्या के साथ सुख-दुःख की संवेदना का कालमान भी छोटा-बड़ा बन जाता है। अशुभलेश्या के परिणाम भोगते समय छोटा-सा काल व्यक्ति के लिए बड़ा महसूस होता है, जबकि शुभलेश्या के परिणाम भोगते समय दीर्घकाल भी अल्प-सा महसूस होता है। नारकी और देवता की लेश्या का कालमान लम्बा होता है, पर सहने की अनुभूति में बहुत बड़ा फर्क है। नारकी में असह्य वेदना होने से नारकीय जीवों को वह काल निर्धारित समय से बहुत ज्यादा लगता है जबकि देवताओं को असीम सुख उपलब्ध होने की वजह से उन्हें अपनी आयु का बड़ा काल भी छोटा-सा लगता है। प्रश्न समय का नहीं, सुख-दुःख के साथ जुड़ी संवेदना का है।

लम्बाई, चौड़ाई, वजन द्वारा वस्तु का मापन इस युग की वैज्ञानिक देन है पर लेश्या के साथ जुड़ी समय, वजन, लम्बाई, स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण की बात भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। इस सन्दर्भ में अगुरुलघु का सिद्धान्त जैन-दर्शन का मौलिक अवदान है।

स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण सिर्फ पदार्थ का ही नहीं, प्राणी के भावों का भी होता है, क्योंकि भाव पुद्गल निरपेक्ष नहीं है। अठारह पापों के विषय में भगवान् ने गौतम से कहा – हिंसा, असत्य, चौर्य, परिग्रह, वासना, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि अठारह पापरूप भावों का भी अपना वर्ण, गन्ध, रस एवं स्पर्श होता है। अतः वर्ण के साथ जुड़ा भाव जगत् हमारे सम्पूर्ण व्यक्तित्व की आधारशिला बना हुआ है।

लेश्या द्वारा मनोभावों की व्याख्या

लेश्या भावधारा है। उसे मानसिक संप्रत्यय नहीं कहा जा सकता। वह मन को प्रभावित करती है। मन की मलिनता और निर्मलता का संबंध लेश्या के परिणामों से है। मानसिक चिन्तन के साथ लेश्या के प्रशस्त-अप्रशस्त होने का प्रश्न जुड़ा है।

यह सही है कि लेश्या/भावधारा को छोड़कर मानसिक दशाओं की व्याख्या नहीं की जा सकती। इसलिए मनोविज्ञान के सन्दर्भ में लेश्या का अध्ययन आज जरूरी समझा जा रहा है।

आगमों में प्रत्येक लेश्या के साथ व्यक्ति के गुणात्मक चरित्र को प्रस्तुति दी गई है। इसका मूलस्रोत है – भीतरी चेतना। जब भाव मानसिक स्तर पर उभरते हैं तब साहित्य की भाषा में इन्हें मनोभाव कहा जाता है। लेश्या मनोभावों की व्याख्या है।

लेश्या को युगीन सन्दर्भों में व्याख्यायित करना इस शोध निबन्ध का मुख्य उद्देश्य रहा है। लेश्या सिद्धान्त जीवन की प्रयोगशाला में उतरकर अनेक निर्माणकारी उपलब्धियाँ ला सकता है, क्योंकि यह व्यक्तित्व रूपान्तरण की एक मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया है। यह केवल शरीर और मन की व्याधियों का विश्लेषण ही नहीं करता, अमितु भाव-चिकित्सा की एक पूरी पद्धति भी प्रस्तुत करता है।

जीवन का हर पक्ष भावों से जुड़ा है। प्रश्न उभरता है – भाव आते कहां से हैं? दार्शनिक क्षेत्र में इस जिज्ञासा ने अज्ञात मन की खोज की। बहुत कुछ दीखता है पर बहुत कुछ ऐसा भी है जिसका कारण ज्ञात नहीं होता। कार्यकारण की मीमांसा में मनोविज्ञान अज्ञात/अचेतन मन तक पहुंचा और जैन-दर्शन ने कर्मशास्त्रीय भाषा में चेतना के सूक्ष्म स्तर अध्यवसाय को पकड़ा।

अध्यवसाय और लेश्या का गहरा संबंध है। आगम कहता है कि शुभ लेश्या और अशुभ लेश्या का हेतु क्रमशः प्रशस्त तथा अप्रशस्त अध्यवसाय है। अध्यवसायों की प्रशस्तता के आधार पर ही कृष्ण लेश्या वाला जीव शुभ आयुष्य का और अप्रशस्तता से शुक्ल लेश्या वाला जीव अशुभ आयुष्य का बन्ध कर लेता है।

लेश्या का अध्ययन करते समय अचेतन मन की व्याख्या अधिक महत्त्वपूर्ण और अनिवार्य लगती है। मनोविज्ञान ने अचेतन मन को पकड़ा। फ्रायड ने कहा – अचेतन मन में संस्कार भरे पड़े हैं। जो वासनाएं, इच्छाएं, आकांक्षाएं दमित होती हैं, वे अचेतन में चली जाती हैं। युंग ने इसकी पूर्ण परिभाषा देते हुए कहा – अचेतन मन केवल दमित इच्छाओं का भण्डार ही नहीं, उसमें अच्छे संस्कार भी हैं। इसीलिए युंग ने मन (Mind) को ज्यादा महत्त्व नहीं दिया। उसने "साइक" (Psyche) शब्द का प्रयोग किया जो स्थायी और जिम्मेदार तत्त्व है।

हजारों वर्षों पहले कर्मशास्त्र के सन्दर्भ में लेश्या की मनोवैज्ञानिक व्याख्या की। उसकी व्याख्या में युंग का मत अधिक संगत लगता है। जैन-दर्शन कर्मशास्त्र के आधार पर दो

प्रणालियां निर्धारित करता है – 1. औदायिक प्रणाली 2. क्षायोपशमिक प्रणाली। मनोविज्ञान की भाषा में इन्हें क्रमशः "स्टिमुलेशन ऑफ टेन्शन" और "सब्लीमेशन ऑफ इमोशन्स" कहा जा सकता है। उपरोक्त दोनों प्रणालियां तब तक चालू रहती हैं, जब तक व्यक्ति कर्ममुक्त नहीं हो जाता।

यदि केवल यह मान लिया जाए कि अचेतन मन में दमित इच्छाएं और वासनाएं ही हैं तो व्यक्तित्व का रूप भद्दा होगा। जबकि ऐसा होता नहीं। गहन मनोविज्ञान (Depth Psychology) अचेतन मन तक आकर रुक गया जबकि जैन-दर्शन ने कर्मशास्त्रीय मीमांसा में इससे आगे सूक्ष्मशरीर की चर्चा की। उसने प्रतिपादित किया – "कम्मुणा उवाही जायई" – व्यक्ति जो कुछ करता है, उसके पीछे कर्म की प्रेरणा है। यही प्रेरक तत्त्व समस्त आचरणों का मूल स्रोत है। कर्म जब उदय में आते हैं, उनका विपाक होता है तब सारा आचरण उसके आधार पर चलता है। कर्मशास्त्र जिसे कर्मविपाक कहता है, मनोविज्ञान की भाषा में वही दमित इच्छाओं का उभार है।

काम और राग में अन्तर कहाँ

लेश्यादर्शन और मनोविज्ञान समान रेखा पर खड़े हैं। इन दोनों में अन्तर केवल व्याख्या के भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों का है। मनोवैज्ञानिक फ्रायड ने जिस अर्थ में काम (Sex) को प्राणीमात्र की मौलिक मनोवृत्ति माना, उसी अर्थ में जैन-दर्शन राग की व्याख्या करता है।

काम और राग के विश्लेषण में इतना वैशिष्ट्य है कि फ्रायड काम के मूल कारणों की मीमांसा नहीं करता जबकि जैन-दर्शन राग के मूल स्रोत तक पहुंचा है। राग के पीछे मूर्च्छा है, मूर्च्छा के पीछे कर्म संस्कार और कर्म के साथ जुड़ा है हमारा भाव और भाव के साथ जुड़ी है चेतना की शुद्धता/अशुद्धता यानी अध्यवसायों की प्रशस्तता/अप्रशस्तता।

दिगम्बर आम्नाय के प्रमुख ग्रंथ पंचास्तिकाय में संसार चक्र का उल्लेख मिलता है कि संसारस्थ प्राणी के राग-द्वेषमय परिणाम होते हैं। इन परिणामों से नए कर्मों का बन्धन होता है। कर्मों से प्राणी विविध गतियों की यात्रा करता है। नरक आदि गतियों में उसे शरीर प्राप्त होता है। शरीर के साथ इन्द्रिय-क्षमता और इन्द्रियों के साथ उसके रूप, रस, गन्ध आदि विषय प्राप्त करता है। विषय-ग्रहण के पश्चात् फिर राग-द्वेषमय संस्कार सक्रिय हो जाते हैं। इस प्रकार जीव संसार चक्र में निरन्तर परिभ्रमण करता रहता है।

हमारा चैतन्य तीन भूमिकाओं में कार्य करता है – शुभ, अशुभ और संवर। शुभ की भूमिका में पुण्य, अशुभ की भूमिका में पाप का कोष निरन्तर भरता रहता है। कोष के अनुरूप ही लेश्या प्रशस्त-अप्रशस्त होती रहती है। संवर की भूमिका इन दोनों से पृथक् है।

चित्त और मन

लेश्या का अध्ययन करते समय चित्त और मन के बीच स्पष्टतः भेद सीमा को समझा गया है। मन और चित्त एकार्थक होते हुए भी एक नहीं हैं। यदि इन्हें एक समझ लिया जाए तो अज्ञात मन की व्याख्या नहीं की जा सकती।

चित्त और मन में तत्त्वत: भेद है। मन स्थायी तत्त्व नहीं है। वह चेतना द्वारा सक्रिय है। शरीर की तरह भाषा और मन का अस्तित्व प्रतिक्षण नहीं रहता। भासिज्जमाणी भाषा – जब बोलते हैं, तब भाषा होती है, इसी तरह मणिज्जमाणे मणे – मनन काल में मन होता है।

स्मृति, कल्पना, मनन, ईहा, अपोह, मार्गणा, चिन्ता और विमर्श ये सब मन के कार्य हैं। मानसिक कार्य के साथ चित्त का सहयोग बना रहता है। यद्यपि मनोविज्ञान ने चित्त के अर्थ में मुख्यत: मन का ही प्रयोग किया है, पर आत्मविज्ञान के सन्दर्भ में चित्त और मन को भिन्न माने बिना चेतना के सूक्ष्म स्तरों की व्याख्या संभव नहीं होती।

चित्त का अर्थ है – स्थूल शरीर के साथ काम करने वाली चेतना। मन का अर्थ है – उस चित्त द्वारा काम कराने के लिए प्रयुक्त तंत्र। मन क्रिया तंत्र है और चित्त चैतन्य तंत्र। लेश्या के सन्दर्भ में चित्त की बात विशेष महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि सम्पूर्ण भावों का संवाहक चित्त है।

रंगों की मनोवैज्ञानिक अवधारणा

जैन साहित्य में लेश्या रंगों की भाषा में व्याख्यायित है। यद्यपि लेश्या को प्रत्यक्षत: देखा नहीं जा सकता, क्योंकि यह आंखों की शक्ति से जुड़ा प्रश्न है। हम जो भी देखते, सुनते, चखते, छूते हैं, सब कुछ स्थूल होता है। जबकि लेश्या सूक्ष्म रंगों की अभिव्यक्ति है। सूक्ष्म यंत्रों अथवा अतीन्द्रिय चेतना के बिना लेश्या के सूक्ष्म रंगों को पकड़ना संभव नहीं है।

जैन-दर्शन के अनुसार पदार्थ में पांच रंग होते हैं – काला, नीला, लाल, पीला और सफेद। हम भौंरे को काला कहते हैं, पर उसमें पांचों रंग होते हैं। प्रत्येक रंग के साथ अपेक्षावाद जुड़ा है। रंगों की गुणात्मकता एवं प्रभावकता भौतिक दृष्टि से और आध्यात्मिक दृष्टि से भिन्न-भिन्न अर्थ रखती है।

कौन-सा रंग व्यक्तित्व पर कैसा प्रभाव डालता है, यह निर्भर करता है रंग की गुणात्मकता पर और व्यक्ति के स्वभाव पर। एक ही रंग भिन्न-भिन्न रुचियों वाले लोगों को अलग-अलग तरह से प्रभावित करते हुए देखा गया है। भौतिक रंगों की गुणात्मकता और प्रभावकता की तुलना में लेश्या के रंगों का अपना वैशिष्ट्य है। वे दृश्य रंगों की अपेक्षा अधिक सूक्ष्म हैं इसलिए चेतना को अधिक प्रभावित करते हैं।

लेश्या के साथ जुड़ा रंगवाद पुद्गल सिद्धान्त पर आधृत है। प्राणी प्रतिक्षण कर्म पुद्गलों को ग्रहण और विर्सजन करता है। गृहीत पुद्गल वर्णवान होते हैं इसलिए वे भावों के साथ जुड़कर अपनी प्रभावकता स्थापित करते हैं। रंगों के आधार पर अच्छे-बुरे भावों का निर्माण होता है और इसी तरह भावों की गुणात्मकता पर अच्छे-बुरे रंगों का संग्रहण होता है। इस प्रकार भाव चेतना और पुद्गल में निरन्तर अन्त:क्रिया होती रहती है।

सम्पूर्ण प्राणी जगत् की लेश्या और उसका रंग निर्धारित करना भी जैनदर्शन की अपनी मौलिक अवधारणा है। किस गति का, कौनसा जीव, किस लेश्या यानी किस रंग में जीता है, उसकी द्रव्यलेश्या और भावलेश्या का अलग-अलग प्रतिपादन यहां उपलब्ध होता है।

यद्यपि आत्मा का अपना कोई रंग नहीं होता, मगर कर्म से जुड़ी चेतना के कारण रंगों के साथ जीवन जुड़ा है। व्यक्ति जिस लेश्या में मरता है, उसी लेश्या में जनमता है, यह लेश्या की नियामकता है।

रंगों के संदर्भ में एक बात और उल्लेखनीय है कि आगमों में भावों को रंगों की विविध उपमाओं से जो पहचान दी गई है, वह अन्य पूर्वी एवं पाश्चात्य धर्मदर्शनों में देखने को नहीं मिलती। व्यक्तित्व के भौतिक एवं आध्यात्मिक पक्ष को एक साथ व्याख्यायित करने की क्षमता लेश्या सिद्धान्त का अपना निजी गुण रहा है।

किसी भी रंग को एकान्त रूप से प्रशस्त या अप्रशस्त मानना शायद रंग विज्ञान में स्वीकृत नहीं है। प्रत्येक रंग चाहे वह नीला हो या पीला, अपने विभिन्न गुणों द्वारा सम्पूर्ण व्यक्तित्व को व्यंजित करता है एवं इस दृष्टि से उसका एकान्त रूप से प्रशस्त या अप्रशस्त होना आवश्यक नहीं है। जैन-दर्शन में भी प्रत्येक लेश्या में अनन्त परिणमन हो सकते हैं। परिणमन का आधार रंगों की तरतमता है।

विचार भी रंग है – रंग वही नहीं जो हम देखते हैं। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि हम जो सोचते हैं, वही देखते हैं, क्योंकि विचार भी एक प्रकम्पन है। रंग विज्ञान के अनुसार प्रकम्पित विचार रंग में बदलते हैं। Ivan Bergh Whitten के अनुसार विचार और रंग के प्रकम्पनों में सादृश्यता देखी जा सकती है। विचार निश्चित रंग पैदा करता है और व्यक्तित्व को प्रभावित करता है।

एनीबीसेन्ट और लीडबीटर ने अपनी पुस्तक Thought Form में विचारों का संबंध (Mental and Astral Body) मानसिक एवं कारणिक शरीर से जोड़ा है। उनका मानना है कि विचार रंग पैदा करते हैं और रंगों के आधार पर मन की व्याख्या की जाती है। इस सन्दर्भ में उन्होंने लिखा – व्यक्तित्व की सच्ची पहचान के लिए मन का शांत होना जरूरी है, क्योंकि शांत मन की गति एक ही दिशा में होती है। जब मन में स्वार्थ, अहंकार, द्वेष, वासना, तृष्णा जैसा कोई निषेधात्मक भाव सक्रिय होता है तो मानसिक प्रकम्पनों की गति एक नहीं होती है।

जैन-दर्शन में लेश्या के विचारों, भावों को भी हम प्रकम्पन की भाषा में समझ सकते हैं। अत: इस सन्दर्भ में यह सिद्धान्त हमारे सामने आया कि विचार के गुण, प्रकृति और स्थिरता के आधार पर रंग, आकार और स्पष्टता निश्चित की जा सकती है। इसीलिए लेश्या सिद्धान्त में अशुभ से शुभ लेश्या के रूपान्तरण में चित्त की स्थिरता और आवेगों का उपशमन आवश्यक माना गया है।

प्रश्न उभरता है कि हम चेतना तक कैसे पहुंचे? इस प्रश्न के समाधान में भगवान महावीर ने रंगों को पकड़ा। रंग बाहरी एवं भीतरी व्यक्तित्व के दोनों पक्षों को प्रभावित करते हैं। स्थूल से सूक्ष्म शरीर तक उसकी प्रभावकता है। लेश्या रूपान्तरण में भी प्रशस्त रंगों के ध्यान से रासायनिक परिवर्तन होता है। फलतः हमारा विचार और व्यवहार बदलता है। रंग ध्यान के माध्यम से अशुभ लेश्याओं से शुभ लेश्याओं में प्रवेश पाया जा सकता है।

लेश्या और आभामण्डल

लेश्या के साथ आभामण्डल का गहरा संबंध है। यद्यपि जैनदर्शन के मौलिक साहित्य में आभामंडल नामक अवधारणा का प्रत्यक्ष उल्लेख नहीं है फिर भी तैजस शरीर और आभामण्डल में लेश्या की स्वरूप साम्यता के आधार पर इन्हें एक ही तत्त्व के दो रूप प्रतिपादित मानना असमीचीन नहीं है।

हमारे स्थूल शरीर के साथ दो सूक्ष्म शरीर जुड़े हैं – तैजस शरीर और कर्म शरीर। चेतना में कर्म शरीर के स्पन्दन तैजस शरीर के पास पहुँचकर भाव बनते हैं। भाव हमारे मस्तिष्क के एक भाग हायपोथेलेमस में पहुंचकर अभिव्यक्त होते हैं और विचार तथा व्यवहार को संचालित करते हैं। उन भावों के आधार पर हमारा आभामण्डल बनता है।

आभामण्डल पौद्गलिक है, उसका सीधा संबंध तैजस शरीर (विद्युत शरीर) से है। इसका निर्माण चैतसिक भावधारा से होता है। चेतना तैजस शरीर को सक्रिय करती है। सक्रिय विद्युत शरीर से प्रतिक्षण विकिरण होता है। यह विकिरण शरीर के चारों ओर अण्डाकार घेरा बना लेता है। पौद्गलिक विकिरणों का अपना रंग होता है। भीतरी भावों के आधार पर रंगों की छवियां बनती हैं और उसी के आधार पर व्यक्ति का चरित्र निर्मित होता है।

आगम वर्णित नौकर्म लेश्या आभामण्डल की विवेचना में विशेष अर्थ रखती है। नौकर्मलेश्या यानी पौद्गलिक वस्तुओं का आभावलय। चन्द्रमा, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र, तारा, प्रकीर्ण, ज्योति, आभरण, मणि, कांकिणी आदि के प्रशस्त विकिरणें शरीर और मन के लिए लाभकारी होती हैं। अप्रशस्त विकिरणों का प्रभाव इसके विपरीत होता है।

ऑकल्ट साइन्स के पुरस्कर्त्ताओं ने दो प्रकार के आभामण्डल बतलाए – भावनात्मक और मानसिक आभामण्डल (Emotional and Mental Aura) लेश्या सिद्धान्त के सन्दर्भ में कहा जा सकता है कि योग मानसिक आभामण्डल और कषाय भावनात्मक आभामण्डल का निर्माण करता है। आभामण्डल की अवधारणा ने भविष्य की अनेक संभावनाओं को उजागर किया है। रंगों के परिवर्तन से व्यक्ति का स्वभाव परिवर्तन होता है। यह व्यक्तित्व की सही पहचान कराता है, विधेयात्मक चिन्तन की संरचना करता है। इसके आधार पर जीवन की भविष्यवाणी की जा सकती है। आभामण्डल को तैजस शरीर, तेजोलेश्या और तैजस समुद्घात के सन्दर्भ में अध्ययन करने पर अनेक नए आयाम खोजे जा सकते हैं।

आधुनिक अवधारणा के अनुसार आभामण्डल (aura) किसी भी व्यक्ति, प्राणी या वस्तु का एक विद्युत् चुम्बकीय विकिरण है जो एक रंगीन वलय के रूप में उसके चारों ओर बनता है और जिसे विशेष उपकरणों (किर्लियन फोटोग्राफी) द्वारा पकड़ा जा सकता है – जिसका फोटो लिया जा सकता है।

जैन दर्शन में वर्णित तैजस शरीर और लेश्या भी पुद्गल विशेष के ऐसे विकिरण हैं जो विद्युन्मय परिणति के द्वारा हमारी चेतना एवं शरीर को प्रभावित करते हैं। यद्यपि यह अनुसंधान का विषय है कि तैजस शरीर, लेश्या, आभामण्डल, जैव विद्युत् आदि परस्पर किस प्रकार सम्बन्धित हैं तथा दृश्य जगत् की घटनाओं को वे किस प्रकार प्रभावित करते हैं; फिर भी इतना तो निर्विवाद कहा जा सकता है कि सूक्ष्म स्तर पर घटित होने वाले तैजस शरीर एवं लेश्या के परिणाम ही जैव विद्युत् आभामण्डल आदि स्थूल स्तरीय परिणमनों के लिए जिम्मेवार हैं।

लेश्या विधायक व्यक्तित्व का संवाहक सूत्र

संसारी प्राणी के द्वन्द्वात्मक-जड़-चेतनात्मक अस्तित्व को व्याख्यायित करने वाला जैन-दर्शन का एक महत्त्वपूर्ण आयाम लेश्या को माना जा सकता है। मनोविज्ञान के सन्दर्भ में इसी प्रश्न का समाधान जब खोजा गया तो एक महत्त्वपूर्ण जीवन का पक्ष उभरकर सामने आया – व्यक्तित्व। दोनों की संयुक्त चर्चा न केवल एक-दूसरे की पूरक बनी है, अपितु अनेक नए तथ्यों की उद्घाटक भी है।

कार्यकारण का सिद्धान्त केवल दार्शनिक जगत का ही मान्य सिद्धान्त नहीं है, अपितु जीवन के सभी पक्षों के साथ वह किसी न किसी रूप में जुड़ा रहता है। व्यक्तित्व के घटक-निमित्त और उपादान की मीमांसा में लेश्या सिद्धान्त स्वयं विश्लेषक सूत्र बना है।

व्यक्तित्व की व्याख्या लेश्या सापेक्ष है। द्रव्यलेश्या और भावलेश्या परस्पर एक-दूसरे के निमित्त कारण कहे जा सकते हैं। दूसरे शब्दों में भावलेश्या कारण है और द्रव्यलेश्या उसका कार्य। भावलेश्या कर्मचेतना है, द्रव्यलेश्या एक विशेष पौद्गलिक रचना। दोनों की परस्पर संयुति के बिना आचरण और व्यवहार एक-दूसरे से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकते। आगमिक भाषा में भावलेश्या द्रव्यलेश्या से और द्रव्यलेश्या भावलेश्या से प्रभावित होती रहती है। लेश्या के साथ शरीर की चर्चा भी अपेक्षित समझी गई, क्योंकि मनोभावों की अभिव्यक्ति का मुख्य केन्द्र शरीर है और शरीर से द्रव्यलेश्या का सीधा संबंध है। शरीर की उपादेयता सिर्फ जीवन में ही नहीं, मुक्ति के प्रसंग में भी है। भगवान महावीर ने शरीर को संसार-सागर पार कराने वाली नौका कहा है। शरीर साधन है साध्य तक पहुंचने का। शरीर और मन का परस्पर गहरा संबंध है।

आज चिकित्सा के क्षेत्र में यह बात निश्चित हो गई है कि दैहिक बीमारियों के पीछे मनोवैज्ञानिक कारण निहित है। प्रत्येक विचारवान चिकित्सक जानता है कि स्वास्थ्य के लिए मनोवैज्ञानिक तत्त्व उतने ही वास्तविक एवं प्रभावशाली हैं जितने भौतिक एवं रासायनिक

तत्व। मनोभावों की विकृति के मूल कारणों की खोज में मनोविज्ञान अभी नहीं पहुंच सका है, क्योंकि निमित्तों की चिकित्सा होने के बाद भी यदि उपादान नहीं मिटाया गया तो दबा रोग पुनः विकराल रूप धारण कर सकता है।

लेश्या चिकित्सा के परिप्रेक्ष्य में नाड़ी ग्रंथि संस्थान का उल्लेख इसलिए जरूरी माना गया कि उसके नियंत्रण एवं शोधन की बात भी भीतरी वृत्तियों के शोधन के लिए परस्पर सापेक्षता लिए हुए है।

लेश्या एक भाव चिकित्सा

मनोविज्ञान बीमारी का कारण मानसिक विकृतियों को स्वीकार करता है, क्योंकि बीमारी का असली कारण है भावों का अशुभ होना। प्रत्येक घटना के साथ मन जुड़ा रहता है। बिना मन जुड़े हममें न राग होता, न द्वेष। न सुख, न दुःख। न आनन्द, न पीड़ा। सच तो यह है कि रोग कभी कष्ट नहीं बनता, कष्ट देता है उसके साथ जुड़ा मन का संवेदन। इसलिए लेश्या चिकित्सा यानी भाव चिकित्सा को मनोवैज्ञानिक चिकित्सा माना जा सकता है।

आगमों में भी मनोभावों को बीमारी का उत्पादक माना है। चार कषायों को आध्यात्मिक व्याधि कहा है। अठारह पाप, पांच आश्रव अशुभ लेश्या आदि सावद्ययोग बीमारी को निमंत्रण देते हैं। आगमकारों ने भी लेश्या विकृति का मुख्य हेतु आर्त्तध्यान, रौद्रध्यान को माना है। अतः मनोविज्ञान में प्रचलित चिकित्सा पद्धति में लेश्या की भूमिका अपना वैशिष्ट्य रखती है। जरूरत है विकृत मनोभावों को पकड़ने की, समझने की और निदान कर उसके कारण को मिटा देने की।

विधेयात्मक व्यक्तित्व निर्माण के लिए लेश्या का धर्मध्यान शुक्लध्यान से जुड़ना जरूरी है। जब तक चेतना अशुभ से शुभ में प्रवेश नहीं करेगी, लेश्याएं विशुद्ध नहीं होंगी। लेश्या विशुद्धि के लिए विधायक व्यक्तित्व पर ध्यान केन्द्रित करना जरूरी है।

जैन-दर्शन मानता है कि विधायक व्यक्तित्व के लिए शुभलेश्या में जीना जरूरी है, क्योंकि बुरे कर्म, बुरे विचार, बुरे चिन्तन जीवन को बुरा बना देते हैं। ऐसे क्षणों में कर्मबन्ध की परम्परा और अधिक दीर्घ हो जाती है। प्राणी मूर्च्छा में डूबा रहता है। शुभ चिन्तन और शुभ भावों से और शुभ अध्यवसायों से पवित्रता आती है। कर्मबन्धन ढीले पड़ते हैं। आश्रव रुकता है। संवर और निर्जरा की प्रक्रिया गतिशील रहती है।

आत्मशोधन जरूरी

लेश्या मार्गान्तरीकरण की प्रक्रिया नहीं, आत्म-शोधन की प्रक्रिया है। मनोविज्ञान में मार्गान्तरीकरण की प्रक्रिया एक मौलिक मनोवृत्ति के मार्ग को बदलने में अवश्य सफल हुई है। मनोविज्ञान के अनुसार जब व्यक्ति में काम की मनोवृत्ति उदात्त होती है, तब वह कला, संगीत, सौन्दर्य आदि अनेक विशिष्ट अभिव्यक्तियों में बदल जाती है।

आत्मशोधन में मनोवृत्तियों की दिशा नहीं बदलती, मूलत: स्वभाव ही बदलता है। कर्म के विपाक को इतना मन्द कर दिया जाता है कि आदतें अपना प्रभाव खो चुकती हैं। नियंत्रण और शोधन के सन्दर्भ में महत्त्वपूर्ण तथ्य सामने आया कि व्यक्तित्व बदलाव अथवा आत्म नियंत्रण स्नायविक स्तर पर होता है परन्तु आत्मशोधन लेश्या के स्तर पर होता है।

चित्त, मन, इन्द्रियां – ये सब स्थूल शरीर से संबद्ध हैं। पर लेश्या स्थूल शरीर से जुड़ी हुई नहीं है, क्योंकि आगमकार कहते हैं कि लेश्या उन प्राणियों में भी होती है जिनके मस्तिष्क, सुषुम्ना, नाड़ी संस्थान होता है और उनमें भी जिनमें केवल स्पर्शन इन्द्रिय का अस्तित्व है। लेश्या सूक्ष्म स्तर पर क्रियाशील है, अत: जहां ज्ञानवाही एवं क्रियावाही स्नायु शरीर की सारी क्रियाओं का सम्पादन करती है, वहां लेश्या के लिए स्नायुतंत्र की अपेक्षा नहीं रहती। उसके साथ भावसंस्थान जुड़ा रहता है। अत: शोधन भीतरी स्तर पर जरूरी है।

लेश्या रसायन परिवर्तन की विधि है। आज मानसिक चिकित्सा में सबसे बड़ा सूत्र माना जाता है पुरानी ग्रंथियों को खोलना। लेश्या के सन्दर्भ में एक महत्त्वपूर्ण तथ्य है अशुभ लेश्या से प्रतिक्रमण कर व्यक्ति भीतरी चेतना को नि:शल्य बना लेता है। मनोविज्ञान की भाषा में इसी प्रक्रिया को मनोविश्लेषण कहा गया है। नि:शल्य बनने की प्रक्रिया में ध्यान एक महत्त्वपूर्ण उपक्रम है।

इस ग्रन्थ में लेश्या द्वारा व्यक्तित्व बदलाव की प्रक्रिया में सलक्ष्य प्रेक्षाध्यान की चर्चा की गई है। लेश्या विशुद्धि में रंगों का यानी लेश्या का ध्यान महत्त्वपूर्ण माना गया है। प्रेक्षाध्यान पद्धति आगमिक एवं वैज्ञानिक पद्धति है। इसमें चैतन्य केन्द्रों पर रंगों का ध्यान विशेष उद्देश्य के साथ जुड़ा हुआ है।

चैतन्यकेन्द्र शक्ति स्रोत है।

आत्मा पूरे शरीर में व्याप्त है। वह समूचे शरीर द्वारा कर्मपुद्गलों का ग्रहण करती है। भगवती सूत्र कहता है – सव्वेणं सव्वे। चेतना के असंख्यात प्रदेश है। समूचे शरीर द्वारा देखा, सुना, सूंघा, चखा, छुआ जा सकता है। जैन-दर्शन में संभिन्नश्रोतोपलब्धि का उल्लेख मिलता है। जिस व्यक्ति के भीतर यह लब्धि जाग जाती है उसकी चेतना इतनी विकसित होती है कि पूरा शरीर कान, आंख, नाक, जीभ और स्पर्शन इन्द्रिय का कार्य कर सकता है।

स्थूल शरीर सूक्ष्म शरीर का संवादी है। भीतरी क्षमताओं की अभिव्यक्ति के लिए स्थूल शरीर माध्यम बनता है। उसमें शक्ति और चैतन्य की अभिव्यक्ति के केन्द्र हैं। इन्हें चैतन्य केन्द्र कहा जा सकता है। साधना द्वारा जब ये सुप्त केन्द्र जागते हैं तब आगमिक भाषा में इन्हें करण कहते हैं। विज्ञान की भाषा में विद्युत चुम्बकीय क्षेत्र और तंत्र शास्त्र तथा हठयोग में इन्हीं के आधार पर चक्रों का सिद्धान्त प्रतिपादित हुआ है।

शरीर विज्ञान में अन्त:स्रावी ग्रंथियों का उल्लेख है जो हमारे भीतरी रसायनों यानी मनोभावों को शरीर के स्तर पर अभिव्यक्त करती है। उल्लेखनीय बात है कि योगशास्त्र

की दृष्टि से, लेश्या सिद्धान्त की दृष्टि से तथा शरीर शास्त्र की दृष्टि से बुरे संस्कारों के उत्पत्ति स्थानों में विचित्र साम्यता देखी जा सकती है।

लेश्या आदरणीय तत्त्व नहीं, क्योंकि लेश्यातीत होने पर ही जीव कर्ममुक्त होता है। उत्तराध्ययन में स्पष्टत: साधक को आदेश दिया गया कि वह अप्रशस्त लेश्या का त्याग करके प्रशस्त लेश्या में जीने का प्रयत्न करें। सूत्र की गाथा अहिट्ठिए – अधितिष्ठेत – क्रिया पद आत्मा की स्वतंत्रता का सूचक कहा जा सकता है। आत्मा का लेश्या में सदा जीना उसकी अनिवार्यता नहीं, स्वयं द्वारा स्वयं के पराक्रम से उस पर अधिकार पाया जा सकता है। तात्पर्य यह है कि अप्रशस्त लेश्याओं का त्याग कर प्रशस्त लेश्या को स्वीकार करने का प्रयास आत्म-विकास का प्रयास है।

व्यक्तित्व-बदलाव संभव

लेश्या-ध्यान का आधार प्रज्ञापना सूत्र में प्रतिपादित लेश्या परिवर्तन का सिद्धान्त है। ध्यान द्वारा लेश्या बदली जा सकती है। कृष्णलेश्या शुक्ललेश्या में बदल सकती है और शुक्ललेश्या की परिणति कृष्णलेश्या के रूप में हो सकती है।

लेश्या द्वारा यदि व्यक्तित्व परिवर्तन संभव न होता तो कहा जा सकता है कि सम्यक्त्वी व्रती नहीं बन सकता, व्रती साधु नहीं बन सकता, साधु वीतरागता तक नहीं पहुंच सकता। लेश्या परिवर्तन का सिद्धान्त रूपान्तरण का मूल स्रोत है। यद्यपि यह एकान्तत: नियम नहीं है कि कृष्णलेश्या वाला जीव नीललेश्या को प्राप्त कर नीललेश्या में ही जाएगा, वह क्रमश: सभी लेश्याओं में आरोह-अवरोह कर सकता है। इसी तरह कृष्णलेशी जीव सीधा शुक्ललेश्या में भी पहुंच सकता है।

अन्तर्मुहूर्त्त में लेश्या परिवर्तन की बात साधना के क्षेत्र में आस्था और विश्वास का एक महत्त्वपूर्ण पड़ाव है। देवता और नारकी को छोड़कर सामान्यत: सभी जीवों में लेश्या परिणाम अन्तर्मुहूर्त्त में परस्पर परिणत होते रहते हैं। यानी कोई भी व्यक्ति सदा एक भाव में नहीं रह सकता। बदलती भाव पर्यायें विभिन्न मनोदशाएं रचती रहती हैं। अत: व्यक्ति के भीतर दृढ़ संकल्प जाग जाए तो शुभलेश्याओं में उसका प्रवेश असम्भव नहीं है।

विचारणीय बिन्दु है कि ध्यान के साथ क्या लेश्या का सीधा संबंध है? ध्यान के साथ लेश्या के परिणमन पर क्या प्रभाव पड़ता है? ध्यान द्वारा लेश्या द्रव्यों का ग्रहण नियंत्रित किया जा सकता है? आगमों में उल्लेख मिलता है कि निर्वाण के समय केवली के मन और वचन योगों का सम्पूर्ण निरोध होता है। उस समय उसके शुक्लध्यान का तीसरा भेद 'सुहुम किरिए अनियट्ठी' सूक्ष्मकायिकीक्रिया-उच्छवासादि के रूप में होती है। इससे ज्ञात होता है कि लेश्या और ध्यान का गहरा संबंध है।

ध्यान से कषाय उपशमित होती हैं। योगों की चंचलता में कमी आती है। ऐसे क्षणों में पूर्व गृहीत अप्रशस्त पुद्गलों का प्रशस्त होना स्वाभाविक है। अत: यह भी सही है कि

ध्यान के समय भावधारा पवित्र होने से लेश्याओं का परिणमन भी शुभ होता है। धर्मध्यान एवं शुक्लध्यान के साथ लेश्या की शुभता का उल्लेख उत्तरवर्ती योग साहित्य में सविस्तार उपलब्ध होता है।

लेश्या के अध्ययन की प्रासंगिकता

बीसवीं सदी के मनुष्य को भौतिकता की ऊंचाइयां अवश्य दी, पर साथ-साथ असहनीय तनावों की भीड़ ने भी उसे घेर लिया। फलतः हिंसा, तनाव, कुण्ठा, निराशा, तृष्णा, लोभ और असन्तुलन सर्वत्र दृष्टिगत होता है, जिसके मूल में मनुज-मन की मूर्च्छा काम कर रही होती है। इस मूर्च्छा को तोड़ने के लिए मनोवैज्ञानिक चिकित्सा के साथ-साथ यदि लेश्या चिकित्सा की विधि जोड़ दी जाए तो कई आशाजनक परिणाम सामने आ सकते हैं। जैन-दर्शन को लेश्या का केवल सैद्धान्तिक विश्लेषण अभीष्ट नहीं है, वह उसके प्रायोगिक पक्ष पर भी उतना ही बल देता है। और यह उभय पक्ष ही उसकी परिपूर्णता का संसूचक है।

लेश्या का अध्ययन जीवन मूल्यों का अध्ययन है। जीवन के साथ जुड़े वैचारिक एवं मानसिक पर्यावरण को शुद्ध एवं स्वस्थ रखने के लिए मनुष्य की जीवन शैली को बदलना बहुत जरूरी है। विधायक चिन्तन और विधायक व्यवहार के बिना मनुष्य प्राणवान तथा चरित्रनिष्ठ नहीं हो सकता। अशुभ से शुभ की ओर प्रस्थान कर व्यक्ति का शुभलेश्या में जीना न सिर्फ अपने लिए बल्कि परिवार, समाज एवं देश के लिए भी एक सार्थक उपलब्धि है। •

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

मूल ग्रन्थ

1. अध्यात्म तरंगिणी : सोमदेवाचार्य, अहिंसा मन्दिर प्रकाशन, दिल्ली
2. अष्टसहस्री : निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, 1915
3. अंगसुत्ताणि : भाग 1-3, सम्पादक - आचार्य महाप्रज्ञ जैन विश्व भारती, लाडनूं (राजस्थान), 1974
4. अंगुत्तरनिकाय : भाग 1-3, अनुवादक – आनन्द कौसल्यायन, महाबोधि सभा, कलकत्ता, 1957, 1963
5. अभिधान चिन्तामणि : हेमचन्द्राचार्य, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1964
6. आयारो : मूलपाठ, अनुवाद तथा टिप्पण, सम्पादक एवं विवेचक – (मुनि नथमल) आचार्य महाप्रज्ञ, जैन विश्व भारती, लाडनूं (राजस्थान), 1974
7. आवश्यक निर्युक्ति : आचार्य भद्रबाहु, हरिभद्रीय वृत्ति सहित, आगमोदय समिति, बम्बई, 1916
8. आवश्यक निर्युक्ति : आचार्य भद्रबाहु, मलयगिरि वृत्ति सहित, आगमोदय समिति, बम्बई, 1928
9. इष्टोपदेश : स्वामी पूज्यपाद, श्रीपरमश्रुत प्रभावक मण्डल, श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, अगास, 1986
10. उत्तरज्झयणाणि : भाग 1-2, अनुवादक एवं सम्पादक – (मुनि नथमल) आचार्य महाप्रज्ञ, जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, कलकत्ता, 1967
11. उवंगसुत्ताणि : भाग-4, खण्ड 1-2, सम्पादक, आचार्य महाप्रज्ञ, जैन विश्व भारती, लाडनूं (राजस्थान), 1987, 1989
12. ऋषिभाषित इसिभासियाइं : अनुवादक एवं सम्पादक – मुनि मनोहर, सुधर्मा ज्ञान मन्दिर, बम्बई, 1963
13. कार्तिकेयानुप्रेक्षा : आचार्य शुभचन्द्र, रामचन्द्र, जैन शास्त्रमाला, अगास, 1960
14. कूर्मपुराण : सम्पादक-आनन्द स्वरूप गुप्त, सर्व भारतीय काशिराजन्यास दुर्ग रामनगर, वाराणसी, 1972

15. गोम्मटसार : (जीवकाण्ड-कर्मकाण्ड), नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती, श्री परमश्रुत प्रभावक मण्डल, श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, अगास (गुजरात), 1984, 1986
16. ज्ञानार्णव : शुभचन्द्राचार्य, श्री परमश्रुत प्रभावक मण्डल, श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, अगास, 1980
17. झाणज्झयणं : जिनभद्रगणि, हरिभद्रीयवृत्ति, ओरियन्टल रिसर्च ट्रस्ट, मद्रास, 1971
18. ठाणं : हिन्दी अनुवाद सहित, संपादक एवं विवेचक – आचार्य महाप्रज्ञ जैन विश्व भारती, लाडनूं (राजस्थान), 1976
19. तत्वार्थसूत्र : उमास्वाति, सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा
20. तत्वार्थसूत्र सर्वार्थसिद्धि टीका : पूज्यपाद, शोलापुर, 1918
21. तत्वार्थसूत्र राजवार्तिक टीका : अकलंक, कलकत्ता, 1929
22. तत्वानुशासन : रामसेनाचार्य, माणिकचन्द्र, दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला समिति, बम्बई
23. त्रिषष्टिश्लाका पुरुषचरित्रम् : आचार्य हेमचन्द्र, संपादक – एच. एम. जानसन, ओरियण्टल इन्स्टीट्यूट, पूना, 1931
24. दसवेआलियं : संपादक एवं विवेचक (मुनि नथमल) आचार्य महाप्रज्ञ, जैन विश्व भारती, लाडनूं (राज.), 1974
25. दीघनिकाय अट्ठकथा : सुमंगलविलासिनी, खण्ड 1-3, आचार्य बुद्धघोष, पालि टेक्स्ट सोसायटी, लन्दन, 1886-1932
26. दीघनिकायपालि : त्रिपिटक, सम्पादक-भिक्षु जगदीश कास्यप, पालि प्रकाशन मण्डल, नालन्दा, (बिहार), 1958
27. नन्दी चूर्णि : जिनदास महत्तर, रूपचन्द्र नवलमल पाडी, सिरोही, 1931
28. नन्दी सूत्र : सम्पादक – सुबोध मुनि, सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा, 1958
29. नवसुत्ताणि : भाग-5, सम्पादक-आचार्य महाप्रज्ञ, जैन विश्व भारती, लाडनूं (राजस्थान), 1987
30. पंचास्तिकाय : कुन्दकुन्दाचार्य, श्री परमश्रुत प्रभावक मण्डल, श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, अगास (गुजरात), 1986
31. परमात्मप्रकाश, योगसार : योगीन्दुदेव, श्री परमश्रुत प्रभावक मण्डल, श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, अगास (गुजरात), 1988
32. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय : अमृतचन्द्राचार्य श्री परमश्रुत प्रभावक मण्डल, श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, अगास (गुजरात), 1986
33. प्रवचनसार : कुन्दकुन्दाचार्य, श्री परमश्रुत प्रभावक मण्डल, श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, अगास (गुजरात), 1984
34. प्रशमरतिप्रकरण : उमास्वाति, संपादक – पं. राजकुमार साहित्याचार्य, श्रीपरमश्रुत प्रभावक मण्डल, श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, अगास, 1950
35. प्रज्ञापना सूत्र : वृत्ति सहित, श्यामाचार्य, वृत्ति मलयगिरि, आगमोदय समिति, मेसाणा, 1918

36. पातंजल योगदर्शन : महर्षि पतंजलि, गीता प्रेस, गोरखपुर, तृतीय संस्करण, 1956
37. वृहद्द्रव्यसंग्रह : नेमिचन्द्राचार्य, श्री परमश्रुत प्रभावक मण्डल, श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, अगास, 1988
38. भगवती आराधना : शिवकोट्याचार्य, सखाराम नेमिचन्द्र, दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, शोलापुर, 1935
39. महापुराण : आचार्य जिनसेन, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, 1944
40. महाभारत : महर्षि वेदव्यास, गीता प्रेस, गोरखपुर
41. मूलाराधना : विजयोदया टीका सहित, शिवार्थ टी, अपराजित सूरि, शोलापुर, 1935
42. योगशास्त्र : आचार्य हेमचन्द्र, जैन धर्म प्रसारक सभा, भावनगर, 1926
43. विशेषावश्यक भाष्य : भाग 1, 2, दिव्य-दर्शन ट्रस्ट, बम्बई, 1982
44. पट्खण्डागम : आचार्य वीरसेन, संपादक-हीरालाल जैन, सेठ सिताबराय लखमीचन्द्र, अमरावती (बरार), 1941-57
45. सभाष्य तत्वार्थधिगम सूत्र : उमास्वाति श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, अगास, (गुजरात), 1932
46. समयसार : कुन्दकुन्दाचार्य, श्री परमश्रुत प्रभावक मण्डल, श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, अगास (गुजरात), 1982
47. समवाओ : विवेचक एवं संपादक - आचार्य महाप्रज्ञ, जैन विश्व भारती, लाडनूं (राजस्थान), 1984
48. सांख्यकारिका : ईश्वरकृष्ण, सांख्य तत्व कौमुदी, वाचस्पति मिश्र, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, 1940
49. सुत्तनिपात : भिक्षु धर्मरत्न, महाबोधिसभा, सारनाथ, वाराणसी, 1957
50. सूयगडो : भाग 1-2, सम्पादक एवं विवेचक - आचार्य महाप्रज्ञ, जैन विश्व भारती, लाडनूं (राजस्थान), 1984, 1986

सन्दर्भ ग्रन्थ

51. अमरमुनि, उपाध्याय : चिन्तन की मनोभूमि, सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा, 1970
52. आचार्य तुलसी (गणाधिपति) : जैन सिद्धान्त दीपिका, आदर्श साहित्य संघ प्रकाशन, चूरू (राजस्थान), 1982
53. आचार्य तुलसी (गणाधिपति) : प्रेक्षा अनुप्रेक्षा, आदर्श साहित्य संघ प्रकाशन, चूरू (राजस्थान), 1983
54. आचार्य तुलसी (गणाधिपति) : मनोनुशासनम्, आदर्श साहित्य संघ, चूरू, 1976
55. आचार्य भिक्षु : नव पदार्थ, अनुवादक-श्रीचन्द रामपुरिया, जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, कलकत्ता, 1961
56. उपाध्याय, भवानीशंकर : कार्ल गुस्तावयुंग : विश्लेषणात्मक अध्ययन, हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर
57. कुजनेत्सोव, ब्ला. इ. : प्रकाशन, अनुवाद-देवेन्द्र वर्मा, मीर प्रकाशन गृह, जयपुर, 1989
58. खन्ना, नवीन : रंग और आप, अनुपम बुक्स, दिल्ली, 1986

59. चोरड़िया श्रीचन्द : मिथ्यात्वी का आध्यात्मिक विकास, जैन दर्शन समिति, कलकत्ता, 1977
60. जयाचार्य : झीणी चरचा, सम्पादक – आचार्य महाप्रज्ञ, जैन विश्व भारती, लाडनूं (राजस्थान), 1985
61. जायसवाल, सीताराम : व्यक्तित्व सिद्धान्त, बिहार हिन्दी ग्रंथ अकादमी, पटना, 1981
62. जैन, सागरमल : जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन (भाग 1, 2), राजस्थान प्राकृत भारती संस्थान, जयपुर, 1982
63. देवेन्द्रसूरि : कर्मग्रन्थ (भाग 1-6) व्याख्याकार – मुनि मिश्रीमल, श्री मरुधर केसरी साहित्य प्रकाशन समिति, ब्यावर, 1975
64. नगराज मुनि : आगम और त्रिपिटक : एक अनुशीलन (खण्ड 1-2), अर्हत् प्रकाशन, जैन श्वेताम्बर तेरापंथी समाज, कलकत्ता, 1982
65. आचार्य महाप्रज्ञ : उत्तराध्ययन (संपादित एवं विवेचित) जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, कलकत्ता, 1966
66. आचार्य महाप्रज्ञ : उत्तराध्ययन : एक समीक्षात्मक अध्ययन (संपादित एवं विवेचित) जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, कलकत्ता, 1968
67. आचार्य महाप्रज्ञ : जैन दर्शन : मनन और मीमांसा - प्रकाशन : आदर्श साहित्य संघ, चूरू
68. आचार्य महाप्रज्ञ : जैन योग, आदर्श साहित्य संघ, चूरू (राजस्थान), 1980
69. आचार्य महाप्रज्ञ : आभामण्डल, आदर्श साहित्य संघ, (राजस्थान) तृतीय संस्करण, 1981
70. आचार्य महाप्रज्ञ : सम्बोधि, जैन विश्व भारती, लाडनूं (राजस्थान), तृतीय संस्करण, 1981
71. आचार्य महाप्रज्ञ : मन का कायाकल्प, जैन विश्व भारती, लाडनूं (राजस्थान), 1982
72. आचार्य महाप्रज्ञ : अप्पाणं सरणं गच्छामि, आदर्श साहित्य संघ, चूरू (राजस्थान), 1983
73. आचार्य महाप्रज्ञ : मन के जीते जीत, जैन विश्व भारती, लाडनूं (राजस्थान), 1984
74. आचार्य महाप्रज्ञ : चेतना का ऊर्ध्वारोहण, जैन विश्व भारती, लाडनूं (राजस्थान), 1984
75. आचार्य महाप्रज्ञ : उत्तरदायी कौन ? जैन विश्व भारती, लाडनूं (राजस्थान), 1984
76. आचार्य महाप्रज्ञ : अवचेतन मन से सम्पर्क, जैन विश्व भारती, लाडनूं (राजस्थान), 1984
77. आचार्य महाप्रज्ञ : महावीर की साधना का रहस्य, जैन विश्व भारती, लाडनूं (राजस्थान), 1985
78. आचार्य महाप्रज्ञ : कर्मवाद, आदर्श साहित्य संघ, चूरू (राजस्थान), 1985

79. आचार्य महाप्रज्ञ : प्रेक्षाध्यान : लेश्याध्यान, जैन विश्व भारती, लाडनूं (राजस्थान), 1986

80. आचार्य महाप्रज्ञ : अमूर्तचिन्तन : जैन विश्व भारती, लाडनूं (राजस्थान), 1988

81. आचार्य महाप्रज्ञ : अपना दर्पण, अपना बिम्ब, जैन विश्व भारती, लाडनूं (राजस्थान), 1991

82. आचार्य महाप्रज्ञ : चित्त और मन, जैन विश्व भारती, लाडनूं (राजस्थान), 1992

83. साध्वी राजीमती : योग की प्रथम किरण,

84. साध्वी राजीमती : प्राचीन जैन साधना पद्धति

85. वर्मा, रामपालसिंह : नैदानिक मनोविज्ञान, विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा, 1982

86. शर्मा, रामनाथ : व्यक्तित्व, केदारनाथ रामनाथ, मेरठ, 1976

87. सुखलाल, पंडित : दर्शन और चिन्तन, पं. सुखलाल सन्मान समिति, अहमदाबाद, 1957

88. Amber, R.B. : Colour Therapy Healing with colour, ed, by A.M. Babey-Brooke, Firma KLM Pvt. Ltd., Calcutta, 1978

89. Bagchi, Probodh Chandra : Astro Therapy, Firma KLM Pvt, Ltd., Calcutta, 1981

90. Bailey, Alive A. : Esoteric Healing, A Creatise on the Seven Rays, Vol. IV, Lucis Publishing Company, New York, 1961

91. Basham, A.L. : History and doctrines of Ajivakas.

92. Besant, Annie and Leadbeater, C.W. : Thought-Forms, The Theosophical Publishing House, Adyar, Madras, 1948

93. Bhattacharyya, Benoytosh : The Science of Cosmic Ray Therapy or Teletherapy Theory and Practice, revised and enlarged by A.K. Bhattacharyya and D.H. Ramchandran, Firma KLM, Calcutta, 1976

94. Bhattacharyya, Benoytosh : Gem Therapy, Revised and enlarged by A.K. Bhattacharyya, Firma KLM Pvt. Ltd., Calcutta, 1981

95. Birren, Faber : Colour & Human Response, Van Nostrand Reinhold Company, INC, New York, 1978

96. Birren, Faber : Colour Psychology and Colour Therapy, The Citadal press, Lyle Stuart, INC, New Jersey, 1961

97. Bourne/Ekstrand : Psychology Its principles and Meanings, University of Colorado, New York, 3rd edition, 1979.

98. Cayce, Edgar : Auras : An Essay of the Meaning of Colours, A.R.E. Press, Virginia, 1987

99. Clark, Linda : The Ancient Art of Colour Therapy, Gulf & Western Corporation, New York, 1978

100. Dunne, Desmond : Yoga Made Easy, Souvenir Press Ltd., London, 1967

101. Gass William : A Philosophical Enquiry of Being Blue, David R. Godine, Boston.

102. Gimbel, Theo : Healing Through Colour, Safforn Walden, The C. W. Daniel Company Ltd., England, 1980

103. Hilgard, Ernest R, Atkinson Rital Atkinson Richard C. : Introduction to Psychology, 7th Edition, Harcourt Brace Jovanovich, INC, 1953

104. Hunt Ronald T. : The Seven Keys to Colour Healing, Daniel Co. Ltd. London, 1971

105. James, William : The Principles of Psychology, William Benton, Britannica Great books, Series No. 53, 1977

106. Jones, Alex : Seven Mansions of Colour, Devorss & Company, Manina del Rey, CA, 1984

107. Kalghataki, T.G. : Some problems in Jain Psychology, Karnataka University, Dharwada, 1961

108. Kapp, M.W. : Glands - our Invisible Guardians, Rosicrucian Library, Vol. XVIII, Supreme Grand Lodge of Amorc, SanJose, California.

109. Kargera, Audrey : Colour & Personality, Samuel Weiser, INC, York Beach, Maine, 1986

110. Khushalani, D.N., I.J. Gupta : Theory and Practice of Cosmic Ray (Healing), D.N. Khushalani, Calcutta, 1983

111. Kilner, Water J. : The Human Aura, Citadel Press Lyle Stuart INC, New Jersey, 1965

112. Leadbeater, C.W. : Man, Visible and invisible, Theosophical Publishing Society, London, 1907

113. Mahendra Kumar Muni : Science of Living, Jain Vishva Bharati, Ladnun (Rajasthan), 1991

114. Max Muller, F. edited : The Sacred Books of the East, Motilal Banarsidass Publishers Pvt. Ltd., 1989.

मुमुक्षु डॉ. शान्ता जैन

जन्म :
30 अगस्त, 1953, गंगाशहर (राजस्थान)

शिक्षा :
एम. ए. (संस्कृत)
पी-एच. डी. (विषय – लेश्या का मनोवैज्ञानिक अध्ययन)

सम्पादन :
परमार्थ, (पारमार्थिक शिक्षण संस्था का परिचय ग्रन्थ)

लेखन :
सतयुग की यादें (जीवनी)
अनाम नमन (काव्य)

विभिन्न विषयों पर पत्र-पत्रिकाओं में अनेक लेख प्रकाशित।

राष्ट्रीय स्तर की अनेक निबन्ध प्रतियोगिताओं में प्रथम पुरस्कार से सम्मानित।

सम्प्रति :
सम्पादक – जैन भारती (मासिक पत्रिका)

पता :
जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा,
जैन विश्व भारती, परिसर
लाडनूं – 341 306 (राजस्थान)